॥ श्रीः ॥

विद्याभवन राष्ट्रभाषा ग्रन्थमाला

वेदार्थ-चन्द्रिका

लेखक

डॉ० मुंशीराम शर्मा

एम० ए०, पीएच० डी०, डी० लिट्०

संचालक

वैदिक शोध संस्थान, डी. ए. वी. कालेज

आर्यनगर, कानपुर

चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-१

१९६७

प्रकाशक : चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी
मुद्रक : विद्याविलास प्रेस, वाराणसी
संस्करण : प्रथम, वि० सं० २०२४
मूल्य : ६-००

Post Box No. 69,
Chowk, Varanasi-1 (India)
1967
Phone : 3076

प्रधान कार्यालय:—
चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस
गोपाल मन्दिर लेन,
पो० आ० चौखम्बा, पोस्ट बाक्स नं० ८, वाराणसी-१

THE
VIDYABHAWAN RASHTRABHASHA GRANTHAMALA
112

VEDĀRTHA-CHANDRIKĀ

By
Dr. MUNSHIRĀMA SHARMĀ,
M. A., Ph. D., D. Litt.
Director, Vedic Research Institute,
D. A. V. College, Arya Nagar, Kanpur.

THE
CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
VARANASI-1
1967

First Edition
Price Rs. 6-00

Also can be had of
THE CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES OFFICE
Publishers & Antiquarian Book-Sellers
P. O. Chowkhamba, Post Box 8, Varanasi-1 (India)
Phone : 3145

प्राक्कथन

मनु अपनी स्मृति में ब्राह्मी वृत्ति के सम्पादनार्थ स्वाध्याय को साधनों में प्रमुखता देते हैं। स्वाध्याय 'स्व' का अध्ययन है। 'पर' का अध्ययन करने में वृत्ति बहिर्मुखी हो जाती है। 'स्व' के अध्ययन में वह अन्तर्मुखी बनती है। जिसने अन्तर्मुख होकर अपना अध्ययन नहीं किया, वह 'पर' को समझने में भी असमर्थ रहेगा। जो बाहर को आभ्यन्तर का ही प्रकटन मानते हैं, उनके लिये तो यह सिद्धान्त-वाक्य है।

स्वाध्याय से वेद और प्रवचन से ब्राह्मण ग्रन्थों का अर्थ अभिप्रेत रहा है। परम्परा में यही मान्यता प्रख्यात रही है। मनु के शब्दों में जो ब्राह्मण वेद से व्यतिरिक्त शास्त्र में श्रम करता है, वेद का अध्ययन नहीं करता, वह इस जीवन में ही कुलसहित शूद्रत्व को प्राप्त हो जाता है। वेद का अध्ययन अपना अध्ययन है। अन्य शास्त्रों में 'पर' का अध्ययन है। जो शास्त्र या वाङ्मय वेद का प्रवचन करता है, वह मानों स्वाध्याय=स्व के अध्ययन—का ही विस्तार करता है। वेद के साथ वह भी माह्य है, पर जो स्थान स्वाध्याय में वेद का है, वह अन्य किसी का भी नहीं।

स्वाध्याय में वेद को इतना अग्रतम स्थान क्यों मिला है? इसलिये कि वह निखिल वाङ्मय का मूल है, आदि स्रोत है। वह अदिति है, अखण्ड है, तो अन्य ग्रन्थ खण्ड हैं। वेद में समस्त सत्य विद्यायें हैं, तो अन्यत्र एक-एक विद्या या उसका भी एक-एक अङ्ग है। मुण्डक उपनिषद ने वेदों को अपरा विद्या कहा है, उसका तात्पर्य याज्ञिक (*theoretical*) विद्या से है। अनुभवी साधक जानते हैं, कि परा विद्या के सूत्र भी वेदों

में विद्यमान हैं। हाँ, उसका क्रियात्मक रूप (*practical side*) तो साधना-गम्य ही है। इसी हेतु मुंडक उपनिषद 'परा यया तदक्षरमधिगम्यते' शब्दों द्वारा पराविद्या के महत्त्व का प्रतिपादन कर रही है। इससे वेद की हीनता अभिव्यक्त नहीं होती।

वेद आर्यों का प्राण है। आर्य उस मानव की संज्ञा है जो कर्तव्य के निर्वाह में दत्तचित्त रहता है, जो सज्जन है, जो यज्ञ-परायण है और धर्म के उन्नयन में संलग्न रहता है। वेद में अनेक बार सवनशील आर्य की प्रशंसा की गई है। उरु ज्योति का वही एकमात्र अधिकारी है। तृतीय सद, स्थान, पद, धाम या स्तर में वही पहुँच सकता है, दस्यु नहीं। वेद आर्य के लिये प्रकाश-प्रदाता हैं। उनका रहस्य आर्य पुरुष पर ही प्रकट होता है, क्योंकि आर्य ही तृतीय स्तर में पहुँचकर परम ज्योति के साथ सधस्थ हो पाता है। जो उसके साथ एक हो गया, उसे उसका ज्ञान भी सुलभ हो गया।

वेद के स्वाध्यायी पाण्डित्य का तिरस्कार नहीं करते, पर ज्योति से उसका अवर पद अवश्य स्वीकार करते हैं। पाण्डित्य सहायक है, अर्थ की ऊहा उसके द्वारा होती ही है, पर साक्षात्कार तो प्रकाश में ही संभव है। वैदग्ध्य श्रुत एवं अनुमान का सहारा लेकर वस्तु के इधर-उधर के कोने दिखा देगा। वस्तु के सभी पार्श्वों का सम्यक् दर्शन तो प्रज्ञा ही करा सकती है। प्रज्ञा ही प्रकाश-भूमि है। उसीके सान्निध्य में दर्शन होता है। उसके पूर्व नहीं। मंत्र-दर्शन, अर्थ-दर्शन या देव-दर्शन करना है, तो परम ज्योति के आशीर्वादों का आश्रय प्राप्त करना होगा। उसकी शरण ग्रहण करने के अतिरिक्त सिद्धि-प्राप्ति का अन्य कोई उपाय नहीं है।

वेदार्थ चन्द्रिका में पचीस निबन्ध हैं। इनमें पुरुषसूक्त सबसे बड़ा है। कतिपय मंत्रों के अर्थों में पाठकों को नूतन दिशाओं के संकेत उपलब्ध होंगे। मंत्रों के जिन अर्थों की ओर उनकी दृष्टि संभवतः इसके पूर्व न

गई हो अथवा आभास तक न हुआ हो, उन्हें वे ध्यान से अवलोकन करें। शब्दों के नैरुक्तिक अर्थ उन्हें प्रचलित अर्थों से हटे हुए प्रतीत होंगे। ऐसा करने में वर्तमान वैज्ञानिक अन्वेषणों की सत्यता यदि वेदार्थ को मान्यता प्रदान करे, तो प्रयास की समीचीनता स्वतः सिद्ध हो जायगी।

मन्त्रों का अर्थ करने में श्रद्धा ने मेरा साथ नहीं छोड़ा है। जैसे ही उसके चरणों की ओर बढ़ा हूँ, वैसे ही मुझे मार्गदर्शन मिलता गया है। यह परम प्रभु का प्रसाद ही है कि मेरे जैसा स्वल्पशक्ति अबोध इस क्षेत्र में कुछ लिख सका। पाठकों को इन निबन्धों में यदि कुछ प्राप्त हो सके, तो उसीके अनुग्रह का फल समझकर वे उसी की ओर बढ़ें, यही प्रार्थना है।

आर्यनगर, कानपुर
व्यासपूर्णिमा, २०२४

मुंशीराम शर्मा

विषय-सूची



वेदार्थ-चन्द्रिका

प्रेमी पाठकों से

परमसूर्य

ज्ञान-सूर्य की निर्मल ज्योतिर्मय किरणो !

आपने अनेक लोकों के दर्शन किये हैं। अन्तरिक्ष में बहती हुई प्रकाश-धाराओं तथा ध्वनि-लहरों की गति को देखा है। आपने उन कक्षा-वृत्तों को भी देखा है, जिनमें सूर्य, चंद्रादि भ्रमण करते हैं। यह पृथ्वी अन्तः द्रवित किन्तु ऊपर से कठोर रूप को धारण किये नाना प्राणियों की निवासस्थली बनी है। इसके अन्तः-बाह्य रूपों की भी आपने परीक्षा की है। प्राणियों की प्रवृत्तियों को भी परखा है। आपने पक्षियों से तो उन्हें पालतू बनाकर बातें की ही हैं, उनके व्योमविहारी, दूर-दूर देशों की जानकारी रखने वाले, आसन्न संकट को समझकर शीघ्र पलायन करने वाले, सुन्दर गृह-निर्माता शिल्पी, परोपजीवी, दूरदर्शी आदि रूपों की भी निकट से पहचान की है। इस भूमि के वृक्ष-लता-वनस्पति-औषधि आदि के हृदय की धड़कन को भी आपने सुना है। आरण्यक पशुओं को ग्राम्य बनाकर अपने लिए उनके उपयोगी अंशों का प्रयोग किया है। पृथ्वी की उर्वरा शक्ति को पहिचानकर विविध प्रकार के धन-धान्य उत्पन्न किये है। अरण्यसम्पत्ति भी आपकी तीव्र दृष्टि से ओझल न रह सकी। वन-विभाग, खनिज विभाग, भूगर्भ विभाग आदि की स्थापना द्वारा आपने दिग्दिगन्त-गामिनी अपनी कुशाल बुद्धि एवं दर्शन शक्ति का परिचय दिया है। उद्दाम निर्झरों, उत्पाती नदों, तथा प्रशान्त झीलों एवं समुद्रों को भी आपने वश में किया है। दावानल तो देखी ही थी, वड़वानल भी आपकी दृष्टि-परिधि में आई और जठरानल जिसका प्रतिदिन हम अनुभव करते रहते हैं, आपके मस्तिष्क द्वारा ही विश्लेषण पा सकी। आपने इन सबको देखा और फिर अपने को भी देखा। यह शरीर क्या है? इसके शिर, शिर की आँखें, कान, नाक, मुख,

जिह्वा, विवर-पार्श्व, श्वासनलिका, भोजननलिका, काक, कण्ठ, तालु, मूर्धा, दन्त, ओष्ठ, हनु; इसके वक्षस्थल, वक्षस्थल में फुफ्फुस, हृदय, पसलियाँ, वायु-संचार, स्पन्दन, मलापहरण; इसके उदर, उदर के आमाशय, यकृत् , प्लीहा, नाड़ीजाल, नाभि, रस, मांस, मेद, अस्थि, स्कन्ध, स्कन्ध से शाखाओं की भांति फूटती भुजायें, पुट्ठे,कुहनी, पोंचा, करतल, करपृष्ठ, हथेली, अँगुली, पोर, नख, कटि, कटि से नीचे ऊरू, जंघा, घुटने, पिंडली, तिली, ऐंड़ी, पैर, अँगूठा, अँगुली, नख, शरीर के स्नायुजाल, ज्ञान शिरा, संवेदन नाड़ी, कर्मतन्तु, रक्तवाहिनी प्रणाली, प्राण-प्रक्रिया, जीवन-भरण, विजातीय-निष्कासन, सजातीय-संचरण, समानी-करण, व्यासिकरण, उन्नयन, ग्रहण, उत्सर्जन, प्रजनन आदि क्या हैं? आपकी अन्तर्भेदी चक्षुशक्ति कहां-कहां नहीं पहुँची? आपने इन सब का ज्ञानार्जन किया। फिर ज्ञानशक्ति भी आपसे अछूती न रही। ज्ञान क्या है? प्रमाण, प्रमेय तथा प्रमाता, शब्द-अनुमान-प्रत्यक्ष, प्रत्यय, संज्ञान, साक्षात्कार, भाव-क्रिया-वेदना, जागरण-स्वप्न-सुषुप्ति—सबकी ऊहापोह करना, चिन्तन, मनन, स्मरण, अहंता और प्रकाश की उपलब्धि—सब आपकी दर्शन-शक्ति का विषय बन गये। पर यह सब जानकर भी आप यही कहते रहे—अभी बहुत कुछ जानना शेष है। यह तो सागर के तटवर्ती प्रस्तर, शंख, सीप तथा घोंघे हैं। ज्ञानसागर के अतल-जल में जो रत्न भरे पड़े हैं, वे अभी कहाँ निकल पाये? उनका दर्शन अभी कहाँ हुआ? अपने से भी बढ़कर किसी मरजीवा, गोताखोर, डुबकी लगाने वाले की आप प्रतीक्षा करते रहे हैं। पर वह आप में से ही निकलेगा, इन ज्योतिर्मय किरणों का ही अंश होगा और आपका ही पूरक कहा जायगा।

आपने देखा, लिखा और दूसरे को बताया। संवाद और प्रवचन चले। एक परम्परा पड़ी। प्रभूत ज्ञान-राशि एकत्र हुई। यह सब आपके दर्शन और वाणी का प्रसाद था। जब काल के कराल गाल में इस राशि का प्रभूतांश चला गया, भस्म हो गया, तो ज्ञान के एक तन्तु को दूसरे तन्तु से जोड़ने वाले तथा उसका विस्तार करने वाले ज्ञानी, दार्शनिक, वैज्ञानिक, ऐतिहासिक भी उत्पन्न

होते रहे। इस ज्ञान का एकान्त विनाश कभी नहीं हुआ। परम्परा की शृंखला टूट कर भी जुड़ती रही, वियुक्त होकर भी संयुक्त होती रही। आखिर ज्ञान भागेगा कहाँ? यही तो ब्रह्माण्ड है, यही तो प्राणि-जगत है, यही तो मानव जाति है और इन सब में व्याप्त एक संयोजक सूत्र है। ज्ञान इन्हीं में तो समाया हुआ है। ज्ञान भागेगा भी तो एकाग्रचित्त होते ही पुनः पास आ जायगा। चित्त व्यष्टिगत तथा समष्टिगत दोनों रूपों में वासनाओं का, संस्कारों का भाण्डार है। एक चित्त का, एक जन्म का बोध प्रतिबोध बनता रहता है और सूक्ष्म रूप में स्थिर भी रहता है। रम्य दृश्यों, मधुर शब्दों, सुरस स्वादों की अनुभूति करते ही अबोधपूर्व प्राचीन अनुभूति जाग्रत होती रहती है। प्राचीन परिभाषायें अभिनव रूप में व्यवहार भी होती हैं। प्राक्तन ज्ञान नवीन रूप में अभिव्यक्त होता है। पुरातन भावनायें नव्यांशुक धारण करती हैं। पर प्राकृतिक और चेतन जीवन की सामग्री में परिवर्तन नहीं होता। ज्ञान तथा ज्ञेय वही रहते हैं। वेश बदलते रहते हैं। कभी ब्रह्माण्ड का अध्ययन प्रधान रहता है, कभी चेतना और प्राणी जगत का और कभी संयोजक सूत्र का। कभी युग्म-बोध की भी विशिष्टता परिलक्षित होने लगती है। मेरा ब्रह्माण्ड से क्या सम्बन्ध है? ब्रह्माण्ड का संयोजक सूत्र से क्या सबंध है? मेरा अन्तर्यामी से क्या सबंध है? ऐसा युग्म-बोध भी मीमांसा का विषय बनता रहा है जो युग-युग की परिस्थिति, बोधवृत्ति तथा आवश्यकता का परिणाम होता है। एक वृत्ति में भी कई अन्तः वृत्तियाँ या अनुवृत्तियाँ प्रकट होती रही हैं। अद्वैत-द्वैत-त्रैत वादों में ये स्पष्टतया झलक रही हैं। अद्वैत में ही शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि अन्तः वृत्तियाँ तथा कनककुण्डल, मृगमरीचिका, रज्जुसर्प आदि की अनुवृत्तियाँ हैं। एक अन्दर ही अन्दर भेद-दर्शन कराती हैं, दूसरी बाहर से उनकी व्याख्या या अनुवर्तन अन्तर के साथ करती हैं। केले के समान यहाँ पात-पात में पात हैं। मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना। यहाँ वाद-वाद में वाद तथा बात-बात में बात है। प्रपञ्च के पञ्चीकरण तथा पञ्चीकरण के बहुत्व और नानात्व की क्या कोई मिति है? इस बहुधा, सहस्रधा, लक्षधा, कोटिधा, असंख्यधा, भेद का पार समग्रतः

आजतक कोई भी प्राप्त नहीं कर सका। पर, तुम कहते हो, इस बहुधा का एक बीज है, एक मूल है, एक स्रोत है जिसे जान लेने से सब कुछ जान लिया जाता है। मूल को पकड़ने से सब पकड़ में आ जाता है। एक के ज्ञान से सब का ज्ञान हो जाता है।

हम सब पर जन्म-जन्मान्तरों से, प्राक्तन स्थितियों से संस्कार, पड़ते रहे हैं। ये बड़े गहरे हैं और बड़े विस्तृत हैं। ये संस्कार ज्ञानार्जन में भी सहायता देते हैं। इनके कारण अभिक्रम का विनाश नहीं हो पाता। प्रत्यवाय आते हैं, पर संस्कारों की प्रबलता के कारण नष्ट हो जाते हैं। विज्ञानवादियों का कथन है कि हम निरंतर-उन्नति कर रहे हैं। विगत जन्म से यह जन्म अच्छा है और कल से आज अच्छा है, श्रेष्ठ है। नीतिवादी कहते हैं, कर्म का स्वातन्त्र्य आपके सिद्धान्त को झुठलाता है। यदि हम निरन्तर उन्नति ही करते गये होते, तो आज मानव-मानव में इतना भेद दिखाई न देता। कितने स्तरों पर हम आज खड़े हैं? क्या यह निरन्तर उन्नति का द्योतक है। कर्म का स्वातंत्र्य मानव को उच्चावच स्थितियों में डालता रहता है। एक दिन में ही हम कभी बहुत ऊँचे उठ जाते हैं और कभी बहुत नीचे गिर जाते हैं। इसी प्रकार एक जीवन में सदाचारी व्यक्ति कुसंगति के प्रभाव से दुराचारी बनता देखा गया है और दुराचारी सत्संग के प्रभाव से सदाचारी में परिणत भी होता रहा है। अनेक जन्मों की कथा यदि ज्ञात हो सके तो तथ्य और भी अधिक स्पष्ट हो सकता है। पर राशि का एक दाना भी राशि की गाथा गा सकता है, तुलसी का एक बीज भी तुलसी की संपूर्ण कहानी को बता सकता है। इसी प्रकार जीवन का एक खण्ड भी जीवन के सम्पूर्ण इतिहास पर प्रकाश डाल सकता है। जब एक दिन में ही हम ऊँची-नीची स्थितियों में जा सकते हैं, एक जीवन में ही राजा रंक और रंक राजा बन सकता है, तो जीवन की अनन्त शृङ्खलाओं में हम ऊँचे ही उठते रहे हैं, यह सिद्ध नहीं होता। हां, उत्थान हमारे स्वभाव में है। इसीलिए नीचे गिरकर भी हमारे उत्थान की संभावना बनी रहती है। पर यह भी निर्विवाद सत्य है कि संस्कारों का हमारे जीवन में बड़ा महत्व है। सत्संस्कार

उठाने वाले हैं और कुसंस्कार गिराने वाले। हमारा कर्मस्वातंत्र्य यदि कु के तिरस्कार और सु के सत्कार का संस्कार बनाता रहे, तो हम उठते जायंगे। पर कर्म-स्वातंत्र्य बड़ा विचित्र है। कभी-कभी सु की ओर प्रयाण करते हुए भी हम कु में जा पड़ते हैं। इसका कारण अज्ञान है। अतः कर्म-स्वातंत्र्य ज्ञान के सहयोग की अपेक्षा रखता है। ज्ञान और कर्म मिल कर मानव का उत्थान करते हैं। ज्ञानसूर्य की निर्मल ज्योतिर्मय किरणो! क्या तुम्हारा ज्ञान कर्म के साथ एक होगा? ज्ञान कर्म का और कर्म ज्ञान का व्यभिचार तो नहीं करेगा? इस व्यभिचार से ही ज्ञान अज्ञान और कर्म अकर्म बनता रहता है। यह अ कालान्तर में कु में परिणत होता है और परिणामतः अपाङ्-प्राङ्, उच्चावच गतियों का कारण बनता है। हमारे ज्ञान और कर्म का समन्वय हो। दोनों ही पुण्य हों, पवित्र हों, जिससे ऋत के तन्तु को चीरते हुए हम मूल ज्योति को, परम सूर्य को प्राप्त कर सकें।



प्रभु के चरणों में

त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ।
अधा ते सुम्नमीमहे। (ऋ० ८।९८।११)

हे अनन्त प्रभु! हे असंख्य यज्ञ करने वाले! हे असीम पराक्रमी! हे अतुल सामर्थ्य-सम्पन्न! भगवान! आप ही हमारे पिता हैं, आप ही माता हैं। आपसे ही हम सुख की याचना करते हैं।

स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव। सचस्वा नः स्वस्तये॥
(ऋ० १।१।९)

पुत्र के लिए पिता जैसे सुगमता से प्राप्तव्य होता है, वैसे ही आप हमारे लिये अत्यन्त निकट आ जाइये और हमें कल्याण के लिये एकत्र तथा सुखसंयुक्त कर दीजिए।

न हि अन्यं बळाकरं मर्डितारं शतक्रतो। त्वं न इन्द्र मृळय।
(ऋ० ८।८०।१)

पिता! आप परमैश्वर्य के निधान हैं, शतक्रतु हैं, अनन्त ब्रह्माण्डों के संचालक और असंख्य जीवों को कर्म-फल देने वाले हैं। आप ही हमें सुखी कर सकते हैं। आपके अतिरिक्त अन्य कोई भी सुख देने वाला नहीं है। आप ही हमें सुखी कीजिये।

यो नः शश्वत् पुराविथ अमृध्रो वाजसातये। स त्वं न इन्द्र मृळय॥
(ऋ० ८।८०।२)

पिता! आप अमृध्र हैं, आपकी हिंसा कोई भी नहीं कर सकता। आप बलवानों में शिरोमणि हैं। जब जब हमें वाज की, बल की, ज्ञान की आवश्यकता पड़ी है, तब तब हमने आपको ही पुकारा है। पुराकाल में आपत्ति

पड़ने पर आप ही ने हमारी सदैव रक्षा की है। प्रभो ! वही आप आज भी कृपा कीजिये, आज भी हमारा संकट से त्राण कीजिये, हमें सुखी बनाइये।

यदंग दाशुषे त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि । तवेत्तत्सत्यमंगिरः ॥

(ऋ० १।१।६.)

हे अंगिरः ! हे मेरे प्राण ! तुम्हारे सम्बन्ध में यह सत्य ही कहा जाता है, तुम्हारा यह विरुद ही है कि जिसने अपने आपको तुम्हें दे दिया, तुम्हारे समर्पित कर दिया, तुम उसका निश्चित रूप से भला ही करते हो, उसका कल्याण करते हो, उसे सुख देते हो।

त्वं नः सोम विश्वतो रक्षा राजन्नघायतः । न रिष्येत् त्वावतः सखा॥

(ऋ० १-९१-८.)

मेरे सोम ! तुम राजा हो, ब्रह्मविज्ञानियों में चमकते हो ! अपनी इस प्रभा द्वारा मेरी रक्षा करो। जो व्यक्ति मेरे प्रति पाप, अपराध, या दुष्टाचरण करने का अभिलाषी हो, उससे मुझे बचाओ। जिसके तुम सखा बन जाते हो, उसका कभी विनाश नहीं होता। तुम्हारी दया दृष्टि से पापी हमें भी भयभीत न कर सकें।

सोम रारन्धि नो हृदि गावो न यवसेष्वा । मर्य इव स्व ओक्ये ॥

(ऋ० १।९१।१३)

सौम्य सुखदाता सोम ! हमारे हृदय में आप वैसे ही रमण करें जैसे गायें जौ के खेत में रमण करती हैं अथवा जैसे मनुष्य अपने घर में रमण करता है।

यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते। तयामामद्य मेधया अग्ने मेधाविनं कुरु। (यजु० ३२।१४)

हे ज्ञान प्रकाश के निधान ! आज मुझे उस मेधा से मेधावी, ज्ञानसम्पन्न, प्रकाशपूर्ण कर दो जिस मेधा की देव तथा पितर उपासना करते रहे हैं।

पुनरेहि वाचस्पते ! देवेन मनसा सह । वसोष्पते निरमय मय्येवास्तु मे श्रुतम् ॥ (अथ० १।१।२)

हे वाचस्पते ! वाणी के अधिपति ! पुनः उसी दिव्य मन के साथ आओ। हे वसुपते ! बसानेवालों के भी स्वामी ! मेरे अन्दर रम जाओ जिससे मेरा सुना हुआ मेरे अन्दर बस जावे, मेरा अङ्ग बन जावे, मेरा परित्याग न करे।

यन्मे छिद्रं चक्षुषो हृदयस्य मनसो वातितृण्णं बृहस्पतिर्मे तद्धातु। शन्नो भवतु भुवनस्य यस्पतिः ॥ (यजु० ३६।२)

हे बृहस्पते ! बृहत लोक-लोकान्तरों के स्वामी ! मेरे सबसे बड़े रक्षक ! मेरे नेत्र, हृदय या मन में जो छिद्र हों, न्यूनता हो, घाव हों, उसे आप पूरा कर दें। हे भुवनाधिपति ! हम सबको आप शान्ति प्रदान करें।

जातवेदसे सुनवाम सोम मरातीयतो निदहाति वेदः ।
स नः पर्षदति दुर्गाणि विश्वा नावेव सिन्धुं, दुरितात्यग्निः ॥
(ऋ० १।९९।१)

हे जात मात्र को जानने वाले ! आपका ज्ञान सुप्रसिद्ध है। हम ज्ञान-दान का सवन करें, क्योंकि आप अदानी के धन को, ज्ञान को नष्ट कर देते हो। इस पुण्यपथ में जो दुर्ग, प्रत्यूह या विघ्न खड़े हों, उन्हें आप पीस डालें, नष्ट कर दें और हमें दुरित से, पाप से, दुराचरण से वैसे ही पार कर दें जैसे यात्री नाव पर चढ़कर समुद्र को पार कर जाते हैं।

स नः पप्रिः पारयाति स्वस्ति नावा पुरुहूतः ।
इन्द्रो विश्वा अति द्विषः ॥ (ऋ० ८।१६।११)

हे पुरुहूत ! तुम्हें मैं ही नहीं, अनेक पुकार रहे हैं, तुम पप्रिः हो, सबको पार लगाने वाले हो। अपनी स्वस्ति की नौका पर चढ़ा कर मुझे भी पार लगा दो। भवसागर में राग-द्वेष के थपेड़े खाते-खाते बहुत दिन हो गये। हे शक्ति-

शाली परमेश्वर ! मुझे सभी प्रकार के द्वेषों से पृथक् करो। तुम्हारी स्वस्तिनाव पर चढ़ने का अधिकारी मैं निर्वैर होकर ही बन सकूँगा।

उरुं नो लोकमनुनेषि विद्वान् स्वर्वत् ज्योतिरभयं स्वस्ति ।
ऋष्वा त इन्द्र स्थविरस्य बाहू उपस्थे याम शरणा बृहन्ता ॥
(ऋ० ६।४७।८)

हे वज्रहस्त ! परम सामर्थ्य से सम्पन्न प्रभु ! तुम स्थविर हो, पुरातन हो, सनातन हो, पूज्य हो। तुम्हारी भुजायें सब ओर फैली हुई हैं और विघ्नों का नाश कर रही हैं। तुम्हारी विशाल शरणदायिनी ये भुजायें, यह गोद हमें भी प्राप्त हो। आपही कृपा करके हमें ऐसे विस्तृत लोकों में ले चलें जहाँ सुख हो, प्रकाश हो, निर्भयता हो और स्वस्ति-कल्याण-शुभ-अस्तित्व हो।

यत्र ज्योतिरजस्रं यस्मिन् लोके स्वर्हितम् ।
तस्मिन् मां धेहि पवमान अमृते लोके अक्षिते ।
इन्द्राय इन्दो परिस्रव । (ऋ० ९।११३।७)

हे मेरे पवमान ! हे मेरे इन्दु ! जहाँ अजस्र ज्योति है, जिस लोक में सुख ही सुख है, वहाँ, उसी अमृत, अक्षित लोक में मुझे स्थापित कर दो ! देव ! तनिक द्रवित हो जाओ ! मेरी ओर दयादृष्टि करो !

अग्नये समिधमाहार्षं बृहते जातवेदसे ।
स मे श्रद्धाञ्च मेधाञ्च जातवेदाः प्रयच्छतु ॥ (अथ० १९।६४।१)

हे सहस्रों सूर्यों की प्रभा वाले ! प्रभु ! तुझ अग्नि की मैं आज समिधा हूँ। अपने आपको तेरे अन्दर डाल रहा हूँ। अग्नि जैसे समिधा को अपने रूप का बना लेती है, तू भी मुझे अपने रूप का बना ले। हे बृहत्, हे महान् ! हे जातवेद ! तू मुझे श्रद्धा तथा मेधा प्रदान कर। मैं श्रद्धालु तथा मेधावी बनकर तेरे जैसा ही जातवेद बन जाऊँ।

मधुमन्मे निक्रमणं मधुमन्मे परायणम् ।
वाचा वदामि मधुमद् भूयासं मधुसंदृशः ॥ (अ० १।३४।३)

हे मधु के, अमृत के भाण्डार ! मेरा आना-जाना, गति-प्रत्यागति, आचार-व्यवहार सब मधुमय हो । वाणी से मैं मधुर वचन बोलूँ ! मैं मधु के सदृश, समान रूप वाला ही हो जाऊँ ।

यन्मन्यसे वरेण्यं इन्द्र द्युक्षं तदाभर ।
विद्याम तस्य ते वयमकूपारस्य दावने ॥ (ऋ० ५।३९।२)

हे वैभव के कोश ! जिस धन को तुम मेरे लिये वरणीय, उपयुक्त समझो, वही धन तुम मुझे दो । हम तुम्हारे उसी दान को प्राप्त करें जिससे कुत्सित नहीं, सुभग पूरण और पोषण होता हो ।

सख्ये त इन्द्र वाजिनो मा भेम शवसस्पते ।
त्वामभि प्रणोनुमो जेतारमपराजितम् ॥ (ऋ० १।११।२)

हे बलवान ! शक्ति के केन्द्र परम प्रभु । आप बलों के स्वामी हैं । हमें भी अपने सख्य में ले लें । हे जेता ! हे अपराजित ! आपके सम्मुख हम श्रद्धा से प्रणत हैं, बार-बार झुकते हैं ।

अग्ने ! नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठान्ते नम उक्तिं विधेम ॥
(ऋ० १।१८९।१)

हे अग्निदेव ! मेरे सर्वज्ञ भगवान् ! हमें अपना ऐश्वर्य देने के लिए सुपथ से ले चलो ! आप उन समस्त कर्मों तथा प्रणीतियों को जानते हैं जिन पर चलने से ऐश्वर्य प्राप्त होता है । हमारे अन्दर से कुटिलता रूप पाप को हटा दो जिससे हम बार-बार आपके चरणों में प्रणत हो सकें, आपका सामीप्य प्राप्त कर सकें ।

क्रत्वः समह दीनता प्रतीपं जगमा शुचे । मृळा सुक्षत्र मृळय ॥
(ऋ० ७।८९।३)

हे तेजोराशि ! हे पवित्र ! हे त्राणकर्ता ! अपनी दीनता के कारण मैं *कर्तव्यपथ से विमुख हो गया हूँ, विपरीत चला गया हूँ, अब तुम्हीं दया करो।* तुम्हीं सहारा दो। तुम्हीं अदीन बना कर मुझे कर्तव्यपथ पर लगा दो।

अपां मध्ये तस्थिवांसं तृष्णा विदज्जरितारम् । मृळा सुक्षत्र मृळय ॥
(ऋ० ७।८९।४)

हे घावों से रक्षा करने वाले ! शोभन शक्तिशाली ! तेरा भक्त राशि की राशि जल के बीच में खड़ा होने पर भी प्यास से मर रहा है। देव ! दया करो, दया करो। इस प्यासे की प्यास को शान्त करो। मुझ दुखी को सुखी करो। तुम आनन्द के भाण्डार हो। अपने आनन्द के कुछ कण मुझे भी भीख में दे दो।

आ त्वा रम्भं न जिव्रयो ररम्भा शवसस्पते। उश्मसि त्वा सधस्थ आ ॥
(ऋ० ८।४५।२०)

हे बलाधिपति ! वृद्ध की लकुटि के समान मैंने केवल तुम्हारा सहारा लिया है। देव ! मैं चाहता हूँ कि तुम अब, सदैव के लिए मेरे सामने बने रहो।

मा प्रगाम पथो वयं मा यज्ञादिन्द्र सोमिनः । मान्तः स्थुर्नो अरातयः ॥
(ऋ० १०।५७।१)

हे ऐश्वर्यशालिन् ! हम सत्पथ से दूर न जावें। सोम रूप हव्य को पास रख कर भी यज्ञ का त्याग न करें। अदान आदि शत्रु हमारे अन्तस्तल में स्थिर न होने पावें।

इमं मे वरुण श्रुधि हवमद्या च मृळय । त्वामवस्युराचके ॥
(ऋ० १।२५।१९)

हे वरणीय, सर्वश्रेष्ठ देव ! आज तो मेरी पुकार को सुन लो, मुझे सुखी कर दो। रक्षा की कामना लिये मैं तुम्हीं को बुला रहा हूँ।

त्वञ्च सोम नो वशो जीवातुं न मरामहे। प्रिय स्तोत्रो वनस्पतिः॥
(ऋ० १।९१।६)

हे सोम ! अपनी उमाशक्ति से समवेत देव ! यदि तुम हमें जीवित रखना चाहते हो, तो हमें कोई नहीं मार सकता। हे प्रिय स्तोत्रों वाले, हे भजन करने वाले भक्त के रक्षक ! तुम्हारे रक्षण के रहते हम कैसे मर सकते हैं ?

पृच्छे तदेनो वरुण दिदृक्षुः उपो एमि चिकितुषो विपृच्छम्।
समानमिन्मे कवयश्चिदाहुः अयं ह तुभ्यं वरुणो हृणीते॥
(ऋ० ७।८६।३)

हे वरुण ! वर्णन करने योग्य देव ! मेरे अन्दर, तुम्हारे दर्शन की अभिलाषा जाग उठी है। यह दर्शन कैसे हो, इसे पूछने के लिये मैं विद्वानों के पास जाता हूँ, पर सभी विद्वान् एक स्वर से कहने लगते हैं:—वरुण देव तुम से रूठ गये हैं, उन्हें प्रसन्न करो। देव ! तुम मुझसे क्यों अप्रसन्न हो ? मुझसे क्या अपराध हुआ है ? बताओ तो। मैं पूछ रहा हूँ—बताओ तो—मेरा अपराध क्या है ?

य आपिर्नित्यो वरुण प्रियः सन् त्वां आगांसि कृणवत्सखा ते।
मा त एनस्वन्तो यक्षिन् भुजेम यन्धिष्मा विप्रः स्तुवते वरूथम्॥
(ऋ० ७।८८।६)

हे वरुण ! यह स्तोता तुम्हारा अपना प्यारा सखा है, फिर भी इससे तुम्हारे प्रति कितने अपराध होते रहते हैं ! हे पूजनीय ! पापी बन कर हम भोग न भोगें। हे सर्वज्ञ ! अब इस स्तोता को अपनी शरण में रख लो, जिससे इसकी प्रवृत्ति ही पाप की ओर न हो। तुम्हारी आँखों के आगे से हटकर ही तो यह पाप की ओर जाता है। तुम्हारी देख-रेख में रहेगा, पल-पल में तुम्हारी उपस्थिति को अनुभव करेगा, तो पाप की ओर जा ही न सकेगा।

का ते अस्ति अरंकृतिः सूक्तैः कदा नूनं ते मघवन् दाशेम ।
विश्वामतीराततने त्वाया अधा म इन्द्र शृणवो हवेमा ॥
(ऋ० ७।२९।३)

हे मघवन् ! इन सूक्तों से, सुन्दर उक्तियों से क्या मैं तुम्हें अलंकृत कर सकता हूँ ? क्या कभी ऐसा समय नहीं आवेगा, जब मैं इस अस्तित्व को ही तुम्हें समर्पित कर दूँ ? नहीं, नाथ ऐसी कृपा करो कि मैं अभी अपने आपको ही तुम्हारे लिये दे दूँ । आज मेरी समस्त मतियाँ तुम्हारे लिये ही विस्तृत हो रही हैं, तनती-खिंचती चली जा रही हैं । हे इन्द्र ! आज तो मेरी इस पुकार को सुन लो ।

का त उपेतिर्मनसो वराय भुवदग्ने शंतमा का मनीषा ।
को वा यज्ञैः परिदक्षं त आप केन वा ते मनसा दाशेम ॥
(ऋ० १।७६।१)

हे अग्ने ! तुम्हारे मन को वरने का कौन सा उपाय है ? ऐसी कौन सी हमारी मनीषा है जो तुम्हें सर्वोत्तम सुख या शान्ति दे सकती है ? ऐसे यज्ञ यहाँ किसके पास हैं, जो तुम्हारे दक्ष को माप सकें, प्राप्त कर सकें ? प्रभो ! हम किस मन से तुम्हारे आगे अपना समर्पण करें ?

क्व स्य ते रुद्र मृळयाकुर्हस्तो यो अस्ति भेषजो जलाषः ।
अपभर्ता रपसो दैवस्य अभी नु मा वृषभ चक्षमीथाः ॥
(ऋ० २।३३।७)

हे रुद्र ! रोगों तथा कष्टों को दूर भगाने वाले । तुम्हारा वह सुखदायक हाथ कहाँ है जो औषधरूप है तथा शान्ति देने वाला है ? हे देव ! तुम्हीं दिव्यता-सम्बन्धी पापों को नष्ट करने वाले हो । हे वृषभ ! अभीष्ट की वर्षा करने वाले ! मुझ पापी को, दुखी को, क्षमा करो ।

वयं घा ते त्वे इत् उ इन्द्रविप्रा अपि ष्मसि ।
नहि त्वदन्यः पुरुहूत कश्चन मघवन्नस्ति मर्डिता ॥ (ऋ० ८।६६।१३)

हे ऐश्वर्यशाली देव ! हम तेरे हैं, निश्चित रूप से तेरे हैं। तू सर्वव्यापक है, महान् है। तेरी कृपा से हम भी विप्र, ज्ञानी, व्यापक और महान् बनें। हे अनेकों के द्वारा बार-बार पुकारे गये प्रभु ! हे मघवन् ! तेरे अतिरिक्त कोई भी अन्य हमें सुख देने वाला नहीं है।

सखीयतामविता बोधि सखा गृणान इन्द्र स्तुवतेवयोधाः।
वयंह्याते चकृमा सबाध आभिः शमीभिः महयन्त इन्द्र ॥
(ऋ० ४।१७।१८)

हे इन्द्र ! तुम सखाभाव की इच्छा करने वालों के सखा हो, रक्षक हो। मुझ स्तोता को, अपने भक्त को, बोध दो, प्रकाश में ले चलो, जीवन का दान दो। हम अपना सब कुछ तुम्हारे चरणों में अर्पण करते हैं। आप अपनी इन शान्तिदायिनी शक्तियों के साथ हमें महत्ता की ओर, मंगल और कल्याण की ओर ले चलें।

स त्वं नो अग्ने अवमो भवोती नेदिष्ठो अस्या उषसो व्युष्टौ।
अवयक्ष्व नो वरुणं रराणो वीहि मृळीकं सुहवो न एधि ॥
(ऋ० ४।१।५)

हे प्रकाशस्वरूप प्रभो ! उषा का उदय हो गया है, अविवेकरूपी रात्रि का तम दूर हो चुका है। इस पावन वेला में तुम मेरे निकटतम आ जाओ, ऊपर से नीचे उतर आओ, परम से अवम बन जाओ, तुम्हारी ऊँचाई तक मैं न पहुँच सकूँगा। अतः तुम्हीं मेरी भूमि तक आ जाओ और यहीं मेरे वारक, अवरोधक, तुम तक पहुँचने में बाधा डालने वाले मेरे इन बन्धनों को काट दो। पिता, मेरी यह उषाकाल वाली स्थिति तुम्हें सुख देगी, तुम्हें प्रसन्न करेगी। मेरी प्रार्थना स्वीकार करो और मेरे लिये सुहव हो जाओ, सुगमता से पुकारने योग्य बन जाओ।

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव।
यद् भद्रन्तन्न आसुव ॥ (यजु० ३०।३ ऋ० ५।८२।५)

हे प्रेरक, सर्वोत्पादक देव ! हमारे समस्त दुरितों, दुराचरणों, पापों को नष्ट कर दो और जो कल्याणकारी गुण हैं, उन्हें ही हमें प्रदान करो।

परि पूषा परस्ताद् हस्तं दधातु दक्षिणम्। पुनर्नो नष्टमाजतु ॥
(ऋ० ६।५४।१०)

हे देवताओं का पोषण करने वाले, दिव्यता का संवर्धन करने वाले, नष्ट को सृष्टि में परिणत करने वाले पूषन्, तुम्हीं सब के पोषक हो, तुम्हीं प्रजापति हो, तुम्हीं पुष्टि हो। देवाधिदेव ! कृपा करो, अपना दक्षिण हस्त मेरे ऊपर रखो। मेरी वामता नष्ट हो। आपको वरदायिनी छाया में, मंगलमयी शरण में, मेरा खोया हुआ अपना रूप मुझे पुनः प्राप्त हो। मैं तुम्हारा ही हूँ और तुम भी मेरे ही हो—यह भाव अब मेरा सतत साथी रहे। दिव्यता के प्रकाश में, आपके आश्रय में, आपका होकर रह सकूँ मैं अपने रूप को भूल गया था, आपको छोड़ बैठा था—अब मेरा मुझ में सदैव उपस्थित रहे—बस यही याचना है, यही प्रार्थना है।

अभयं नः करत्यन्तरिक्षमभयं द्यावापृथिवी उभे इमे।
अभयं पश्चादभयं पुरस्तादुत्तरादधरादभयं नोऽस्तु ॥
अभयं मित्रादभयममित्रादभयं ज्ञातादभयं पुरो यः।
अभयं नक्तमभयं दिवा नः सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु ॥
(अथर्व १९।१५, ६)

अन्तरिक्ष हमें अभय करे। द्यावा और पृथ्वी दोनों लोकों में हम निर्भय हों। पीछे से, आगे से, ऊपर से, नीचे से हमारे लिये अभय ही अभय हो। हम मित्रों से निर्भय हों, अमित्रों से निर्भय हों, जाने हुए और जो आगे आने वाले अनजान हैं उनसे भी हम निर्भय हों, दिन और रात्रि में हम निर्भय हों, समस्त दिशायें और उनमें रहनेवाले प्राणी मेरे मित्र हों।

देव ! बोलो

धातारो देवा अधिवोचता नो मा नः निद्रा ईशत मोतजल्पिः ।
वयं सोमस्य विश्वह प्रियासः सुवीरासो विदथमावदेम ॥
(ऋ० ८।४८।१४)

देव ! बोलो । कितने दिन बीत गये ! बोलना तो दूर, तुम मेरी ओर देखते भी नहीं । यह ठीक है, साम्मुख्य समानधर्माओं का होता है । कहाँ तुम सतत जागरूक और कहाँ मैं निद्रालु ! कहाँ तुम परमशान्त और कहाँ मैं जल्पी, वादी । कहाँ तुम सोम के प्यारे और कहाँ मैं केवल नामधारी । कहाँ तुम वीर, प्रेरक और सत्यद्रष्टा, कहाँ मैं कायर, गतिहीन एवं असत्-लीन ! यह ठीक है, पर यह भी ठीक है कि तुम त्राता हो, रक्षक हो, संकटों से निकालने वाले हो, विपदाओं से बचानेवाले हो, क्लेश–कष्ट को नष्ट करने वाले हो । तो क्या तुम मेरा त्राण नहीं करोगे ? क्या मैं इसी प्रकार राग-द्वेष के थपेड़े खाते-खाते, तम और रज के पाशों में ग्रसित, निद्रा और जल्प का दयनीय जीवन व्यतीत करते हुए अपने अस्तित्व को विकृत होते देखा करूँगा ? शत्रुओं ने मुझे शक्तिहीन कर दिया है, इसीलिये तो तुम्हारे अवलम्बन की याचना करता हूँ, बार-बार विनय करता हूँ, तुम्हें बुलाता हूँ । देव ! आओ ! अपने सरस वचनों द्वारा मुझे आश्वस्त करो । कुछ तो कहो । तुम न आये, तुम न बोले, तो यह निद्रा के चंगुल से कैसे निकल सकेगा, जल्प के शासन से कैसे मुक्त होगा ? प्रभु का प्यारा कैसे बन सकेगा ? प्रभु का प्यारा बनने के लिये तम एवं रज से निकल कर सत्त्वस्थ होने की आवश्यकता है—ऐसा उन सभी मुनियों ने कहा है जिन्होंने तनिक भी दया-दृष्टि से मेरी ओर देखा—पर वे स्वयं तुम्हारी ओर देखते थे—देखकर चले गये—मेरा उद्धार न हो सका—सत् की संधिनी औषध उनके पास भी ही नहीं—वह तो तुम्हारे ही पास है । प्रभु के साथ तुम्हारी

नित्य संधि है, निरन्तर सुपास है, अनवरत नैकट्य है। इसीलिये तो तुम्हें बुला रहा हूँ। देव ! बोलो ! अपनी प्रेरक शक्ति, वीरण-विभा ज्ञान के स्वरों के साथ, विदथ की वाणी बोलते हुए मेरी ओर भी मोड़ दो। देव ! बोलो। मेरे त्राता ! बोलो। शरीर से मत दिखाई दो, पर कानों में तो अपने मधुर स्वर पड़ने दो !

> विश्वे यजत्रा अधिवोचतोतये त्रायध्वं नो दुरेवाया अभिहुतः।
> सत्यया वो देवहूत्या हुवेम शृण्वतो देवा अवसे स्वस्तये॥
> (ऋ० १०।६३।११)

देव ! तुम यजत्र हो। तुम्हारा यज्ञ निरन्तर निर्बाध चला करता है। यज्ञ में तो दान ही दान है, ओषधि-उपचार का ही नहीं, रोग को निवारण करने का ही नहीं, पोषण-पालन का भी, शक्ति-सामर्थ्य का भी। मुझे ओषधि एवं पोषण दोनों की आवश्यकता है। कर्म-सम्पत्ति कभी माता-पिता से मिली थी, पर आज तो वह सभी प्रकार से क्षीण हो चुकी है, गुरुजनों से ज्ञान-सम्पदा भी प्राप्त हुई थी, पर आज न जाने वह कहाँ चली गई है, भक्ति-भवानी ने भी कभी कृपा की थी, पर आज तो मैं भाव-शून्य, विमलता-शून्य; पावनता-पंगु बना हुआ न जप कर पाता हूँ, न तप, न अन्य कोई साधना। अनुकूल का संकल्प तथा प्रतिकूल का परित्याग करते नहीं बनता। हाँ, तुम्हारे रक्षण में विश्वास है, तुम्हारे गोप्तृत्व का इसीलिये तो वरण कर रहा हूँ—अपना निवेदन इसीलिये तो तुम्हारे चरणों तक पहुँचा रहा हूँ। अपनी ऊति, रक्षा के लिये तुम्हें पुकार रहा हूँ। तुम त्राण करने के लिये न आये, तो मेरी स्वस्ति, सु=सुन्दर, अस्ति=सत्ता विनष्ट हो जायगी। मैं दुरेवा—दुर्गति का आखेट बन जाऊंगा, कुटिलता मेरा कचूमर निकाल डालेगी ! क्या तुम मेरी इस दुर्दशा को देखते रहोगे ? मेरे उद्धार के लिये नहीं आओगे ? नहीं, देव ! आओ ! मुझे बचाने के लिये शीघ्र से शीघ्र आजाओ। तुम्हें मैं अपनी सत्य, अन्तरतम की वाणी से पुकार रहा हूँ। छल और छद्म अब मेरे पास नहीं रहे। हृदय से सीधे ध्वनि

निकल रही है। देव ! इसे सुनलो, इस आर्त वाणी को कर्णगोचर होने दो ! तुम यजत्र हो, दीन-हीन की सेवा करने में, साथ रह कर उसके दुख दूर करने में तुमने कभी आगापीछा नहीं किया। फिर आज यह विपरीत बात क्यों ? नहीं, देव, आओ, मेरे कल्याण के लिये आओ, मुझे बचाओ, मुझे त्राण दो।

> उत देवा अवहितं देवा उन्नयथा पुनः।
> उतागश्चक्रुषं देवा देवा जीवयथा पुनः॥ (ऋ० १०।१३७।१)

देव ! देखो, मैं कितना नीचे गिर गया हूँ ! आनन्द से वंचित हुआ, प्रभु की गोद से पृथक् हुआ, बुद्धि में विभ्रम आया, अपनों की स्मृति ही जाती रही, *चिन्तन और मनन साथ छोड़ गये, प्राण जैसे-तैसे चिपटा रहा है,* पर अब वह भी कूँच करना चाहता है। पवित्र साथियों से वियुक्त होकर और पाप से संयुक्त होकर आज इस मरण की घिनौनी दशा को प्राप्त हो गया हूँ—घोर कष्ट झेल रहा हूँ—ऐसी अवांछनीय अवस्था में पड़ा हूँ कि कुछ कहते नहीं बनता। देव ! मर्मान्तक पीड़ा है। उठने की शक्ति नहीं रही। अब तुम्हीं उठा दो, हाथ पकड़ कर खड़ा कर दो। मुझ अंधे की लाठी तुम्हीं हो। इस मरे हुए को पुनः जीवन-दान दो। तुम्हारे आते ही प्राण पुलकित हो उठेंगे, हृदय का स्पन्दन फड़कने *लगेगा, रोम-रोम आह्लादित हो जायगा।* इस मृत को संजीवनी-सुधा पिला कर एक बार पुनः अपने अनोघदान की घोषणा होने दो। मुझे जीवन दो, मुझे उठाओ, मुझे पवित्र बनाओ।

> न दक्षिणा विचिकिते न सव्या न प्राचीनमादित्या नोत पश्चा।
> पाक्या चिद् वसवो धीर्याचिद् युष्मानीतो अभयं ज्योति रश्याम्॥
> (ऋ० २।२७।११)

हे वसुओ ! हे आदित्यो ! हे प्रकाश-पुञ्ज देवो ! तुम वामवी शक्तियों से युक्त हो, अखंड एवं अक्षर स्थिति में निवास करते हो। तुम्हारे शरीर से प्रकाश की किरणें निकलती हैं—वहां अंधकार का चिह्न तक नहीं। पर मैं सघन अन्धकार में पड़ा हूँ। मेरे चारों ओर अन्धकार ही अन्धकार है। न दाहिनी

ओर कुछ दिखाई देता है, न बाईं ओर, न आगे और न पीछे। यह अन्धकार मुझे खाए जा रहा है। इसकी उपस्थिति ने मुझे भयभीत कर दिया है। मैं कहीं से ज्योति की एक किरण भी प्राप्त नहीं कर रहा हूँ। तड़प रहा हूँ, अधीर हो उठा हूँ, प्रकाश की प्रतीक्षा में युग के युग निकल गये, पर अन्धकार ही बना रहा। प्रकाश कहीं से भी नहीं मिला। तो क्या यह तमसाच्छन्न रात्रि ही मुझे आच्छादित किये रहेगी ? क्या मैं इस अंधकार में ही भटका करूंगा ? क्या यह भयावह वेला कभी समाप्त नहीं होगी। नहीं, देव, ऐसा नहीं। अपने ज्योति-रथ पर चढ़कर यहां चले आओ। तुम देव हो, दूसरे के मुख में ग्रास डालने वाले हो, मरे हुए को जीवन-दान देने वाले हो। आओ, मेरे पास आओ। मुझ अधीर और पक्षताभिलाषी के पास आओ। तुम्हारे आते ही अंधकार भग्न हो जायेगा, नैराश्य जाता रहेगा। उषा के उदय के समान उदित हो तो जाओ ! जन्म-जन्म के इस अधीर अन्धे को निर्भय ज्योति के दर्शन तो हों।

> जीवान्नो अभिधेतन आदित्यासः पुरा हथात्।
> कद्धस्थ हवन श्रुतः (ऋ० ८-६७-५)

हे आदित्यो ! अदिति माता के प्रकाश-पीयूष को पान करने वालो ! ज्योति-मधु के अमर सेवियो ! तुम्हारे रहते क्या मैं मर जाऊंगा ? तुम हवनश्रुत हो, पुकार को सुनने वाले हो। ऐसा तो आज तक नहीं हुआ कि कोई तुम्हें पुकारे, आर्त स्वर में तुम्हारा आह्वान करे, कातर होकर तुम्हें बुलावे, और तुम न आओ। तुम तो दीन की विनय पर दौड़े चले आते हो और सामने आकर उपस्थित हो जाते हो। तो फिर मेरी पुकार व्यर्थ क्यों जा रही है ? वह तुम्हारे कानों में क्यों नहीं पड़ी ? तुम कहां हो ? तुम जहां हो, क्या वहां तक मेरा करुण-क्रन्दन नहीं जा पाता ? नहीं, देव, तुम जहां कहीं हो, वहीं से पीड़ित की पीड़ा को अनुभव कर लेते हो। अतः आओ, मेरे मरण के पूर्व ही आ जाओ, जब तक सांसें चल रहीं हैं, जीवन-ज्योति टिमटिमा रही है, तब तक आ जाओ, दौड़ कर आ जाओ और इस मृतप्रायः को बचालो।

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः ॥
(ऋ० १-८९-८)

देव कृपा करो । अस्वस्तित और अभद्र अब हमारे पास न आवें । इन्हीं के कारण मरण की निदारुण दशा तक हम पहुँच गये थे । तुमने जीवन-दान दिया । अब जितनी तुम्हारे द्वारा स्थापित आयु है, उतनी आयु तक हम स्थिर दृढ़ अंगों से तुम्हारा प्रियाचरण करते रहें, कानों से भद्र का ही श्रवण करें और आंखों से भद्र का ही दर्शन करें । तुम यज्ञ करने वाले हो । हमारे चक्षु-श्रोत्रादि सभी अंग इस यज्ञ कार्य में सहचर बनें । वे सेवक बनकर यज्ञ के भरण-पोषण-प्रसरण में सहायता दें । यही कार्य तुम्हारे संतोष का कारण हो सकेगा । देवहित में यह जीवन समर्पित हो । जो उनका दिया हुआ है, वह उन्हीं के कार्य में लगे । समर्पण की यह भावना हो भद्र के अभ्यागम का हेतु है । जीवन पाकर अब हम अयज्ञिय न रहें । देव यज्ञ में आते हैं, वे मेरे जीवन-यज्ञ में भी प्रसन्न मन से आवें । यह यज्ञमय जीवन उन्हें आह्लादित कर सके, यही कामना है ।

अतो देवा अवन्तु नो यतो विष्णुर्विचक्रमे ।
पृथिव्याः सप्त धामभिः । (ऋ० १-२२-१६)

देवो ! तुम्हें विष्णु की, सर्व व्यापक प्रभु की शक्ति प्राप्त है । तुम उनकी सन्निधि में जो रहते हो । जो जिसके साथ रहता है, उसके गुणों को भी प्राप्त कर लेता है । प्रभु ने पृथिव्यादि सप्त धामों की रचना की है । भू से सत्य लोक तक उसकी रचना का प्रकाश है । यह रचनात्मक सामर्थ्य प्रभु के अन्दर है, तो देव भी इस शरीर के अन्दर यह रचना कर रहे हैं । पैरों से लेकर सिर तक उन्हीं की लीला विस्तृत हो रही है, उन्हीं का पराक्रम प्रकट हो रहा है । प्राण देव हैं, मन और बुद्धि देव हैं, ज्ञानेन्द्रियां ऋषि हैं, कर्मेन्द्रियां अध्वर्यु हैं । इनका अग्रणी चैतन्याधिष्ठित आत्मा इन्द्र है, देवाधिदेव है । यदि ये सब विष्णु के पथ पर चलें, तो रक्षा ही रक्षा है, भद्र ही भद्र है, कल्याण ही कल्याण है ।

यह केन्द्र उन्हें दिव्यता के धनी निष्काम देवों में मिल गया है। हृदय की प्रीतियां, धारणायें, संकल्पनायें, कारयित्री रचनात्मक शक्तियां सबकी सब इन देवताओं की ओर आकर्षित हो रही हैं। प्रेमभरित भावनाओं की आसक्ति आज देवों में संलग्न हो जाना चाहती है। दैवी आदेश भी इसी दिशा का संकेत दे रहे हैं। देवों के अतिरिक्त अन्य कोई सुखदेने वाला, प्रीति एवं तृप्ति प्रदान करने वाला दिखाई भी नहीं देता। यह तथ्य आज स्पष्टता पूर्वक प्रत्यक्ष हो रहा है। अतः मेरी समस्त कामनायें देवों में संयत हो गई हैं।

ऋतस्य ऋतेन आदित्या यजत्रा मुञ्चतेह नः।
यज्ञं यद् यज्ञवाहसः शिक्षन्तो नोपशेकिम॥
(अथर्व ५-११४-२)

देव। तुम यजत्र हो, याजक हो, यज्ञ कर्ता हो, पर साथ ही यज्ञवाहक भी हो, अन्य की यज्ञक्रिया को वहन तथा सफल करने वाले भी हो। यज्ञ की भावना भी यदि किसी के अन्दर आती है तो तुम अपनी प्रेरणा से उसे कार्यान्वित भी करा देते हो। देव! मेरे जीवन को भी यज्ञमय बना दो, दिव्यता में परिणत कर दो। मैं यज्ञ करना चाहता हूँ, पर नहीं कर पाता। मार्ग में अनेक विघ्न आकर खड़े हो जाते हैं और मेरे बढ़े हुए हाथों को रोक देते हैं। देव मुझे इन विघ्नों से मुक्त कर दो। तुम इस मुक्ति की विधि से परिचित हो। तुमने उसी के बल पर प्रकाश प्राप्त किया है। इस विधान में, बल में, प्रकाश में, ऋत का भी ऋत विद्यमान है, बलों का बल, प्रकाशों का भी प्रकाश विराजमान है। दिव्यता के इस स्रोत की ओर मेरे सर्वांग को मोड़ कर तुम मुझे भी निर्बाध कर दो, यज्ञ करने में समर्थ बना दो। देवाधिदेव यज्ञ हैं, सर्वहुत यज्ञ हैं, उन्होंने जीवों के लिये अपना सर्वस्व उन्मुक्त कर दिया है। अभागे तो हम हैं, जो उन्हें पहिचान नहीं पाते। देव! तुमने तो उन्हें पहिचान लिया है, यजत्रों के भी यजत्र के साथ तुम दिनरात संवाद करते हो। हम भी उससे संवाद कर सकें, उसकी संगति में रह सकें, उसके कहला सकें। यह तो तुम्हारी कृपा

से ही संभव है। जब तक हम तुम्हारा वरण नहीं करते, सात्विक प्रकाश में नहीं पहुंचते, तब तक उनका सामीप्य कहां, उनका वरद हस्त कहाँ?

ये देवानां यज्ञिया यज्ञियानां मनोर्यजत्रा अमृताः ऋतज्ञाः।
ते नो रासन्तामुरुगायमद्य यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥
(ऋ० ७-३५-१५ अथर्व १९-११-५)

देवो! तुम्हारे अन्दर ऐसे भी देव हैं जो यज्ञिय देवों में भी यज्ञिय हैं, पूज्यों में भी पूज्य हैं, जो सृष्टि के आरम्भ में मनु के यजत्र बने थे[1], जो अमृत हैं और ऋतज्ञ हैं, प्रभु के इस सृष्टि-यज्ञ के विज्ञान में जिनका अनुपम भाग-दान है और इसी हेतु जिन्हें 'प्रज्ञागः पुर एतारः' (यजु० १७-१४) इस ब्रह्माण्ड को आगे ले जाने वाले भी कहा जाता है, वे पूज्य देव आज हमें विस्तृत यश तथा प्राण-शक्ति प्रदान करें। देव! तुम सब अपनी कल्याण कारिणी शक्तियों के द्वारा हमारी सदैव रक्षा करो।

स्वस्ति देवों के पास है; विशाल प्राणवत्ता तथा यश उन्हीं के हाथों में हैं। देव प्राण शक्ति का साक्षात् स्वरूप हैं। देवाधिदेव परमेश्वर तो इन सभी शक्तियों के भाण्डार हैं। जो साधना, तपश्चर्या द्वारा ज्ञान-निर्धूत-कल्मष बने, वे देव अपनी शक्ति परमेश्वर से ही प्राप्त कर सके थे। वे भी ऋत का ज्ञान प्राप्त करके, ऋत को चीरकर, अमृत बने थे। उनकी कीर्ति महान है, यश विशाल है। उनके सत्संग से, उनके पदों, पद्धतियों का अनुसरण करने से उनके यश का कुछ भाग हम भी प्राप्त कर सकते हैं, उनकी स्वस्ति से हमें भी स्वस्ति मिल सकता है। देवो! कृपा करो। हमें यश दो, कल्याण दो, हमारा जीवन मंगल से पूर्ण हो।

१ [मनु के ऋतज्ञ अमृत यजत्र ऋ० १०-६५-१४ के द्वितीय चरण में भी आये हैं। इसके आगे मंत्र १५ के तथा १०-६६-१५ के तृतीय तथा चतुर्थ चरण ज्यों के त्यों ऊपर उद्धृत मंत्र ७-३५-१५ के तृतीय तथा चतुर्थ चरणों से मिलते हैं।]

मनु के यज्ञिय देवों का उल्लेख ऋग्वेद ८-३० की निम्नाङ्कित ऋचाओं में भी हुआ है :—

न हि वो अस्त्यर्भको देवासो न कुमारकः ।
विश्वे सतो महान्त इत् ॥ १ ॥
इति स्तुतासो असथा रिशादसो ये स्थत्रयश्च त्रिंशच्च ।
मनोर्देवा यज्ञियासः ॥ २ ॥

मनु के यज्ञिय देव तेतीस हैं[2] । इनकी स्तुति की जाती है । ये पाप, हिंसा, वध आदि को नष्ट करनेवाले हैं । इन देवों की अवस्था न तो अर्भक, बच्चों की सी होती है और न कुमारों के समान । ये सब तरुण बने रहते हैं, सबके सब महान होते हैं ।

ते नस्त्राध्वं तेऽवत त उ नो अधिवोचत ।
मा नः पथः पित्र्यान्मानवादधि दूरं नैष्ट परावतः ॥ ३ ॥
ये देवास इह स्थन विश्वे वैश्वानरा उत ।
अस्मभ्यं शर्म सप्रथो गवेऽश्वाय यच्छत ॥ ४ ॥

ये देव हमारा त्राण करें, हमारी रक्षा करें, हमसे बोलें । वे हमें मानव तथा पित्र्य पथ से दूर न करें । हम संस्कृत तथा परोपकारी बनें । जो देव तथा समस्त वैश्वानर, मानव हितकारी नेता यहां हैं, वे हमारे लिये, गाय तथा अश्व के लिये विस्तृत सुख प्रदान करें ।

२ [ये त्रिंशति त्रयस्परो देवासो बर्हिरासदन् । ऋ० ८-२८-१ तथा अथर्व १०-७-१३, २३, २७ में भी तेतीस देवों का वर्णन है । ऋ० १-१३९-११ में भी, पृथिवी तथा अप् स्थानीय ग्यारह ग्यारह देवों का उल्लेख है जो संख्या में ३३ हो जाते हैं । ऋ० ७-३५-११ तथा १०-६५-९ में भी देवों को दिव्य, पार्थिव तथा अप्य तीन विभागों में विभक्त किया गया है ।]

यजु० २०-११ इन्हें 'त्रया देवा एकादश त्रयस्त्रिंशाः सुराधसः' कहता है । 'बृहस्पतिपुरोहिताः' ।

बृहस्पति इन देवों का पुरोहित है। अथर्व १९-२७-११, १२, १३ में द्यौ, अन्तरिक्ष तथा पृथिवी पर स्थित ग्यारह-ग्यारह अर्थात् ३३ देवों द्वारा हवि-सेवन की प्रार्थना है।

यज्ञस्य चक्षुः प्रभृति मुखं च वाचा श्रोत्रेण मनसा जुहोमि।
इमं यज्ञं विततं विश्वकर्मणा देवा यन्तु सुमनस्यमानाः॥
(अथ० २ ३५/५; १९ ५८/९)

देवो ! विश्वकर्मा प्रभु ने इस सृष्टि को यज्ञ के रूप में उत्पन्न किया था और हम सबको आज्ञा दी थी कि हम इस यज्ञ के सूत्र को पकड़े रहें। इसे विच्छिन्न न होने दें, क्योंकि यज्ञ ही कामनाओं को पूर्ण करने वाला है। हम यज्ञ से चिपटे रहेंगे, तो दिव्यता भी हमारे साथ बनी रहेगी। देव प्रसन्न होकर हमें कल्याण का मार्ग प्रदर्शित करते रहेंगे और उस पर आरूढ़ भी कर देंगे।

देवो ! मैंने यज्ञिय जीवन व्यतीत किया है। मेरा समस्त शरीर, मेरा अङ्ग-अङ्ग, यज्ञ की पुनीत आराधना में, अनुष्ठान में संलग्न है। मेरा मुख, मेरे नेत्र यज्ञ का भरण-पोषण कर रहे हैं। यज्ञ के लिए वे साधन बन गये हैं। इनका साध्य यज्ञ ही है। जो कुछ मैं खाता हूँ, जो कुछ मैं देखता हूँ, सब यज्ञ के लिये है, यज्ञ के ही अर्पण है। अपनी वाणी, श्रोत्र तथा मन सब से मैं हवन ही कर रहा हूँ। इनकी क्रियाओं को हवि रूप देकर यज्ञ में ही आहुत कर रहा हूँ। जो कुछ बोलता हूँ, सुनता हूँ, मनन एवं संकल्पन करता हूँ, वह केवल यज्ञार्थ, पवित्र भावना से, परहित को दृष्टि में रखकर। मैं अपनी जान में, अपनी समझ के अनुसार, किसी का अहित नहीं करता। तो देव ! फिर भी तुम क्यों कृपा नहीं करते ? क्यों रूठ रहे हो ? कब से तुम्हें पुकार रहा हूँ। कब से तुम्हारे पान के लिये यह अलंकृत, मधुर सोम रखा है ! कितनी साध से मैंने इसे प्रस्तुत किया है ! देवो ! आओ, सुमनस्यमान, प्रसन्नमुदा, आह्लाद पूर्ण हृदय लेकर आओ। आकर मेरे इस यज्ञ को सफल बनाओ, मुझे कृतकृत्य करो !

इसकी समस्त ग्रन्थियाँ तुम्हें ज्ञात हैं। कृत पाप अकृत, आगे आने वाले पाप से कैसे ग्रथित है, उस गाँठ को कैसे खोला जा सकता है—यह सब तुम्हारा जाना हुआ है। तो देव, कृपा करो। मेरी ग्रन्थियों को भी सुलझा दो, खोल दो मुझे आज ही कृत एवं अकृत पाप से परिपूर्णतया मुक्त कर दो, पार लगा दो। स्वस्ति के लिये, कल्याण के लिये मुझे निष्पाप बना दो।

देवानां भद्रा सुमतिर्ऋजूयतां देवानां रातिरभिनो निवर्त्तताम्।
देवानां सख्यमुपसेदिमा वयं देवा न आयुः प्रतिरन्तु जीवसे॥
(ऋ० १-८९-२ यजु० २५-१५)

देवो! तुम ऋजु हो, आर्जव में ही तुम्हारी रुचि है, सरलता से ही तुम्हारा स्नेह है, और इसी हेतु कल्याणी सुमति तुम्हें सदैव प्राप्त है। सुमति, भद्रा सुमति, श्रेय की ओर ले जाने वाली सुन्दर बुद्धि तुम्हारे साथ रहती है। इस सुमति का कुछ अंश मुझे भी दे दो। तुम्हारा मंगलमय दान मेरे सम्मुख वर्तमान हो जाय, निःशेष रूप से, सब ओर से वह मुझे प्राप्त होने लगे। यह इतना सहज हो जाय कि मुझे तुम्हारे सख्य का अनुभव होने लगे, निकटता से मुझे तुम्हारी मैत्री की अनुभूति हो और मैं उसे पा जाऊँ। तुम्हारे सख्य में तुम्हारे दान में, तुम्हारी भद्र सुमति में, तुम्हारे आर्जव में निवास करने से आयु लम्बी हो जाती है, जीवन की अवधि बढ़ जाती है, मृत्यु की मारकता दूर खड़ी रहती है। इस जीवन के लिए मेरी आयु को, देव! लम्बा कर दो। जीवन-प्राप्ति के लिये मृत्यु को टाल दो, मेरी आयु को बढ़ा दो। जीवन, जीवन—मुझे मेरा प्राण प्राप्त हो।

त आदित्या आ गता सर्वतातये भूत देवा वृत्रतूर्येषु शंभुवः।
रथं न दुर्गाद् वसवः सुदानवो विश्वस्मान्नो अंहसोनिष्पिपर्तन।
(ऋ० १-१०६-२)

अपनी संकीर्णता, संकुचित अवस्था, मेरा-तेरा पन, लघुदर्शिता, स्वल्पता आज मुझे बुरी तरह खल रही है। मुझे भूमा, व्यापकता, उदारता, विशालता,

सर्वताति, सम्पूर्ण विस्तार चाहिये। संकोच अथवा कार्पण्य करते करते मैं इस पिण्ड, इस शरीर के अन्दर ही समा गया हूँ। मेरा अपना आकाश जैसा उन्मुक्त रूप पिण्ड की सीमा में आबद्ध हो गया है। कारागार जैसी इस कोठरी में पूर्ण प्रकाश न मिलने से दम घुट रहा है। यह तो वृत्र है, वारक है, मेरे व्यापक रूप का आच्छादक है, विरोधी है। वृत्र के तोड़ने में, वृत्र के साथ युद्ध करते हुए उसे नष्ट करने में देव ! तुम्हीं मुझे कल्याण कारी सिद्ध हुए हो। तो देव ! आओ। मेरे बंधनों को तोड़कर मुझे मुक्त करो, संकीर्णता से निकालकर मुझे मेरा समग्र विस्तार दो। देवो ! आदित्यो ! तुम सुन्दर दानी हो। तुम वसु हो, उजड़े को बसाने वाले हो। तुमने बहुतों के रथ को कठिनाइयों से पार किया है। आज मुझे भी समस्त पापों से पार लगा दो। पाप दुर्ग है, सीमा में आबद्ध करने वाला है। इसके पाशों से, आवरणों से पार होकर ही पुण्य का प्रशस्त, विस्तृत क्षेत्र प्राप्त होता है जहाँ सबकी ताति है, समृद्धि है, व्यापक भूमा की मंगलमयी अवस्था है।

यूयं नः पुत्रा अदितेरदब्धा अभिक्षमध्वं युज्याय देवाः। (ऋ० २-२८-३)

हे देवो ! हे अदिति के पुत्रो ! हे अखण्ड प्रकाश में निवास करने वालो। माता पृश्नि के अमृत दुग्ध का पान करने वालो ! हे अनागस स्थिति का अनुभव करने वालो ! मुझे अपना सायुज्य दो, अपनी मैत्री, अपनी संगति प्रदान करो। मुझे क्षमा करो, पापों को मिटाकर मेरा उद्धार करो।



पुरुष सूक्त

अमर कोष ने पुरुष का अर्थ चेत्रज्ञ आत्मा किया है। आत्मा और परमात्मा दोनों ही अर्थों में इसका प्रयोग प्राचीन वाङ्मय में उपलब्ध होता है। गीता ने तीन पुरुषों की कल्पना की है: क्षर, अक्षर तथा पुरुषोत्तम। सांख्य ने प्रकृति तथा पुरुष दो मूल तत्वों की कल्पना में पुरुष को प्रकृति से पृथक कर दिया है, परन्तु गीता ने प्रकृति-विनिर्मित ब्रह्माण्ड को क्षर पुरुष की संज्ञा दी है। अद्वैत वाद का आश्रय लेकर ऐसा किया गया है जिसमें पुरुषोत्तम ही अपनी परा तथा अपरा द्विविध प्रकृति में प्रविष्ट हुआ अक्षर तथा क्षर रूप में भासित होता है। उसकी एक प्रकृति अष्टधा है और दूसरी जीव रूपा है। अष्टधा प्रकृति में पाँच तत्व तथा मन, बुद्धि एवं अहंकार सम्मिलित हैं।

बृहदारण्यक उपनिषद् के निम्नाङ्कित शब्द भी पुरुष की व्याख्या करनेवाले हैं:—स यत्पूर्वोऽस्मात् सर्वस्मात् सर्वान् पाप्मनः औषत् तस्मात् पुरुषः। ओषति ह वै स तं योऽस्मात् पूर्वो बुभूषति य एवं वेद ॥ १-४-१। पुर् का अर्थ है पूर्व या प्रथम तथा औषत् का अर्थ है जलाया। क्योंकि आत्मा ने इस सब से पूर्व समस्त पापों को जलाया, अतः वह पुरुष कहलाता है। इस आत्मा से जो प्रथम या पूर्व होना चाहता है, उसको भी वह आत्मा जला देता है।

यहाँ आत्मा की अपूर्वता प्रकट की गई है। आत्मा से पूर्व या प्रथम या श्रेष्ठ कोई अन्य नहीं है। आत्म-ज्ञान ही पापों को जलाने वाला है। इस रूप में पुरुष का अर्थ हुआ 'जिसने सर्व प्रथम पापों को जलाया।'

निरुक्त ने 'पुरि शरीरे शेते'—पुर रूप शरीर में शयन या निवास करने के कारण आत्मा को पुरुष कहा है। इस अर्थ में गीता के तीन पुरुषों का भाव भी स्पष्ट हो जाता है। ब्रह्माण्ड रूपी शरीर में निवास करने वाला पुरुष एक है। विभिन्न योनियों की एक-एक इकाई रूप शरीर में निवास करने वाला पुरुष

दूसरा है और इन दोनों से श्रेष्ठ, परन्तु दोनों का ही प्रेरक एवं धारक पुरुष तीसरा है—

> प्रकृतिः क्षरमित्युक्तं पुरुषोऽक्षर उच्यते।
> ताविमौ प्रेरयत्यन्यः स परः परमेश्वरः॥
> (शिवपुराण, वायु संहिता पूर्व भाग ४-१६)

पुरुष का एक अर्थ और हो सकता है : पुरु अर्थात् समूह या बहुत्व में शयन करने वाला[1] अथवा समूह का विभाजन करने वाला। 'पॄ पूरणे आप्यायने वा' धातु से भी इस शब्द की सिद्धि हो सकती है। जो साधकों को पूर्ण या आप्यायित करने वाला है, तृप्ति एवं शान्ति देने वाला है, वह परमात्मा पुरुष है। जीवात्मा मन तथा इन्द्रियों को पूर्णता तथा प्रसन्नता देने के कारण पुरुष है। पुर् का अर्थ अग्रगमन भी है। आत्मा स्वयं आगे बढ़ता तथा दूसरों को भी आगे बढ़ाता है।

पुरुष सूक्त में जिस पुरुष का वर्णन है, उस पर सभी अर्थ घट सकते हैं। परमात्मा के विश्व रूपी वपु का वर्णन करते हुए अध्यात्म रामायण कार कहता है :—

> सूक्ष्मं ते रूपमव्यक्तं देहद्वयविलक्षणम्।
> दृग्रूपमितरत्सर्वं दृश्यं जडमनात्मकम्॥
> तत्कथं त्वां विजानीयाद् व्यतिरिक्तमतः प्रभो!
> हिरण्यगर्भस्ते सूक्ष्मं देहं स्थूलं विराट् स्मृतम्॥
> भावना विषयो राम सूक्ष्मं तेऽध्यात्ममङ्गलम्।
> भूतं भव्यं भविष्यच्च यत्रेदं दृश्यते जगत्॥ (१।३१,-३४)

---

[1] नारायण का अर्थ है:—नरो के समूह नार को जिसने अपना अयन (घर) या निवास स्थान बनाया है। सृष्टि के कारण रूप आपः (जलों) को भी नार की संज्ञा प्राप्त है।

यह जो इतर सब दृश्यात्मक जड़ जगत् चक्षुओं का विषय बना हुआ है, वह अनात्मक है। इसके भी स्थूल तथा सूक्ष्म दो रूप हैं; परन्तु आप का अव्यक्त सूक्ष्म रूप तो स्थूल तथा सूक्ष्म दोनों शरीरों से विलक्षण है। फिर मेरा यह मन मन से व्यतिरिक्त आप के रूप को कैसे जाने? इसी हेतु विश्ववपु के रूप में आप की कल्पना की गई है। और जैसे एक सूक्ष्म तथा दूसरा स्थूल शरीर होता है, वैसे ही हिरण्यगर्भ (महत्तत्व की दशा) आपका सूक्ष्म शरीर है और विराट (निर्मित ब्रह्माण्ड को दशा जिसका प्रतीक विराट अर्थात् सूर्य है) आप का स्थूल शरीर है।

यह सब भावना का विषय है और ध्यान करने वालों के लिये कल्याणकारी है, अन्यथा कहाँ आपका स्वरूप और कहाँ यह सूक्ष्म तथा स्थूल देहों की मिथ्या कल्पना! आप तो वस्तुतः अशरीरी हैं। यह काल से कलयित, भूत-वर्तमान-भविष्य रूपी जगत आप के ही अन्दर आश्रय पाता और दृष्टि गोचर होता है। आप इसके अन्दर हैं, ऐसा कथन तो आप के अपरिमित तथा सर्वाश्रय रूप को परिमित तथा आश्रित बना देगा। आप में यह सब है—यह कथन ही उचित है। इस सब से तो आप न जाने कितने विशाल हैं!

अध्यात्मरामायणकार की कितनी भव्य एवं उदात्त कल्पना है। पुरुषसूक्त इसी हेतु इस सब को प्रभु का एक पाद—चतुर्थांश मात्र—कहता है। यह सब भी कितना है, इसे भी हम नहीं जान पाते, तो उस पुरुष का ज्ञान हमें कैसे हो सकता है? उसकी कोई इयत्ता नहीं, कोई माप नहीं। वह सुविमात्र है, अतः अविज्ञेय है—यही कहा जा सकता है।

तो उस अविज्ञेय को कैसे समझें? जीवन की एकांत घटिकायें उसका कुछ आभास तो देती ही हैं। भले हो हम उसे उसके समग्र रूप में न समझ सकें, पर उसका कुछ ज्ञान तो हमारी स्वल्पशक्ति द्वारा हो ही सकता है। यह जो लोक है और इसके अन्दर पीछे अलोक है—यह स्थूल तथा सूक्ष्म रूप का ही तो है। दोनों रूपों में विक्षोभ है, चांचल्य है—वैसा ही जैसा इस साढ़े तीन हाथ

के शरीर तथा इसके छिपे, पर, नाना क्रियाओं में अभिव्यक्त मन के अन्दर है। इन दोनों से पृथक एक क्षोभ-रहित, अकम्प, अविचल अवस्था हो सकती है जिसे अचल या स्कम्भ या निर्वात अवस्था कह लीजिये। जागरण तथा स्वप्न अवस्थाओं में जो विक्षुब्ध अवस्था रहती है, वह सुषुप्ति में लुप्त हो जाती है। जब चांचल्य के अभाव का अनुभव यहाँ हो सकता है, तो लोक एवं अलोक से परे भी उसका अनुभव किया जा सकता है। ऋषि इसे अव्यय अवस्था कहते रहे हैं। पुरुष सूक्त इसी को त्रिपात् ऊर्ध्व अवस्था का नाम देता है।

पुरुष सूक्त है तो चारों वेदों में, परन्तु मंत्रसंख्या, मंत्रक्रम तथा मंत्रपद सर्वत्र समान नहीं हैं। ऋग्वेद में १६ मंत्र हैं। यह दशम मण्डल का ९० वाँ सूक्त है। यजुर्वेद में २२ मंत्र हैं। यह ३१ वाँ अध्याय है। ऋग्वेद के १६ मंत्र यजुर्वेद के इस अध्याय के प्रथम सोलह मंत्र हैं, परन्तु मंत्रक्रम में ही नहीं, मंत्रगत शब्दों में भी छः स्थानों पर अन्तर है। ऋग्वेद के प्रथम मंत्र के तृतीय चरण में 'विश्वतोवृत्वा' है तो यजुर्वेद में 'सर्वतः स्पृत्वा' है। ऋग्वेद के द्वितीय मंत्र में 'भव्यं' है तो यजुर्वेद में 'भाव्यम्' है। पाँचवें मंत्र के प्रारम्भ में 'तस्मात्' के स्थान पर यजुर्वेद में 'ततः' है। ऋग्वेद का ग्यारहवाँ मंत्र यजुर्वेद का दशवाँ है जिसके तृतीय चरण में 'आसीत' क्रिया नहीं है, तृतीय चरण में 'किम्' के स्थान पर 'की' तथा चतुर्थ चरण में 'किम्' के स्थान पर 'का' है। ऋग्वेद मंत्र १३ (यजु १२) के द्वितीयार्ध में भी पदान्तर है। ऋग्वेद में (अथर्व में भी) 'मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत्' है तो यजुर्वेद में 'श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत्' है। यजु में मुख से अग्नि तो ऋक् में अग्नि के साथ इन्द्र (विद्युत) भी उत्पन्न होता है। यजु में श्रोत्र से वायु तथा प्राण तो ऋक में प्राण से वायु उत्पन्न होती है। ऋक् मंत्र ८ में 'आरण्यान्' है तो यजु मंत्र ६ में 'आरण्याः' है और यही अथर्व में भी है। पाँचवें मंत्र के पश्चात् क्रम भिन्न हो गया है। ऋग्वेद का छठाँ तथा सातवाँ मंत्र यजुर्वेद का क्रमशः १४ वाँ तथा नवाँ मंत्र है। इसी प्रकार ऋग्वेद के ८ से १० तक के मंत्र यजुर्वेद में ६ से ८ तक हैं तथा ११ से १४ तक मंत्र १० से

१३ तक के मंत्र हैं। पन्द्रहवाँ तथा सोलहवाँ मंत्र ज्यों का त्यों है—न क्रम में अन्तर है न पदों में। यजुर्वेद में १६ वें मंत्र के पश्चात् ६ मंत्र अधिक हैं।

सामवेद में संख्या ३१७ से ३२१ तक केवल पांच मंत्र हैं जिनमें पांचवाँ मंत्र क्रम तथा पद दोनों में, यजुर्वेद से मिलता है। प्रथम मंत्र के तृतीय चरण में 'सर्वतः' यजुर्वेद से तो 'वृत्वा' ऋग्वेद से लिया गया है। द्वितीय मंत्र ऋक्-यजु का चतुर्थ मंत्र है, परन्तु तृतीय चरण में 'ततः' के स्थान पर 'तथा' और चतुर्थचरण के 'साशनानशने' के स्थान पर 'अशनानशने' है। सामवेद के तृतीय मंत्र का प्रथमार्ध ऋग-यजु के द्वितीय मंत्र का प्रथमार्ध है, परन्तु उत्तरार्ध उनके तृतीय मंत्र से लिया गया है जिसमें 'विश्वा' के स्थान पर 'सर्वा' शब्द रखा गया है। सामवेद के चतुर्थ मंत्र का प्रथमार्ध ऋक्-यजु के तृतीय मंत्र का प्रथमार्ध है। अन्तर है प्रारम्भ में ही 'एतावान्' के स्थान पर 'तावान्' रखना, परन्तु उसका द्वितीयार्ध उनके द्वितीय मंत्र का द्वितीयार्ध है।

अथर्ववेद, काण्ड १९, सूक्त ६ के पुरुषसूक्त में १६ मंत्र हैं जिनके क्रम तथा पद दोनों में ऋक तथा यजु से अन्तर है। प्रथम मंत्र ऋग्वेद के समान है, केवल 'सहस्रशीर्षा' के स्थान पर 'सहस्रबाहुः' पद का अन्तर है। ऋग्-यजु का द्वितीय मंत्र अथर्ववेद का चतुर्थ मंत्र है, किन्तु 'उतामृतत्वस्य' के पश्चात् उसमें निम्नांकित शब्द रखे गये हैं :—ईश्वरो यदन्येनाभवत् सह। ऋक्-यजु के शब्द हैं—ईशानो यदन्नेनातिरोहति। तृतीय मंत्र में 'एतावान्' के स्थान पर 'तावन्तः' तथा महिमा के स्थान पर 'महिमानः' है। शेष मंत्र ज्यों का त्यों है। अथर्व का ५ वाँ मंत्र यजुर्वेद का दसवाँ तथा ऋग्वेद का ११ वाँ मंत्र है। पदों में यजुर्वेद से मेल खाता है, केवल तृतीय चरण में 'आसीत' क्रिया का अभाव है। मंत्र ६ के द्वितीय चरण के अन्त में कृतः के स्थान पर 'अभवत्' और तृतीय चरण के प्रारम्भ में 'उरु' के स्थान पर 'मध्यं' शब्द है। मंत्र संख्या ७ ऋक के मंत्र संख्या १३ के समान है। अथर्व का नवम मंत्र ऋक-यजु का पाँचवाँ मंत्र है, परन्तु उसके प्रथम चरण में 'विराडग्रे समभवत्' है जो ऋक-यजु से भिन्न है। मंत्र संख्या ८, १०, १२, १४, और १५ क्रमशः ऋक के

मंत्र संख्या १४, ६, १०, ८ और १५ से ज्यों के त्यों मिलते हैं। यजुर्वेद में भी ये मंत्र इसी रूप में हैं, केवल मंत्र १४ में 'आरण्याः' शब्द यजु के समान है, ऋग्वेद में 'आरण्यान्' शब्द है। अथर्व मंत्र संख्या १२ के द्वितीय चरण में 'ये च' के पद का 'च' अधिक है जो ऋक् यजु में नहीं है। १५ वें मंत्र को छोड़ कर मंत्रों के क्रम में भी अन्तर है। अथर्व का १६ वाँ मंत्र ऋक् या यजु किसी से नहीं मिलता। अथर्व का द्वितीय मंत्र केवल द्वितीयार्ध में सामवेद के द्वितीय मंत्र के समान है, केवल प्रारम्भिक पदों का क्रम पलट गया है और अन्त में 'अभि' के स्थान पर अथर्व में 'अनु' है। अथर्व मंत्र ११ ऋग्वेद का ७ वां तथा यजु का ९ वाँ मंत्र है, अन्तर है प्रथम चरण में 'बर्हिषि' के स्थान पर 'प्रावृषा', द्वितीय चरण में 'अग्रतः' के स्थान पर 'अग्रशः' तथा चतुर्थ चरण में 'ऋषयः' के स्थान पर 'वसवः' शब्दों का प्रयोग। इसी प्रकार मंत्र संख्या १३ में 'छंदांसि' के स्थान पर तृतीय चरण के प्रारम्भ में 'छन्दोह' रखा गया है।

क्रम तथा पद दोनों प्रकार के अन्तरों ने अर्थ पर भी कहीं-कहीं प्रभाव डाला है। यथा ऋक्-यजु के द्वितीय मंत्र के चतुर्थ चरण का अर्थ है—जो अन्न के द्वारा बहुत बढ़ता है। यही शब्दावलि सामवेद के चतुर्थ मंत्र के अन्त में भी है। परन्तु अथर्व के चतुर्थ मंत्र में शब्द अन्य हैं जिनका अर्थ है : जो अन्य के साथ अस्तित्व रखता था। ऋग्वेद के १३ वें तथा अथर्व के ७ वें मंत्र में प्राण से वायु की उत्पत्ति है, तो यजुर्वेद के १२ वें मंत्र में श्रोत्र से वायु तथा प्राण दोनों उत्पन्न होते हैं। यजुर्वेद, ऋग्वेद तथा सामवेद के प्रथम मंत्र में शब्द है:—'सहस्रशीर्षा' जिसका अर्थ है 'सहस्रों सिरों वाला' परन्तु अथर्ववेद के प्रथममंत्र में शब्द है—'सहस्रबाहुः' जिसका अर्थ है 'सहस्रों भुजाओं वाला'। ऋग्वेद के सप्तम तथा यजुर्वेद के नवम मंत्र में शब्द 'बर्हिषि' है जिसका अर्थ है वेदी या कुश पर, परन्तु इसके स्थान पर अथर्ववेद मंत्र ११ में शब्द है—'प्रावृषा' जिसका अर्थ है 'वर्षा ऋतु द्वारा'। ऋग्वेद तथा यजुर्वेद में सोलहवां मंत्र है : 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः' आदि। यह मंत्र अथर्ववेद में

नहीं है। इसके स्थान पर मंत्र है :—भूर्ध्नो देवस्य बृहतो अंशवः सप्त सप्ततीः। राज्ञः सोमस्या जायन्त जातस्य पुरुषादधि।" दोनों मंत्रों के भाव पृथक्-पृथक् हैं। एक का आशय है :—देवों ने यज्ञ के द्वारा ही यजनीय देव का यजन किया। वे प्रथम धर्म थे। ऐसा करके महिमा सम्पन्न देवों ने उस नाक लोक को प्राप्त किया जहाँ पूर्व के साध्यदेव रहते हैं। अथर्व वेदीय मंत्र कहता है :—'विराट पुरुष के उत्पन्न होने पर राजा सोमदेव के विशाल मूर्धा से सात सत्तर किरणें उत्पन्न हुईं।' सात सत्तर का योग सतत्तर तथा गुणा चार सौ नब्बे होता है। ज्योतिष या खगोल के विद्वान ही बता सकेंगे कि सतत्तर या चार सौ नब्बे अंकों में कौन सा रहस्य छिपा पड़ा है।

अथर्व वेद सोमवेद कहलाता है। इसे अथर्वाङ्गिरस या भृग्वाङ्गिरस वेद भी कहते हैं। गोपथ ब्राह्मण ने इसे सुवेद भी कहा है। सोम ब्राह्मणों का राजा कहलाता है। अथर्ववेदी ब्रह्मा यज्ञों में सभी ऋत्विकों का नियंत्रण करता है। अतः वह अपनी दीप्ति के कारण राजा ही है। रचना में विराट या सूर्य के पश्चात् सोम की उत्पत्ति होती है। वह सोम या चन्द्र भी नक्षत्रों का राजा है। यह चन्द्र आपोमय है—

चन्द्रमा अप्स्वन्तरा सुपर्णो धावते दिवि। ऋ० १।१०५।१, साम० ४१७; अथर्व० १८।४।८९ तथा यजु० ३३–९०।

इसके अतिरिक्त एक सोम या आपोमण्डल और भी है जो स्वः से लेकर जनः लोक तक फैला हुआ है जिसका सोम निरन्तर सूर्याग्नि में आहुत होता रहता है और जिसके कारण सूर्याग्नि निरन्तर प्रज्वलित होती रहती है। यज्ञ की यह प्रक्रिया यदि सृष्टि में सक्रिय न होती तो सूर्य जो ब्रह्माण्ड को ताप, प्रकाश तथा प्राणशक्ति प्रतिपल देता रहता है, लगातार व्यय करने के कारण कभी का समाप्त हो गया होता। इस प्रकार दोनों सोम या आपोमण्डल सात लोकों की स्थिति में सहायक का कार्य कर रहे हैं। यही इनके सात अंशु हैं। तैत्तिरीय उपनिषद् के पंचम अनुवाक में—'महः इति चन्द्रमाः। चन्द्रमसावाव

सर्वाणि ज्योतींषि महीयन्ते।' इन शब्दों में दूसरे चन्द्रमण्डल का स्पष्ट उल्लेख हुआ है क्योंकि महः लोक स्वः लोक से भी ऊपर है।

जिन सात अंशुओं का वर्णन ऊपर किया गया है, उन्हीं के दशविध देव-प्राणों के[1] भेद से सत्तर रूप हो जाते हैं। और इन सत्तर के भी शरीरी या ब्रह्माण्डीय सात धातुओं[2] के कारण या सूर्य के सात पुत्रों के कारण (ऋ० १/१६४, अथर्व ९/९) सात गुणित रूप चार सौ नब्बे हो जाते हैं। इस प्रकार सोमराजा के विशाल दिव्य शीर्ष से सोममयी अजस्र प्राणधारा फैल कर इस सृष्टि रूपी यज्ञ के संचालन में सहयोग दे रही है। ऋग्वेद और यजुर्वेद यज्ञ से प्राप्त देव-फल की स्तुति करते हैं, तो अथर्ववेद सृष्टि संचालन में यज्ञ के साधन भूतप्राणों की महिमा का वर्णन करता है।

मंत्रक्रम में जो अन्तर है, उसके कारण ऋग्वेद में विराट की उत्पत्ति के पश्चात् ही काल यज्ञ का वर्णन आ जाता है। सृष्टि में आकाश की उत्पत्ति के साथ ही काल का आविर्भाव है। काल के तीन विभाग दिन में प्रातः, मध्याह्न तथा सायं और वर्ष में वसन्त, ग्रीष्म तथा शरद हैं। वैसे ये तीन विभाग प्रत्येक पदार्थ पर लागू किये जा सकते हैं। पदार्थ का प्रारम्भ, पदार्थ की प्रौढ़ता तथा पदार्थ का अन्तकाल वैसा ही है जैसा दिन या वर्ष का विभाग अथवा किसी प्राणी का बाल, यौवन एवं वार्धक्य का समय। काल यज्ञ के पश्चात् सर्वहुत यज्ञपुरुष का वर्णन चल पड़ता है। यजुर्वेद में काल यज्ञ का वर्णन सर्वहुत यज्ञपुरुष के विभागों के वर्णन के पश्चात् आता है। काल यज्ञ के

---

[1] दश साकम जायन्त देवा देवेभ्यः पुरा॥

येत आसन् दश जाता देवा देवेभ्यः पुरा। पुत्रेभ्यो लोकं दत्वा कस्मिन्स्ते लोक आसते॥ अथर्व ११–८–३, १०। प्राण ही उक्षा है, सिंचक है। अतः आगे मंत्र १३ में देवों को ससिचः नाम दिया है।

[2] श्रीमद्भागवत ८–७–२८ में (छंदांसि साक्षात्तव सप्तधातवः) वैदिक ७ छंदों को सात धातु कहा है।

पश्चात् ही वहाँ सात परिधियों तथा इक्कीस समिधाओं का वर्णन है। ऋग्वेद में यह आधिदैविक यज्ञ के पश्चात् आया है। सृष्टिरूपी यज्ञ में सर्वप्रथम देव ही ऋत्विक के रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। मानव होताओं का यज्ञ देवयज्ञ के पश्चात हुआ—ऐसा स्पष्ट कथन यजुर्वेद के मंत्र संख्या १७ में प्राप्त होता है। यजुर्वेद में ऋग्वेद के १६ मंत्रों से व्यतिरिक्त जो मंत्र आते हैं उनमें दर्शन तथा नीति सम्बन्धी कथन भी आ गये हैं। आगे इन सब पर प्रकाश पड़ेगा।

अब हम पुरुष सूक्त के मंत्रों पर विचार करते हैं। इसके लिए हम यजुर्वेद के पुरुषसूक्त को ही अपने विचार का आधार बनावेंगे क्योंकि इसमें २२ मंत्र हैं जिनमें ऋग्वेद के सम्पूर्ण सोलह मंत्र भी आ गये हैं। क्रम में अन्तर अवश्य है, पदों में भी है, पर वह केवल छः स्थानों पर है और उनमें भी एक ही स्थान का पद-भेद अर्थ में अन्तर डालता है, अन्य स्थानों के अन्तर गौण हैं।

पुरुष सूक्त का दर्शन नारायण ऋषि ने किया था। इसका देवता अर्थात् प्रतिपाद्य विषय पुरुष है। सूक्त के प्रथम मंत्र में कहा गया है कि यह पुरुष सहस्त्रों शिरों, आंखों और पैरों वाला है। सहस्त्र का अर्थ यहाँ अनेक है। अद्वैत तथा द्वैत दृष्टि से अर्थ में अन्तर पड़ेगा। अद्वैत दृष्टि से अधिदैवत जगत के सहस्त्रों ब्रह्माण्डों के सहस्त्रों द्यौशिर होंगे, सहस्त्रोंसूर्य-चन्द्र नेत्र होंगे और सहस्त्रों भूमियाँ पैर होंगे। आधिभौतिक जगत के सहस्त्रों प्राणियों के सहस्त्रों शिर मानों उस एक अद्वैत पुरुष के ही सहस्त्रों शिर हैं। अनन्त नेत्र और पैर मानों उसी के अनन्त नेत्र और पैर हैं। द्वैत दृष्टि से वाच्य नहीं, लक्ष्यार्थ लगाना होगा। सहस्त्रों शिरों का अर्थ लक्षणा से अनन्त ज्ञान करना पड़ेगा। इसी प्रकार सहस्त्रों आँखों का अर्थ होगा सर्वदर्शिता और सहस्त्रों पैरों का अर्थ होगा अनन्त गतिशीलता तथा सर्व व्यापकता या सर्वप्राप्तता। इस रूप में परमेश्वर पुरुष है जिसके ज्ञान, दर्शन तथा प्राप्ति की कोई इयत्ता या सीमा नहीं है। ब्रह्माण्डों के अनेक द्यौरूपी शिर, भूमि रूपी पैर, सूर्य रूपी नेत्र तथा अनन्त प्राणियों के अनन्त शिर, पैर तथा नेत्र जिसके अन्तर्गत हैं, ऐसा वह सहस्त्रशीर्षा, सहस्त्राक्ष

तथा सहस्रपाद् पुरुष है, यह अर्थ भी हो सकता है। यह पुरुष भूमि को सब ओर से, बाहर तथा भीतर से, पूर रहा है; फिर भी इससे दश अङ्गुल आगे स्थित है अथवा इस दशाङ्गुल (अथवा पंचभूतात्मक तथा पंच प्राणात्मक परिमित परिमाणवाली) भूमि को भी अतिक्रान्त करके स्थित है।[1] भूमि से तात्पर्य यहां पृथ्वी ही नहीं, एक ब्रह्माण्ड भी नहीं, ब्रह्माण्डों की समष्टि से है।[2] परमात्मा इस ब्रह्माण्ड-समष्टि में व्याप्त है और इसके परे भी है। जहां तक निर्मित जगत है, वह भी हमारी दर्शन तथा परिगणन शक्ति की सीमा में नहीं आ पाता। फिर परमात्मा तो इससे भी परे है, उसका हृदयङ्गम करना तो असम्भव ही है।

द्वितीय मंत्र में कहा गया है कि यह सब जो है, जो था और जो होगा, पुरुष ही है। अद्वैत की दृष्टि से सब पुरुष ही है। शुद्धाद्वैतवादी कनक-कुण्डल

---

[1] सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्। स भूमिं सर्वतः स्पृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्। ऋग्वेद में 'सर्वतः स्पृत्वा' के स्थान पर विश्वतोवृत्वा है।

[2] कथन में उपलक्षण प्रणाली का भी प्रयोग होता है। इस प्रणाली द्वारा एक से उसकी सहवर्गीय अन्य सब वस्तुओं का ज्ञान करा दिया जाता है। यथा पंच भूतों में से प्रारम्भिक आकाश अथवा अन्तिम भूमि के वर्णन द्वारा सभी भूतों अथवा इनसे बने जगत का वर्णन अभिप्रेत होता है। आकाश का गुण शब्द है। अतः वाक् द्वारा आकाश ही नहीं, समस्त पंच भूतों का ज्ञान, अनेक स्थानों पर ब्राह्मणों तथा उपनिषदों की उक्तियों में उपलब्ध होता है। इसी प्रकार यहां भूमि से तात्पर्य निखिल सृष्टि या सृष्टियों से भी हो सकता है। ऋग्वेद १-१०८-९ तथा १० में तो पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा द्यो तीनों को ही अवम, मध्यम तथा परम पृथ्वी कहा गया है। ऋ० १०-१४-१६ में तिस्रो द्यावः तथा तिस्रो भूमीः को मिलाकर षडुर्वी संज्ञा भी दी गई है। उर्वी पृथ्वी का पर्यायवाची है। सायणाचार्य ने अथर्व ७-२६-१ के भाष्य में "पार्थिवानि इत्यत्र पृथिवी शब्देन पृथिव्यन्तरिक्ष द्युलोका उच्यन्ते" शब्दों द्वारा इसी मत का समर्थन किया है।

न्याय का प्रयोग करके कहते हैं कि जैसे स्वर्ण से कुण्डल, अंगूठी, हार आदि अनेक प्रकार के आभूषण बन जाते हैं और फिर स्वर्ण में परिणत हो जाते हैं, वैसे ही पुरुष से सूर्य, चन्द्र, बृहस्पति, पृथ्वी, मनुष्य, पशु आदि बनते रहते हैं और अन्त में पुनः पुरुष में परिणत हो जाते हैं। अतः जो कुछ है, पुरुष ही है। द्वैतवादी कहते हैं कि पुरुष सर्व व्यापक है। उससे व्यतिरिक्त यहां कुछ भी नहीं है। यहां जो कुछ जात है और जात के चारों ओर भी जो कुछ है, वह सब पुरुष से परिपूर्ण है। जो उत्पन्न हुआ है तथा होगा, वह सब मर्त्य है, विनश्वर है, परन्तु इस सब पर वह परम पुरुष शासन करने वाला है। वह इस सब में व्याप्त है, अविनाशी भाव से स्थित है, इसी हेतु अन्तर्यामी बना हुआ अन्दर से ही सबका नियमन कर रहा है, सबकी सत्ता का हेतु बना हुआ है। वह है, इसी हेतु यह सब है। वह न होता, तो यह सब कुछ भी न होता। इसकी सत्ता उसी की सत्ता के कारण है। और इस जात अर्थात् मर्त्य के अतिरिक्त जो अमर्त्य है, अमृतत्व है वा मोक्ष है, उसका भी शासक, ईशान, नियामक वही है। अमृतत्व का एक विशेषण मंत्र में दिया है कि यह अन्न अर्थात् भोग में सब से बढ़कर है। अतः अमृत्व का अर्थ यहाँ मोक्ष लोक है। यह सर्वोत्कृष्ट तृतीय धाम भी कहलाता है। 'यत्र देवा अमृतमानशानाः'—इस मोक्षधाम में देव अमरता का उपभोग करते हैं। यह भोग है तो बृहत एवं दीर्घ पर सावधि है। मुण्डक ३-२-६ में इसअवधि को परान्तकाल कहा गया है जो ३६ हजार बार सृष्टि की उत्पत्ति और प्रलय का समय है। इतने समय तक जीव मोक्ष के आनन्द को भोगता है। मर्त्य लोक कर्म तथा भोग लोक दोनों है। मानव योनि में ये दोनों ही लोक दिखाई देते हैं। हम कर्म या प्रयत्न भी करते हैं और किये हुए कर्मों का फल भी भोगते हैं। मानव से नीचे की पशु आदि योनियाँ केवल पाप कर्मों के भोग के लिये हैं और निरय कहलाती हैं। मानव योनि से ऊपर की योनियां भी भोग योनियाँ हैं जो स्वर्ग लोक से सत्य लोक तक बसी हुई हैं। इन्हें उत्कृष्ट मोक्ष-सुख-भोग की देवसाध्य-योनियाँ

कहते हैं। इनका भी नियामक वही पुरुष है।[1] मोक्ष आनन्द की एक विशिष्ट स्थिति है। जीवात्मा इसमें स्वतन्त्र होकर विचरण करता है। एक ब्रह्माण्ड के स्वः से लेकर सत्य लोकों की प्रलयावस्था में यह दूसरे ब्रह्माण्ड के इन्हीं लोकों में पहुँच जाता है। आनन्द रूप प्रभु के आश्रय में इसकी गति अबाध रहती है। मुक्तात्मा किसी एक ब्रह्माण्ड की पृथ्वी के शिखर अर्थात् स्वः अथवा द्यौ में बँध कर रहेंगे, ऐसा नियम नहीं है। 'न ते दिवो न पृथिव्या अधिस्नुषु'—यहाँ या वहाँ नहीं, वे कहीं भी जा सकते हैं। ३६ हजार बार सृष्टि और प्रलय की अवधि एक ब्रह्माण्ड को लेकर है। श्री मद्भागवत के तृतीय स्कन्ध के ग्यारहवें अध्याय में एक कल्प के पश्चात भूः, भुवः तथा स्वः तीन लोकों की ही प्रलय मानी गई है। इस प्रलय में महः, जनः, तपः तथा सत्य लोक बने रहते हैं, और मुक्तात्मा इनमें ब्रह्मा की परमायु (परान्तकाल या दो परार्ध) तक रहकर मोक्षानन्द का भोग करते हैं। इस मतके अनुसार उन्हें कल्प के पश्चात् होनेवाली नैमित्तिक प्रलय में अन्य ब्रह्माण्डों के ब्रह्मलोकों में जाने की आवश्यकता नहीं रहती।

तीसरे मंत्र में कहा गया है कि इतना जो मर्त्य और अमर्त्य, अवम तथा परम अथवा अवर भोग, कर्म-भोग-मिश्र तथा उत्कृष्ट भोग लोक है अथवा पृजन, कर्मवान और स्वर्वान है, या अध, मध्य तथा ऊर्ध्व धाम और उनमें रहने वाले प्राणी हैं—यह सब उसकी महिमा हैं, उसके महत्व के अभिव्यंजक हैं। इस जगत और जीवन द्वारा पुरुष की ही महिमा प्रकट हो रही है। इस महिमा से, महत्त्व के अभिव्यंजक सूत्रों से, पुरुष और भी बड़ा है, ज्येष्ठ है, श्रेष्ठतर है। गुण ही नहीं, मात्रा की दृष्टि से देखें तो यह सब जो सत्तावान है, भूत है, पुरुष के एक पाद, एक भाग के बराबर है। उसके तीन पाद (अर्थात् भूत या जातमात्र से कई गुना = त्रिपाद) द्यौ में अमृत रूप हैं। मर्त्य भाग

---

[1] पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनाति रोहति॥

जितना है, उससे तिगुना अमर्त्य भाग है। पुरुष को हिरण्य गर्भ या महत्तत्व तक सीमित करने वालों के लिए कोष यदि चतुष्पाद है तो लोक उसका एक पाद मात्र हैं। महत्तत्व में से लोक लोकान्तर बन भी गये और फिर भी वह तीन भाग अवशिष्ट रहा। वर्तमान वैज्ञानिकों की परिभाषा में प्रतप्त उष्ण गैस समूह का एक स्फुलिंग ही तो विराट या सूर्य था जो एक ब्रह्माण्ड का निर्माता बना। ऐसे अनेक ब्रह्माण्ड उससे बने होंगे, बन रहे हैं और बनते रहेंगे, पर उस मूल कोष रूपी सामग्री का सम्पूर्ण व्यय नहीं हो सकेगा। पुरुष-सूक्त इस मूल तत्व को पुरुष कहता है जिसके एक पाद से सब कुछ निर्मित होता रहता है, फिर भी उसका तीन चौथाई भाग अमृत बना रहता है। अमृत भाग मर्त्य से कई गुना बड़ा है, यही कथन यहाँ अभिप्रेत है।[1]

अथर्ववेद १०-७-१० में 'यत्र लोकांश्चकोषांश्च' कह कर लोक तथा कोष दोनों को पृथक कर दिया है। एक-एक ब्रह्माण्ड में भू से सत्य तक सात-सात लोक हैं जिनमें विराट से उत्पत्ति-क्रम चला है। विराट से भी पहले हिरण्यगर्भ पुरुष है जिसके स्फुलिंगों से अनेक विराट तथा उनसे अनेक सप्त लोकी ब्रह्माण्डों की रचना हुई है। इस हिरण्य गर्भ से भी पहले स्कम्भ है। यही वस्तुतः ऊर्ध्व और त्रिपाद है। कहने के लिए हिरण्यगर्भ को भी ब्रह्माण्डों की अपेक्षा त्रिपाद कहा जा सकता है, क्योंकि लोक-सीमा से वह भी परे है और लोकों के लिये कोष है, पर उससे भी ऊपर स्कंभ है, जो सबका आधार है। लोक मिटकर कोष में समा जाते हैं और कोष से फिर लोक-निर्माण होता है। यह चक्र निरन्तर चलता रहता है। मूलकोष प्रकृति है। इसमें से जितने कोष से हिरण्यगर्भ पुरुष और उससे विराट तथा लोक-लोकान्तर बनाये जाते हैं, वह स्कम्भ की मूल शक्ति प्रकृति का अंश मात्र है। जिसे हम अमृत कहते हैं, वह भी दो प्रकार का है। एक स्वः से लेकर सत्य तक देव-साध्यों का मोक्ष लोक है

[1] एता वानस्य महिमा अतो ज्यायाश्च पूरुषः।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।

जिसके पांच विभाग हैं। ऋग्वेद ९—११३ में इन्हीं पाँच लोकों को ब्रह्म का विष्टप, काम-निकाम-तृप्ति से परिपूर्ण आनन्द-मोद-मुद-प्रमुद से भरे हुए, ज्योतिष्मन्त, स्वर्हित तथा अमृत लोकों की संज्ञा दी गई है। ये देव-साध्यों के भोग-लोक हैं, मोक्ष-धाम हैं। इन पांच मोक्ष-लोकों का वर्णन छान्दोग्य ३—खण्ड ६ से १० तक में दिया है। ११ वें खण्ड में मूल अमृत पुरुष का उल्लेख है जहां लोकों का उदय-अस्त कुछ नहीं होता। यह मोक्ष से भिन्न दूसरा अमृत है। 'त्रिपादस्यामृतं दिवि' में आये अमृत शब्द का तात्पर्य यही मोक्ष से भी ऊपर अमृत है। मोक्ष भोग लोक है और अनित्य है, यह नहीं। यह तो विशुद्ध नित्य अमृत है।

पुरुष के एक पाद को मर्त्य और त्रिपाद् को जो अमृत कहा गया है, वह जगत और जीव की दृष्टि से है। जगत बार-बार जन्म लेता और प्रलय में लीन हुआ करता है। जीव भी कर्मापेक्षया विविध प्रकार की योनियों में आता जाता रहता है। इन दोनों की अपेक्षा से ही पुरुष को कर्ता तथा कर्म फल प्रदाता के रूप में, एक पाद से सम्बद्ध, उपस्थित किया गया है। पुरुष का अपना रूप तो मोक्ष लोकों से भी ऊपर शिव है। हम जीवात्मा भी मल, विक्षेप तथा आवरण से शून्य होकर शिवरूप बन जाते हैं। पर प्रभु तो सदैव शिव स्वरूप है। हम शिव रूप बन सकते हैं, इसलिये उसे शिवतर भी वेद ने कह दिया है। उससे बढ़कर शिव या आनन्द रूप तो यहाँ कोई अन्य है ही नहीं। अद्वैतवाद के शब्दों में यदि एक पाद को दुःखी-सुखी और त्रिपाद् को अमृत मानें तो कथन में व्याघात दोष आ जायगा। अतः द्वैतवादी दृष्टि ही मान्य है। पुरुष आनन्दरूप है, परन्तु जीव कर्म-विपाक से क्लेश में पड़ता है और प्रभु को प्राप्त करके आनन्दमय बनता है।

चतुर्थ मंत्र में कहा है कि अधः अर्थात् इस सृष्टि में पुरुष का एक पाद है, उसका त्रिपाद् तो ऊर्ध्व अर्थात् इस सृष्टि के ऊपर प्रकाशित हो रहा है। उसके एक पाद में ही जगत तथा जीवन का आवागमन है, त्रिपाद में नहीं। यहाँ जो स—अशन तथा अनशन अर्थात जीव और अजीव सृष्टि दिखाई देती

है, उसी से चारों ओर फैली है।[1] जो अनशन है अर्थात भोजन नहीं करती वही सजीवों का भोजन बनती है। मिट्टी अजीव है, जल उसे खा जाता है। इसलिये जल को जीवन कह देते हैं, परन्तु जल को अग्नि, अग्नि को वायु और वायु को आकाश खा जाता है, अतः सापेक्ष दृष्टि से एक अनशन और दूसरा साशन बनता जाता है। यह तो प्राकृतिक जगत की बात हुई। जीव की दृष्टि से वृक्षों का भोजन मिट्टी, जल, वायु, अग्नि आदि सभी हैं। इन सबको खाकर वृक्ष बढ़ता, फूलता तथा फलता है। यह आहार उसे न मिले तो वृक्ष मर जायगा। वृक्ष के पत्ते पशुओं का आहार बनते हैं। उसके फल पशु, पक्षी तथा मानव सभी के द्वारा खाये जाते हैं। पशु-पक्षियों को भी मनुष्य खा जाता है। पशुओं का दूध पीकर तो अनेक मनुष्य जीवन यापन करते हैं। पशुओं में व्याघ्रादि मनुष्यों तक को खा जाते हैं। इसी आधार पर 'जीवो जीवस्य जीवनम्' की कहावत चल पड़ी है। अतः जीव और अजीव शब्दों की अपेक्षा स-अशन और अनशन कहना ही अधिक युक्ति संगत है। वेद में इन्हीं शब्दों का प्रयोग हुआ है।

यहां जो स-अशन तथा अनशन प्रमेय सम्मुख दिखाई देते हैं, उसी पुरुष से चारों ओर फैले हैं। सृष्टि की प्रारम्भिक अवस्था में ऋत या प्राण को स-अशन और सत्य या रयि को अनशन नाम देंगे।

पांचवें मंत्र में विराट की उत्पत्ति का वर्णन है। विराट भी उसी पुरुष से उत्पन्न हुआ है। पुरुष विराट के ऊपर है, विराट पर भी शासन करने वाला है। विराट विशेष रूप से प्रदीप्त को कहते हैं। हमारे ब्रह्माण्ड का सूर्य विराट है। यही वह इकाई है जो हिरण्य गर्भ[2] में से फूट कर बाहर निकली जैसे

---

[1] त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः पादोस्येहाभवत्पुनः। ततो विष्वङ् व्यक्रामत साशनानशने अभि।

[2] ऐतरेय उपनिषद कार ने आपः में से समुद्धृत करके जिस पुरुष को मूर्छित किया है और उससे लोकपालों की उत्पत्ति का वर्णन किया है वह

प्रज्वलित पावक में से एक चिनगारी निकलती है। मंत्र कहता है कि यह इकाई उत्पन्न होते ही व्यतिरिक्त हो गई—अपना संसार अलग बनाने लगी—आकाश में घूमने लगी। यह जो भूमि और इस पर नगर या शरीर दिखाई देते हैं, इसके पश्चात् बने।[1] पुर का अर्थ नगर या शरीर दोनों है। जैसे नगर में प्राणी बसते हैं, वैसे ही शरीर में आत्मा।

प्रत्येक उत्पत्ति में माता और पिता की आवश्यकता होती है। सृष्टि के प्रारम्भ में ऋत पिता और सत्य माता है। निम्नांकित मंत्र में ऋत को स्पष्ट रूप से पिता कहा गया है :—

अहमिद्धि पितुः परिमेधामृतस्य जग्रभ। अहं सूर्य इवाजनि।
(ऋ० ८ ६/१० साम० १५२, १५०० अथर्व २० ११५/१)

यहाँ ऋत पिता है और सूर्य पुत्र है।

सूर्य का एक नाम इन्द्र भी है। निम्नोकित मंत्र में इन्द्र अर्थात् सूर्य को सत्य का सूनु कहा गया है :—

अभिप्र गोपतिं गिरा इन्द्रमर्चयथाविदे। सूनुं सत्यस्य सत्पतिम्।
(ऋ० ८ ६९/४ सा० १६८, १४८९ अथर्व २०-२२/४)

ऋत जब पिता है तो सत्य भी माता निश्चित है। सत्य का पुत्र ही सत्य का पालक है क्योंकि पुत्र ही आगे चल कर रक्षक बनता है। पति का अर्थ पालक और रक्षक है। यह शब्द सूनु के साथ ही रखा है।

उपर्युक्त दोनों मंत्रों से सूर्य के पिता ऋत और माता सत्य सिद्ध होते हैं।

यही हिरण्यगर्भ जान पड़ता है। मनु ने इसी को हैमाण्ड कहा है। इसी से एक-एक ब्रह्माण्ड के निर्माता एक-एक विराट पुरुष की उत्पत्ति होती है। विराट से फिर भूमि आदि अन्य ग्रह-पिण्डों का जन्म होता है।

—ऋक्षचन्द्रग्रहाः सर्वे विज्ञेयाः सूर्यसंभवाः॥ (वायु पुराण)

[1] ततो विराडजायत विराजोऽअधिपूरुषः। स जातोऽअत्यरिच्यत पश्चाद् भूमि मथो पुरः।

विराट सूर्य है। ऋत के शुक्र और सत्य के शोणित से इसकी रचना हुई है। जैसे शरीर का केन्द्र जीवात्मा है, वैसे ही निखिल ब्रह्माण्ड-समष्टि का केन्द्र प्रजापति परमात्मा है। सूर्य भी अपने ब्रह्माण्ड का केन्द्र है। यज्ञ करने के लिए केन्द्रस्थ होना आवश्यक है। यज्ञ में वेदी या कुण्ड केन्द्र में रखा जाता है जिसमें अग्नि का आधान किया जाता है। फिर उस अग्नि पर आहुतियां पड़ती हैं। विराट या सूर्य ही ब्रह्माण्ड के केन्द्र में स्थित धधकता हुआ अग्नि कुण्ड है जिस पर सोम या आपो मण्डल की आहुतियां पड़ रही हैं। विराट की उत्पत्ति इसी यज्ञ की सूचना दे रही है। पुरुष सूक्त में इसी हेतु आगे के मंत्र सर्वहुत यज्ञ की महिमा का वर्णन करते हैं।

छठे मन्त्र में इस यज्ञ को सर्वहुत नाम दिया गया है। यह नामकरण या विशेषण अतीव सार्थक है। विराट देव जन्म लेते ही व्यतिरिक्त हो गये, अपने पृथक अस्तित्व को सार्थक करने में लग गये, सबसे अलग होकर अपनी ढाई चावल की खिचड़ी पकाने लगे। पृथक परिवार का निर्माण, सबसे अलग अपनी नई दुनियाँ बसाना हँसी-खेल नहीं है। इसके लिये अपने पूर्ण अस्तित्व की बाजी लगा देनी पड़ती है। जब कोई व्यक्ति परिवार से पृथक होकर अपना स्वतंत्र घर बनाता है, तब उसे समस्त सामग्री नये सिरे से जुटानी पड़ती है—घर, चारपाई, बिछौना, कपड़ा, दाल, आटा, चूल्हा, ईंधन, परात, तवा, थाली, चम्मच—नाना प्रकार की सामग्री एकत्र करनी पड़ती है। इस कार्य में उसे अपने सर्वस्व की आहुति देनी पड़ती है। अपनी कल्पना, ज्ञान, कर्तृत्वशक्ति सबसे काम लेकर इस अभिनव संभार को संभालना पड़ता है। विराट देव को भी सर्वहुत यज्ञ करना पड़ा। इसी यज्ञ द्वारा उन्होंने पृषदाज्य को एकत्र किया। आज्य का अर्थ है सामग्री, घी आदि। पृषत् का अर्थ है—नानावर्ण-मयी। संभृत का अर्थ है—इकट्ठी की गई, सम्यक प्रकार से भरण की गई। सामग्री ही क्यों, सर्वहुत यज्ञ में वायवी, आरण्य तथा ग्राम्य पशु = दर्शनशक्ति भी चाहिये। वायवी पशुत्व कल्पनाशक्ति में निहित है। आरण्य तो ज्ञान है

ही। ग्राम्य से तात्पर्य व्यावहारिक बुद्धि तथा उपयोगी कर्मशक्ति है। आज भी दर्शन में इन्हीं तीन शक्तियों की प्रधानता मानी जाती है।

विराट के अस्तित्व को सार्थकता देने के लिये अथवा उसे पूर्णता तक पहुंचाने के लिये सर्वहुत यज्ञ द्वारा इस आयोजन में चार प्रकार की यज्ञ सामग्री प्रस्तुत की गई :—नानावर्णमय आज्य, वायव्या, आरण्य तथा ग्राम्य पशु[1]। यह चार प्रकार का विभाग मूलतः दो का ही उपबृंहण है। मूल में तो ऋत तथा सत्य ही हैं। अघमर्षणसूक्त ने अभीद्ध तप से सर्वप्रथम यही दो प्रकट होते हैं। इन्हीं को हम पिता-माता भी कह चुके हैं। उपनिषदों में यही दो प्राण तथा रयि और ब्राह्मण ग्रन्थों में अग्नि तथा सोम नाम से प्रख्यात हैं। निस्सन्देह ये युग्म भी एक स्तर की कथा नहीं कहते। एक ही मूल युग्म का विस्तार सूक्ष्मतम, सूक्ष्मतर, सूक्ष्म तथा स्थूल स्तरों में होता रहता है। जो माता-पिता स्थूल रूप में दिखाई देते हैं, वे भी सूक्ष्म रूप में रज और शुक्र में विद्यमान हैं। रज और शुक्र भी मूलतः पृथ्वी और द्यावा के सूक्ष्मतम अंश हैं। पृथ्वी और द्यावा स्वयं रयि तथा प्राण अथवा सत्य एवं ऋत जैसे सूक्ष्म तत्वों से निर्मित हुए हैं। अतः छठे मंत्र के चार विभागों में पृषदाज्य सत्य या रयि है और तीन प्रकार के पशु ऋत या प्राणतत्व के अन्तर्गत हैं। यही दो विभाग ज्ञान और कर्म का रूप धारण करके आगे फिर चार विभागों में दिखाई देंगे जिसे मस्तिष्क का विभाजन कहा जा सकता है।

सृष्टि रूपी निर्मित सामग्री में इकाई तथा इकाइयों के समुदाय हैं। इकाइयां भी अनेक हैं। वृक्ष तथा वृक्षों के समुदाय तो हैं ही, वृक्ष स्वयं कई प्रकार के हैं : आम, अमरूद, जामुन, शहतूत, पीपल, वट, आदि। इनके अपने-अपने समुदाय हैं। अतः समुदाय कई प्रकार के हैं। यही अवस्था मनुष्यों की है। एक मनुष्य है और मानव—समाज है। मनुष्य कई प्रकार के हैं, परन्तु उन्हें प्रमुख रूप से चार भागों में विभाजित किया जाता है। इन चार विभागों से

---

[1] तस्माद्यज्ञात् सर्वहुतः सम्भृतपृषदाज्यम् ।
पशूं स्तांश्चक्रे वायव्यानारण्याग्राम्याश्च ये ।

ही चार वर्णों के समुदाय बनते हैं। वर्ण-विभाग में सामाजिक विकास परिलक्षित होता है, पर एक इकाई, एक व्यक्ति, एक मानव का विकास एक नहीं कई जन्मों में हो पाता है।

व्यक्तित्व का विकास आश्रमों द्वारा होता है। आश्रम चार हैं। ब्रह्मचर्य गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा सन्यास। मन्त्र में जिस आज्य तथा पशुत्व का वर्णन है, उसमें पृषदाज्य ब्रह्मचर्य है, ग्राम्य पशु गृहस्थियों का द्योतक है, जो विवाह के खूंटे में बांधे जाते हैं, आरण्य पशु वानप्रस्थ है तथा वायव्य पशु सन्यासी है, परिव्राजक है। आरण्य तथा वायव्य पशु खूंटे से नहीं बांधे जाते। वे वन तथा व्योम में स्वच्छन्दता से घूमते हैं। जब मनुष्य उन्हें खूंटे से बांधता या पिंजड़ों में बन्द करके रखता है, तब वे भी गृहस्थ की तरह पालतू हो जाते हैं और अपनी विशेषता खो बैठते हैं। वानप्रस्थी या सन्यासी भी गृहस्थ होते हुए वैसे बने हैं। यह वैयक्तिक विकास का पतन है। जो गृहस्थ कोटि से ऊपर उठ गया, उसे ऊपर ही स्थित रहना चाहिये। वैराग्य की शोभा इसी में है।

वर्णों में शूद्रवृत्ति से वैश्य, वैश्य से क्षत्रिय और क्षत्रिय से ब्राह्मी वृत्ति का सम्पादन भी कई जन्मों में हो पाता है। आश्रमों में गृहस्थ-आश्रम सभी वर्णों के लिये है। वानप्रस्थ में क्षत्रिय तथा ब्राह्मी वृत्ति वाले ही जा पाते हैं। सन्यास में केवल ब्राह्मी वृत्ति वाला ही जा पाता है और वही उसमें स्थिर भी रह सकता है। जिनकी वृत्ति में ब्राह्मणत्व नहीं होता, वे ही सन्यास से पतित होते हैं।

छठे मंत्र में विराट देव को सामग्री मिल गई और पशु अर्थात् दर्शन-शक्ति भी प्राप्त हो गई। सातवें मन्त्र में वाणी का विभाजन है। यह वाणी भी चार प्रकार की है और छठे मन्त्र में वर्णित चार प्रकार के पदार्थों से भी सम्बन्ध रखती है। यह भी सर्वहुत यज्ञ से ही प्रकट हुई। बिना आहुत हुए, बिना त्याग या बलिदान के, कहीं कुछ प्राप्त भी होता है? विराट की विराटता इसी सर्वहुत यज्ञ के कारण है। आगे मंत्र संख्या २० में विराट के जिस ब्राह्मरुच का वर्णन है, ब्रह्मकान्ति के प्राप्त करने का उल्लेख है, वह भी उसके तपश्चरण

तथा आहुत होने का ही फल है। सातवें मंत्र के अनुसार उस सर्वहुत यज्ञ से ऋचायें, साम (ऋचाओं पर निर्मित गान), छन्द (अथर्व) तथा यजु प्रकट हुए।[1] यह चार प्रकार की वाणी भी वस्तुतः दो प्रकार की है—वही ऋत एवं सत्य का मूल युग्म जो सृष्टि के कण-कण में, अङ्ग-अङ्ग में नाना प्रकार से व्याप्त है। इन दो प्रकारों में गद्यात्मकता (सत्य) तथा पद्यात्मकता (ऋत) की प्रमुखता है। ऋक् पद्यमय है, यजु गद्यमय। साम भी पद्यमय है, पर उसका पद्य पृथक न होकर ऋक्मय है। अन्तर है केवल पद्य का गीतिका में बँधकर फैलना। ऋक् यदि केन्द्र है तो साम उसका परिधि है। अथर्व में पद्य कुछ अपना है तो अधिकांश ऋक् का। ऋक् ज्ञान-प्रधान है तो अथर्व विज्ञान-प्रधान। यजु गद्यमय है; उसका पद्यभाग (संपूर्ण यजु का लगभग चतुर्थांश) ऋक् से लिया गया है। यहाँ हम उपलब्ध चार संहिताओं को दृष्टि में रख कर लिख रहे हैं। वस्तुतः ऋक्, यजु, साम तथा छन्द या अथर्व रूप में वाणी का विभाजन सूक्ष्म है और वह प्रत्येक प्रकार के लोक तथा रचना के साथ सम्बद्ध है। छठे मन्त्र की सामग्री को ही लीजिये। उसमें पृषदाज्य अथर्व है, वायव्य पशु साम है, आरण्य पशु यजु है और ग्राम्य पशु ऋक् है। ऋक् में जो ज्ञानकाण्ड की ऋचायें हैं वही साम में संगीत का रूप धारण कर वायु में उड़ती हैं, फैलती हैं। अथर्व ओषधियों का ज्ञान देता है तथा ज्वर-यक्ष्म-राक्षस आदि के निवारण का प्रयत्न करता है। यजु यज्ञ के कर्मकाण्ड का विधायक है। इनको भी जो हम सामग्री और वाक् का नाम देते हैं वह भी सत्य या रयि तत्त्व की प्रधानता के कारण, क्योंकि जिस सर्वहुत यज्ञ से ये उत्पन्न हुए वह प्राण-प्रधान है। सामान्य रूप से दोनों तत्त्व रचना में मिले-जुले चलते हैं, केवल प्रधानता और अप्रधानता के कारण तत्तत् नाम से अभिहित किये जाते हैं। हां, ये यज्ञ से उत्पन्न हुए हैं, अतः स्वयं भी यज्ञरूप ही हैं। समग्र सृष्टि यज्ञरूप है। प्रजा यज्ञ की सहचारिणी है—ऐसा वेद-ब्राह्मणादि से लेकर गीता तथा आगम शास्त्रों

---

[1] तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥

तक का मान्य मत रहा है। प्रत्येक नवीन यज्ञ से नवीन प्रजा या वस्तु की रचना होती रहती है, यह भी इतिहास-सम्मत है।

सामग्री-विभाजन तथा वाणी-विभाजन के उपरान्त आठवें मन्त्र में मनुष्योपयोगी पशुओं का विभाजन वर्णित हुआ है। इस विभाजन में दोनों ओर दांत वाले अश्वों के साथ गो, अज तथा अवि का उल्लेख है।[1] विराट् पुरुष की सर्वहुत यज्ञ से उत्पन्न पशुओं के ये चार नाम पूर्वोक्त विभाजन के ही समानान्तर हैं। इनमें भी आप ऋक्-यजु-साम-अथर्व तथा पृषदाज्य-वायवी-आरण्य-ग्राम्य विभाजन को देख सकते हैं। यही विभाजन आगे चल कर मानव समाज के चातुर्वर्ण्य तथा अधिदैव समाज में भी दिखाई पड़ेगा। अध्यात्म में तो दिखाई दे ही रहा है, क्योंकि संपूर्ण सूक्त में पुरुष के यज्ञ का ही वर्णन है और पुरुष के अङ्ग-शिर बाहु, उदर तथा पैर ही तो सृष्टि में इधर उधर सर्वत्र आहुत होते हुए तथा नवीन पदार्थों की रचना करते हुए दिखाये गये हैं। इस यज्ञ से रचना ही नहीं, रक्षण का कार्य भी चल रहा है।

गीता ने यज्ञ को प्रवर्तित चक्र कहा है। पुरुषसूक्त के आठवें मन्त्र में ऋक् ज्ञान है। इस ज्ञान से यजुरूपी कर्मकाण्ड उत्क्रान्त होता है। ज्ञान ही प्रवणायित होकर साम का उपासनाकाण्ड बनता है। ज्ञान पर भक्ति ऊढ़ हो जाती है। ज्ञान भक्ति को शिर पर उठाकर ले जाता है। यहाँ भक्ति पुनः कर्मठता को जन्म देने वाली बन जाती है। इस प्रकार कर्म-ज्ञान-भक्ति का चक्र चलता रहता है। यजु ऋक् द्वारा संस्कृत होकर साम के सोम में परिणत होता है और पुनः वही बन जाता है। अधिदैव में जल वाष्पाग्नि में, वाष्पाग्नि मेघ में और मेघ पुनः जल में परिणत होता रहता है। हम जो द्रव्यमय यज्ञ करते हैं, उसमें भी चक्र का यही प्रवर्तन है। जिस घी की आहुति दी जाती है, वह वायु तथा आकाश में सूक्ष्म होकर फैलता है। फिर वनस्पति आदि में वर्षा के साथ आकर पुनः घी-दुग्धादि में परिणत हो जाता है। वेदत्रयी की भी

[1] तस्मादश्वा अजायन्त येके चोभयादतः।
गावो ह जज्ञिरे तस्मात् तस्माज्जाता अजावयः॥

वही दशा है और इसी हेतु वेद एक है। वह चार भागों में विभक्त दिखाई देता है। मूलतः एकत्व है। एक ही दो और फिर दो ही चार हो जाता है और अन्त में चार पुनः एक हो जाता है।

चारों वेदों में सात प्रकार के छन्द तथा सात प्रकार के स्वर हैं। ये स्वर या छन्द मनरूपी आकाश में उड़ते हैं। इन्हें सप्तऋषि अर्थात् सातपक्षी भी कहा जाता है। वेदों का सम्बन्ध स्वर तथा छन्दों के साथ प्रारम्भ से ही चला आता है। सप्त व्याहृतियां, सात लोक, सात धातुओं आदि का भी कोई संबंध सात स्वरों तथा छन्दों के साथ होना चाहिए।

निम्नांकित मंत्र में अग्नि की सात जिह्वाओं, समिधाओं आदि का सम्बन्ध है :—

सप्त ते अग्ने समिधः सप्तजिह्वाः सप्तऋषयः सप्त धाम प्रियाणि।
सप्तहोत्राः सप्तधा त्वा यजन्ति सप्तयोनीरापृणस्व घृतेन। यजु १७।७९

उपर्युक्त तीन मन्त्रों में एक क्रम और दृष्टिगोचर होता है। यह क्रम सामग्री, चेतना तथा आकृतियों से सम्बन्ध रखता है। मंत्र छः में सामग्री का, मंत्र सात में ज्ञान या चेतना का और मन्त्र आठ में आकृतियों का उल्लेख है। सामग्री में विस्तार होता है, चेतना उसमें प्रविष्ट होकर अनेक प्रकार की आकृतियों को जन्म देती है।

नवम मंत्र में इस सबसे पूर्व उत्पन्न यज्ञपुरुष के वेदी की कुशा पर अभिषिञ्चन का वर्णन है और लिखा है कि देव, साध्य तथा ऋषियों ने इसी अभिषिंचित पुरुष द्वारा यज्ञ का सम्पादन किया।[1] अथर्व वेद में बर्हिषि के स्थान पर प्रावृषा शब्द है जिसका अर्थ है वर्षाऋतु द्वारा।

सृष्टि की पूर्वावस्था देवयुग की अवस्था है जिसमें प्राणतत्व की प्रबलता है। विराट पुरुष तप रहा है, श्रमलीन है। इसी तप से, प्राण के श्रम से, आप या स्वेद प्रकट हुआ। यह आप या स्वेद वर्षा के रूप में परिलक्षित हुआ। इसी से विराट पुरुष का अभिषेक सम्पन्न हुआ। यज्ञ-प्रक्रिया में वेदी पर कुशा

[1] तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः।
तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये।

बिछाई जाती है। उस कुशा पर यजमान बैठता है और कुशों में ही उसके ऊपर जल का अभिषिञ्चन किया जाता है। कुश पवित्र माने गये हैं। प्रावृट या वर्षा ऋतु में ही कुश उत्पन्न होते हैं। अतः यजु एवं अथर्व के शब्दों में सामंजस्य है। इस प्रकार जिस यज्ञ का प्रारम्भ हुआ, उसमें पुरुष की ही प्रधानता है।

देव, साध्य तथा ऋषि कौन हैं? ये भी प्राणतत्त्व के ही विविध रूप हैं। इन्हें पार्थिव शरीरधारी नहीं कहा जा सकता। 'येभ्यो माता मधुमत्पिन्वते पयः पीयूषं द्यौरदितिरद्रिबर्हा' मन्त्र में देवों की माता द्यौ है जो अदिति है—अखण्ड प्रकाश की स्थिति। देव इसी स्थिति में जन्म लेते और इसी में (दिवि चरम्) निवास करते हैं। भूमि की तथा मनुष्यादि की उत्पत्ति वसु में होती है। भूमि और जल भी देव कहलाते हैं, पर इनमें दिव्य अंश बहुत कम है। दिव्यता तैजस अथवा आग्नेय तत्त्व से प्रारम्भ होती है क्योंकि उत्थ, ऊपर उठना, ऊर्ध्व दिशा की ओर चलना अग्नि का ही कार्य है, जल या भूमि का नहीं। जल निम्नगा प्रवृत्ति रखता है। इसके पास आई वस्तु इसी में लीन हो जायगी, ऊपर की ओर नहीं उठ सकेगी। भूमि तो अपने 'गावपेट' के लिये प्रख्यात है ही। जो इसमें समा गया, फिर निकल नहीं पाया। यह अग्नि तत्त्व ही है जो जल को भी ऊपर ले जाता है और पृथ्वी के गर्भ में पड़े हुए बीजादि को अंकुरित करता हुआ ऊपर लाता है। अतः ऊर्ध्वीकरण अग्नि के साथ ही प्रारम्भ होता है। इसी हेतु दिव्यता, आर्यता एवं साध्यता आग्नेयता पर अवलम्बित है। दिव्यता में सौम्य आग्नेयता तथा प्राणवत्ता है। आर्षेयता में प्रकाश है, दर्शन है। साध्यता में तमोमयी उष्णता है। आकाशोत्पन्न सूक्ष्म यज्ञ इन्हीं सूक्ष्म तत्त्वों से निष्पन्न होता है। इस यज्ञ की प्रमुख विशेषता है दाना-दान, लेकर अपने पास न रखना, सबतक पहुँचा देना, आदान को सबका प्राप्य बना देना। भूमि और जल की भाँति अग्नि किसी भी पदार्थ को अपने पास नहीं रखता। उसे सूक्ष्म रूप देकर वायु द्वारा आकाश भर में फैला देता है, सब के लिये ग्राह्य बना देता है।

दसवें तथा ग्यारहवें मन्त्रों में प्रश्नोत्तररूप में पुरुष के उन अङ्गों का वर्णन है जो उसकी परा प्रकृति में प्रादुर्भूत हुए। अपरा प्रकृति का वर्णन आगे के मन्त्रों में है—गीता ने अपरा प्रकृति को अष्टधा तथा पराप्रकृति को जीव की संज्ञा दी है। प्रश्न किया गया है कि जब पुरुष का विशेषरूप से आधान किया गया, तब कितने विभागों में उसकी कल्पना या रचना की गई? उसका मुख क्या था, भुजायें क्या थीं, उरु या जंघा क्या थे और पैर क्या थे? उत्तर दिया गया है कि ब्राह्मण इसका मुख, क्षत्रिय बाहु तथा वैश्य जंघा थे और पैरों से शूद्र उत्पन्न हुए[1-2]।

मंत्र ६ में जो पृषदाज्य है, वही शूद्र है। इसलिए उसे पैर नहीं, पैरों से या पैरों के लिए उत्पन्न कहा है। साधारण सामग्री कच्चा माल है जिसमें से विशिष्ट पदार्थों की निर्मिति होती है। शूद्र तो हम सब हैं ही, इस शूद्रत्व में से जिस वैश्यत्व, क्षत्रियत्व या ब्राह्मणत्व का निर्माण होता है, वह अपनी-अपनी अलग विशेषता रखता है। यह विशेषता आन्तरिक होती है, परन्तु बाह्य क्रिया-कलाप में अभिव्यक्ति भी पाती है। इन विशेषताओं को मंत्र ६ में वायव्य, आरण्य तथा ग्राम्य और मंत्र ७ में साम, यजु तथा ऋक् कहा गया है। साम ब्राह्मण है, यजु क्षत्रिय है, ऋक् वैश्य है और अथर्व शूद्र है।[3] जो शूद्रत्वरूप सामग्री है, वह भी शिल्पकला द्वारा संवारी जा सकती है। वैदिक संस्कृति ने कच्चे माल को भी परिमार्जित कर चमकाने का प्रयास किया है

[1] यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन्।
मुखं किमस्यासीत् किं बाहू किमूरू पादा उच्येते।

[2] ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽअजायत॥

[3] तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार—ऋग्भ्यो जातं वैश्यं वर्णमाहुः।
यजुर्वेदं क्षत्रियस्याहुर्योनिम्। सामवेदो ब्राह्मणानां प्रसूतिः।
पूर्वे पूर्वेभ्यो वच एतदूचुः॥ ३-१२-९

जिससे मानव समाज में उसका भी मूल्यांकन हो सके। ऊपर के तीन वर्गों में तो विशेषता दृष्टिगोचर होने ही लगती है। अथर्व में विज्ञान, शिल्पकला, रोगनिवारण आदि के तत्त्व भरे पड़े हैं। शिल्पियों की संज्ञा वेद में काल है।

पीछे हमने वायव्य को साम तथा आरण्य को यजु कहा है, चातुर्वर्ण्य में हम वायव्य को ब्राह्मण तथा आरण्य को क्षत्रिय मानेंगे और ग्राम्य या पालतू पशु को दुग्धप्रद होने के कारण समाज के पालक वैश्य का नाम देंगे। यह केवल दृष्टि-भेद है। एक अन्य दृष्टि से जिसमें उत्क्रमण से अवतरण होता है, ब्राह्मण को पूपदाज्य सामग्री कहा जायगा। व्यास के अनुसार 'न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्ममिदं जगत्'। प्रारम्भ में सब ब्राह्मण ही थे। क्रिया-भेद की आवश्यकता ने एक से चार वर्ण कर दिये। ब्राह्मण ही क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र में परिणत हो गया। इसी हेतु मनु ने अनुलोमज विवाह-विधि को मान्यता दी। ब्राह्मण का शूद्र तक अवतरण हुआ है। अतः वह चारों वर्णों की कन्याओं से विवाह कर सकता है। क्षत्रिय तीन वर्णों, वैश्य दो वर्णों तथा शूद्र अपने ही वर्ग की कन्या से विवाह करे। अवतरण से उत्क्रमण के लिये तपश्चर्या करनी पड़ती है। तब शूद्रत्व सामग्री का रूप धारण करता है जिसका संस्कार क्रमशः वैश्य, क्षत्रिय तथा ब्राह्मण में होता है।

यह संस्कार प्रयत्न-प्रसूत होने के कारण मानव योनि तक ही सीमित हैं। अन्य योनियां भोग योनियां हैं। वहाँ प्रयत्नज कर्म नहीं, सहज स्वाभाविक गतियां हैं पर वृत्ति-भेद सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है जो ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि विभाजन का आधार है। यह विभाजन पशु-पक्षियों तक में व्याप्त है। गौ ब्राह्मण है, अश्व क्षत्रिय है, अजा वैश्य है तथा अवि शूद्र है। हंस ब्राह्मण है, श्येन क्षत्रिय है, चया वैश्य है तथा काक शूद्र है। यह तात्त्विक व्यापकता वर्णमर्यादा को भी वैज्ञानिक रूप दे देती है। आधार सार्थक है, उसका व्यपोहन नहीं किया जा सकता। पर यह परमेश्वर की कृति के लिये कहा जा रहा है, मानवकृति के लिये नहीं। मानवकृत वर्णव्यवस्था तो आज अत्यन्त विकृत रूप धारण कर गई है। पतञ्जलि के काल में भी (विक्रम से २ शतक

पूर्व) माठरि तथा कौण्डिन्य जैसे ब्राह्मण ब्राह्मणपंक्ति से पृथक समझे जाते थे। ब्राह्मण क्षत्रिय बन रहे थे। बुद्ध तथा महावीर जैसे क्षत्रिय पूर्व से ही ब्राह्मण कार्य कर रहे थे। सांकर्य फैल चुका था। आज तो अवस्था और भी अधिक गिर गई है। पर इससे वैदिक वर्णव्यवस्था की वैज्ञानिकता पर आंच नहीं आती। वह शुक्र की प्रधानता पर अवलम्बित है।

मंत्र में ब्राह्मणादि को पुरुष के विभिन्न अवयवों के रूप में उपस्थित किया गया है। ये समस्त अवयव यज्ञ-कर्ता देवों के ही रूप में हैं। यज्ञक्रिया को निरन्तर अग्रसर करते रहना ही इनका उद्देश्य है। वेद आध्यात्मिक ज्ञान-यज्ञ करते हैं, तो ब्राह्मणादि वर्ग सामाजिक यज्ञ की साधना करते हैं। पशु तथा पक्षियों का कार्य भी अनजान में ही इस यज्ञ का सहायक बना हुआ है। एक मानव शरीर ही यज्ञ का सुन्दर क्षेत्र है जिसके सब अङ्ग पारस्परिक एकता के सूत्र में बंधे हुए यज्ञ का पुनीत सम्पादन कर रहे हैं। इन्द्रियां पृथक्-पृथक रूप से जो कुछ ग्रहण करती हैं, उसे मन को सौंप देती हैं। मन उस सबका समेकन करता हुआ समग्र शरीर तथा चेतना की सेवा में लगा हुआ है।

मंत्र १० में पुरुष के अङ्ग-विभाग का उल्लेख है। इस विभाग में एक तात्त्विक सिद्धान्त कार्य कर रहा है। एकत्व में यज्ञ की क्रिया सम्पादित नहीं हो सकती। एकत्व तो उसका उद्देश्य है। बहुत्व की सत्ता ही एकत्व की ओर प्रयाण करती है। अतः यज्ञ करने के लिये विभाग अपेक्षित है। शरीर यज्ञ में इन्द्रियों के तथा अंगों के विभाग हैं। सृष्टि में देव-विभाग तथा सामग्री-विभाग है। यज्ञ में भी ऋत्विक, होता, अध्वर्यु, उद्गाता, ब्रह्मा आदि का देव-विभाग तथा समिधा, आज्य, द्रव्य आदि का सामग्री-विभाग है। विभक्त होकर सब यज्ञ की साधना में लगते हैं, अपना-अपना कार्य-भाग सम्पादित करते हैं, और यज्ञ की परिपूर्णता में योग-दान देते हैं। सृष्टि यज्ञ है। इसमें पुरुष ही आहुत हुआ है। देव याजक हैं जो उसी के अङ्ग हैं। यज्ञकार्य से ही सृष्टि का संचालन होता है। विभाजन के सभी अङ्ग एक दूसरे के पूरक हैं। वे मिलकर कार्य करते हैं। उनके सम्मिलित कार्य की परिणति ही यज्ञ है। सृष्टिरूपी यज्ञ करके प्रलय में सब अङ्ग विश्राम करते हैं। सृष्टि होते ही पुनः

यज्ञ चल पड़ता है। प्रलय में एकत्व है, सृष्टि में विभाजन है, बहुत्व है। एकत्व का कोई लिंग नहीं, पहिचान नहीं। सृष्टि के बहुत्व एवं नानात्व में लिङ्ग हैं, चिह्न हैं। वे पहिचाने जाते हैं। प्रलय के विश्राम में अप्रकेतत्व है। वहाँ कोई किसी को नहीं पहिचानता।

मंत्र ११ में ब्राह्मणादि वर्ण सामाजिक यज्ञ करते हुए संपूर्ण समाज के विकास में संलग्न हैं। उनके सम्मिलित कार्य से समाज का उन्नयन होता है, तो एक-एक का विभक्त कार्य चेतना का भी विकास कर रहा है। शूद्रत्व वैश्यत्व में, वैश्यत्व क्षत्रियत्व में, क्षत्रियत्व ब्राह्मणत्व में और ब्राह्मणत्व सर्वहुत यज्ञपुरुष में विकसित हो रहा है।

चेतना के क्षेत्र में पुरुष के सर्वहुत यज्ञ का वर्णन करके नारायण ऋषि ब्रह्माण्डीय यज्ञ की ओर दृष्टिपात करते हैं। बारहवें तथा तेरहवें मन्त्रों में पुरुष के अवयव ब्रह्माण्ड पर घटाये गये हैं। ध्यान देने की बात है कि यह आरोप मानव समाज तथा ब्रह्माण्डीय घटकों पर तो किया गया है, परन्तु पशु-पक्षियों पर नहीं। एक बात और ध्यान आकर्षित करती है कि जैसे ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य को पुरुष के अनुरूप माना गया है, वैसे शूद्र तथा ब्रह्माण्डीय देवताओं अथवा ग्रहादि को नहीं। इन्हें पुरुष के अङ्गों से उद्भूत कहा गया है। ऐतरेय उपनिषद् के अधिदैव प्रकरण में भी ऐसा ही है, यद्यपि अध्यात्म प्रकरण में वैपरीत्य है। अथर्व के ज्येष्ठ ब्रह्मसूक्त में ऐसा नहीं है। वहाँ ब्रह्माण्ड के अवयव पुरुष के अवयव हैं। पुरुषसूक्त कहता है—चन्द्रमा पुरुष के मन से उत्पन्न हुआ। चक्षु से सूर्य, श्रोत्र से वायु तथा प्राण और मुख से अग्निदेव उत्पन्न हुए। नाभि से अन्तरिक्ष, शिर से द्यौ, पैरों से भूमि, श्रोत्र से दिशाओं तथा लोकों की रचना की गई[1][2]।

[1] चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षो: सूर्योऽजायत।
श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत।

[2] नाभ्या आसीदन्तरिक्षꣳ शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत।
पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात् तथा लोकाँ२ अकल्पयन्॥

अथर्ववेदीय ज्येष्ठ ब्रह्मसूक्त (१०-७-३२, ३३, ३४ तथा १०-८-१) में निम्नोंकित मंत्र आते हैं :—यस्यभूमिः प्रमा, अन्तरिक्षमुतोदरम् । दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः । यस्य सूर्यश्चक्षुः चन्द्रमाश्च पुनर्णवः । अग्निं यश्चक्र आस्यं तस्मै । यस्य वातः प्राणापानौ चक्षुरंगिरसोऽभवन् । दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानीः तस्मै० । यो भूतञ्च भव्यञ्च सर्वं यश्चाधितिष्ठति । स्वर्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ।

इन मंत्रों में भूमि हो जिसका पैर है, अन्तरिक्ष उदर है, द्यौ शिर है, सूर्य और पुनः नवीन बनने वाला चन्द्रमा चक्षु है, अग्नि मुख है, वात प्राणापान है, चक्षु या विद्युत अङ्गिरस या अङ्गों का रस है, दिशायें ज्ञान कराने वाले श्रोत्र हैं और जो भूत एवं भव्य का अधिष्ठाता होकर केवल आनन्दरूप है, उस ज्येष्ठ ब्रह्म को हमारा प्रणाम हो । यह कथन 'चक्षु से सूर्य उत्पन्न हुआ'—के समान नहीं है ।

ऐतरेय उपनिषद् के प्रारम्भ में ही पुरुष की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए ऋषि कहते हैं :—इस सब के पहले एक आत्मा ही था । उसने ईक्षण किया कि लोकों की रचना करूं । उसने इन लोकों को रचा : अम्भ, मरीची, मर, आप । द्यौ से परे वह अम्भ है, उसमें द्यौः प्रतिष्ठित है । अन्तरिक्ष मरीची है । पृथिवी मर है । जो नीचे हैं वे आपः हैं । उसने ईक्षण किया, ये तो लोक हैं, लोकपालों को रचूं । उसने जलों में से ही पुरुष को उठाकर मूर्छित कर दिया । वह अभितप्त और अभितप्त होता रहा । तब उसमें मुख फूटा—जैसे अण्डा फूटता है—मुख से वाणी निकली और वाणी से अग्नि । नासिका से दो रंध्र फूटे और उनसे प्राण तथा प्राण से वायु । दो आंखें निकलीं । आंखों से चक्षु (देखने की शक्ति) और चक्षु से आदित्य । इसी प्रकार दो कान—सुनने की शक्ति—दिशायें । त्वक्—लोम-ओषधि-वनस्पति । हृदय-मन-चन्द्रमा । नाभि-अपान-मृत्यु । शिश्न-रेतः-आपः प्रकट हो गये । अधिदेव की ये देवतायें उत्पन्न हो गईं । उन्हें भूख-प्यास लगी । आत्मा से बोलीं, हमें आयतन दो जिसमें प्रतिष्ठित होकर हम अन्न भक्षण करें । उनके सामने गाय, फिर अश्व लाया गया, पर

देवताओं को वे पर्याप्त (अलम्) प्रतीत नहीं हुए। जब पुरुष लाया गया, तो वे बोलीं, हां यह सुकृत है—अच्छा बनाया गया है। पुरुष ही निश्चित रूप से सुकृत है। आत्मा ने कहा—इसमें प्रवेश कर जाओ। अग्निदेवता ने वाणी होकर मुख में प्रवेश किया। वायु ने प्राण बन कर नासिकाओं में, आदित्य ने चक्षु होकर आंखों में, दिशाओं ने श्रोत्र होकर कानों में, ओषधि वनस्पतियों ने लोम बनकर त्वचा में, चन्द्रमा ने मन होकर हृदय में, मृत्यु ने अपान होकर नाभि में, जलों ने रेत बन कर शिश्न में प्रवेश किया।

ऐतरेय उपनिषद् के इस वक्तव्य में 'चक्षु से सूर्य निकला' वैदिक शैली की ही अनुकृति है। परन्तु आगे जब पुरुष में प्रवेश करने का प्रकरण आता है, तब अग्नि ही वाणी तथा आदित्य ही चक्षु बनते हैं। एक से दूसरा उत्पन्न नहीं होता। यह कथन मुख्य ही ब्राह्मण है—इस कथन से मेल खाता है। अतः उपनिषद् तो दोनों क्षेत्रों में वेद का ही अनुसरण करती है। अथर्व का ज्येष्ठ ब्रह्मसूक्त ब्रह्माण्ड के क्षेत्र में पुरुष के अङ्गों का आरोप वैसे ही करता है जैसे पुरुषसूक्त पुरुष के अवयवों का मानव समाज के विशिष्ट अंशों पर। पुरुषसूक्त की शैली विश्लेषमयी होने के कारण महत्वपूर्ण है।

यजुर्वेदीय पुरुषसूक्त में श्रोत्र से वायु तथा प्राण दो देव उत्पन्न होते हैं, परन्तु ऋग्वेदीय तथा अथर्ववेदीय पुरुषसूक्तों में श्रोत्र से नहीं, प्राण से वायु उत्पन्न होता है। दो देवों की पूर्ति इन दोनों पुरुषसूक्तों में मुख से इन्द्र और अग्नि की उत्पत्ति लिखकर की गई है क्योंकि यजुर्वेद में मुख से केवल अग्नि की उत्पत्ति का ही वर्णन मिलता है। इससे ऋग्वेद यथा अथर्ववेद में श्रोत्रसम्बन्धी वह पुनरुक्ति नहीं हुई जो यजुर्वेद में पायी जाती है। यजुर्वेद में एक बार श्रोत्र से वायु तथा प्राण दो देवों की उत्पत्ति कहकर (मंत्र १२) पुनः द्वितीय बार मंत्र १३ में श्रोत्र से दिशाओं की तथा लोकों की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है।

ऐतरेय तथा वेद दोनों में पुरुष का उल्लेख है। अन्तर इतना ही है कि उपनिषद् में पुरुष की रचना आत्मा द्वारा होती है और यह पुरुष एक ओर

अधिदेव तथा दूसरी ओर अध्यात्म में प्रकट होता है। इनमें एक गीता का क्षर पुरुष है तथा दूसरा अक्षर पुरुष है। आत्मा (जो इन दोनों का जनक है) दोनों का मूल तथा अव्यय है—गीता के शब्दों में पुरुषोत्तम है। वेद में इस प्रकार का कथन नहीं है। वहाँ आधिदैविक जगत के ब्रह्माण्डीय देवताओं तथा मानव समाज का वर्णन है। अध्यात्म का वर्णन भी प्रासंगिक रूप में आ जाता है।

पुरुष के अङ्गों का जो आरोप मानव समाज तथा ब्रह्माण्डीय अवयवों पर किया गया है, उसमें क्या संगति है? ब्राह्मण पुरुष का मुख क्यों है? विचार करने पर संगति बैठ जाती है। जो कुछ हम देखते और सुनते हैं, उसे मुख द्वारा ही तो उच्चारित करते हैं। हमारा समस्त दर्शन और श्रवण मन में पच कर मुख की वाणी द्वारा अभिव्यक्त होता है। ब्राह्मण का मुख्य कार्य समाज को ज्ञान देना है जो वाणी के व्यापार के बिना सफल नहीं हो सकता। वाणी के लिखित तथा उच्चरित दो रूप हैं। दोनों ही रूप ज्ञान-दान के लिये उपयुक्त साधन हैं। मानव का पुरातनयुगीन ज्ञान वाणी के लिखित रूप में सुरक्षित है। मुख से बोलकर मैं कुछ दूर तक बैठे हुए व्यक्तियों को ही अपनी बात सुना सकता हूँ, पर लिखित रूप में मेरी वाणी दूर-दूर देशों के निवासियों तक पहुँच जाती है। अतः मुख की वाणी का जो कार्य पुरुष के अन्दर है, वही कार्य समाज में ब्राह्मण का है। यही बात अन्य अङ्गों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। बाहु शरीर की रक्षा करते हैं तो क्षत्रिय समाज की। ऊरू तथा मध्य भाग शरीर को पोषण देते हैं तो वैश्य कृषि-व्यापार आदि द्वारा सम्पत्ति उत्पन्न करके समाज का पोषण करता है। पैरों पर शरीर का भार है तो शूद्रों पर समाज की सेवा का भार है।

ब्रह्माण्डीय अवयवों के सम्बन्ध में भी संगति स्पष्ट है। चन्द्रमा ओषधियों का पति है और मन का निर्माण ओषधियों के साररूप से होता है। चक्षु और सूर्य का सम्बन्ध तो प्रख्यात है। वेद में सूर्य को कई स्थलों पर चक्षु कहा गया है। दोनों में दर्शन शक्ति है। मुख में वाणी है और वाणी अग्नि

के तैजस अंशों से निर्मित होती है।[1] अतः मुख से अग्नि उत्पन्न हुई, यह कथन भी संगत है। वायु से प्राण का सम्बन्ध तो स्पष्ट है, परन्तु श्रोत्र से उनका क्या सम्बन्ध है? श्रोत्र द्वारा जो स्वर अन्दर जाते हैं वे वायु तथा प्राण की सहायता से ही तो जाते हैं। आकाश में भरे हुए शब्द वायु की लहरों पर बैठ कर जब मेरे कानों में प्रवेश करते हैं, तभी वे मेरे लिये श्रवणीय बन पाते हैं। नाभि जैसे शरीर का केन्द्र या मध्य भाग है, वैसे ही अन्तरिक्ष ब्रह्माण्ड का मध्य भाग है। शिर शरीर का ऊर्ध्व भाग और प्रकाश का स्थान है, तो द्यौ ब्रह्माण्ड का ऊर्ध्व एवं प्रकाशपूर्ण भाग है। इसी प्रकार पृथ्वी ब्रह्माण्ड में पैर और दिशायें तथा लोक श्रोत्र के समान हैं। दिशाओं में लोक हैं, लोकों में प्रजा है। आँखें सामने देखती हैं, कान दाईं-बाईं सभी दिशाओं से सुनते हैं और लोक द्वारा लोक की बातें सुनते हैं। जो अलोक की बातें हैं, वे भी लोक द्वारा ही सुनी जाती हैं।

पुरुषसूक्त में पुरुष का सर्वहुत यज्ञ चल रहा है। ब्रह्माण्डीय देवता भी उत्पन्न होकर इस यज्ञ में अपना-अपना भाग दान दे रहे हैं। सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, वायु, अग्नि आदि सब सर्वहुत यज्ञ कर रहे हैं। इनका अपने लिए कुछ भी नहीं, जो कुछ है, समष्टिगत ब्रह्माण्ड के लिये। सूर्य क्या अपने लिये तपता है? चन्द्र की ज्योत्स्ना क्या चन्द्र को आल्हादित करती है? वायु क्या अपने लिये चलता है? अग्नि की उष्णता क्या अग्नि के लिये है? पृथ्वी का आधार, उसका धारक रूप तथा उस पर विकसित अन्न, फल, फूल आदि क्या पृथ्वी के काम आते हैं? नहीं, सब सर्वहुत यज्ञ करके एक दूसरे के सहायक बने हुए उस परम होता की इष्टि-साधना में लीन हैं। अपने लिए कोई कुछ नहीं चाहता, फिर भी सबका अस्तित्व इस यज्ञ द्वारा सुरक्षित है। अध्यात्म में भी यही हो रहा है। जो देवता इस शरीर में निवास करने लगे हैं, वे भी यज्ञ कर रहे हैं और समष्टिगत शरीर के हित-साधन में संलग्न हैं। हाथ सिर रहे

[1] छान्दोग्य अध्याय ६, खण्ड ६–४, ५

हैं तो चेतना के प्रकाश के लिये, कुछ अन्नादि ग्रहण करते हैं तो मुख तक पहुँचा देने के लिये। मुख भी अन्न को चबा कर दाढ़ों में बांध नहीं रखता, उसे आमाशय में पहुँचा देता है। आमाशय उसे रस बना कर रक्त में परिणत करता है और रक्तवाहिनी नाड़ियाँ उसे व्यान प्राण की सहायता से शरीर भर में पहुंचा देती हैं। एक द्वारा गृहीत आहार शरीर भर का आहार बन जाता है। ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय तथा दशविध प्राण सब अपना कार्य निःस्वार्थ भावना से करते हुए पुरुष के सर्वहुत यज्ञ को पूर्णतया सम्पादित करने में तल्लीन हैं। प्राण इन सब में प्रमुख माना गया है जैसे यज्ञ में सर्व-प्रमुख ब्रह्मा।

मानव समाज को भी सर्वहुत यज्ञ का यह आदर्श ग्रहण करना चाहिए। पुरुषसूक्त ने मानव समाज के विविध अङ्गों को पुरुष के ही विविध अङ्ग कहा है। ब्रह्माण्ड का द्यौ और पुरुष का शिर मानव समाज का ज्ञानीवर्ग या ब्राह्मण-समुदाय है। ब्रह्माण्ड की भूमि और पुरुष के पैर ही मानव समाज के श्रमजीवी शूद्र हैं। ब्रह्माण्ड का अन्तरिक्ष और पुरुष की नाभि मानव समाज का वैश्य या व्यापारी समुदाय है। और ब्रह्माण्ड में व्याप्त मरुत तथा पुरुष के प्राण और बाहु ही मानव समाज के क्षत्रिय हैं। फिर मानवसमाज इस सर्वहुत यज्ञ से क्यों हटता रहता है? उसके ये सभी अङ्ग परस्पर मिलकर कार्य क्यों नहीं करते? छीना-झपटी और आपाधापी में पड़कर एक अङ्ग दूसरे के लिये प्राण का कारण क्यों बन रहा है? क्या मानव समाज सहकारिता की भावना से वंचित है? अपरिचित है? यदि नहीं, तो हम एक दूसरे के मुख का ग्रास छीन कर दस्यु-वृत्ति को क्यों अपना रहे हैं? ज्ञानी, शूरवीर, धनी तथा श्रमी सब मिलकर मानवता को वरेण्यपद क्योंप्रदान नहीं करते? मानवता आज विदलित है, अपमानित है, पीड़ित है—केवल मानव के कारण। युद्ध की विभीषिका एवं रक्तपात ने उसके विनाश की घड़ियाँ उपस्थित कर दी हैं। ज्ञान विवाद में ही नहीं, रक्त पिपासुओं के हाथों को बलवान बनाने में लगा है। पवित्रधार जो

दीन के संत्राण के लिये उद्यत रहता था, आज अहमहमिका का स्वयं आखेट बनकर दीनजन-पीड़न में आहुत हो रहा है। धनियों का धन दान में नहीं, मद-संवर्धन में व्यय होता है और बेचारा श्रमजीवी? वह अबतक अनजान में ही पावन सामाजिक यज्ञ में चुपचाप भाग लेता रहा था, पर अब उसका अहं भी जोर मार रहा है और अपने श्रम का वह अपने लिए पूरा भुगतान चाहता है। सृष्टि तथा अध्यात्म के देव अपने नियत कार्य का निर्वाह किये चले जा रहे हैं, परन्तु सर्वहुत यज्ञ के अदर्शन यदि कहीं होते हैं, तो मानव-समाज में, राष्ट्र में, राष्ट्र-समूहों में। मनुष्यों के वर्ग के वर्ग नीति-निर्धारित प्रणालियों का परित्याग धड़ल्ले के साथ कर रहे हैं और अपने विनाश का बीज बो रहे हैं। क्या हम पुरुषसूक्त के पुनीत संदेश को सुनने में अशक्त हैं? मन्त्र संख्या १५ का अनुशीलन इस प्रश्न का समाधान करेगा।

निम्नांकित मंत्र भी इस सम्बन्ध में प्रेरणा-प्रद सिद्ध हो सकते हैं—

संगच्छध्वं संवदध्वं सं वोमनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानानाउपासते॥
समानो मंत्रः समितिः समानी समानं मनः सहचित्तमेषाम्।
समानं मंत्रमभिमंत्रये वःसमानेन वो हविषा जुहोमि॥
समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥

अथर्व ६-६४-१२,३ ऋ० १०-१९१-२,३,४

हे मनुष्यो! यदि तुम कल्याणकामी हो, तो मिलकर चलो, एक साथ बैठकर संवाद करो, तुम्हारे मन विरोधरहित होकर ज्ञान प्राप्त करें, वैसे ही जैसे पूर्व के संज्ञानी देव अपने-अपने निहित भाग की उपासना किया करते थे, सब मिलकर अपना-अपना कर्त्तव्य पालन करते हुए समष्टि का हित-साधन किया करते थे।

इन सबके मंत्र, समिति, मन तथा चित्त समान हों, सहकारभावना से

संयुक्त हों। इसी समान मंत्र से मैं तुम सबको अभिमंत्रित करता हूँ, समानता का यही मन्त्र मैं तुम सबको देता हूँ और समान हवि के द्वारा तुम सबको यज्ञ करने के लिये प्रेरित करता हूँ। तुम्हारे संकल्प और भाव समान हों। तुम्हारे मन समान हों जिससे तुम अच्छी तरह साथ-साथ रह सको।

मन्त्रों में निहित मानवकल्याण की कामना स्वार्थ के कालुष्य को दूर करके स्वकर्तव्य का पालन करते हुए, समष्टि के हित में, सर्वहुत यज्ञ करने से ही सफल हो सकती है।

मन्त्र १४ कहता है कि जब पुरुष ने सृष्टि-यज्ञ में अपने को आहुत कर दिया, तो देवों ने उस देवयुग में यज्ञ का विस्तार किया। इसके लिये सामग्री प्राप्ति में उन्हें कोई परिश्रम नहीं करना पड़ा। कालचक्र का प्रवर्तन हो चुका था। ऋतुयें क्रमशः अपनी-अपनी बारी से आने जाने लगी थीं जिनमें से वसन्त आज्य का, ग्रीष्म इन्धन का और शरद हवि का काम दे रही थी।[1]

सृष्टि के साथ दिक या देश यज्ञ की वेदी बन चुके थे। काल ने भी उस यज्ञ में सहयोग प्रदान किया। पृथ्वी के परिभ्रमण में उसका जितना भाग सूर्य के सामने आता रहता है, उतने में दिन और शेष भाग में रात्रि रहती है। दिन के पश्चात् रात्रि और रात्रि के पश्चात् दिन के आवागमन का एक चक्र सा चलने लगता है। चन्द्र का पृथ्वी के चतुर्दिक परिभ्रमण रात्रि के अन्धकार को कभी पूर्णतया और कभी आंशिक रूप से दूर करता रहता है। चन्द्र किरणों के संपर्क से ही ओषधि तथा वनस्पति विकसित होते हैं। सूर्य की किरणों के साथ प्राण शक्ति पृथ्वीमंडल पर अवतरित होकर जीवन, प्रकाश तथा उष्णता का संचार करती रहती है। सूर्य की किरणों से पृथ्वी तपती है, तो चन्द्र की किरणों से शीतल होती है। संताप जहां ग्रीष्म को जन्म देता है, वहीं जल को

---

[1] यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत।
वसन्तोऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्मइध्मः शरद्धविः।

वाष्प के रूप में ऊपर ले जाकर और मेघ के रूप में परिणत करके वर्षा ऋतु के आगमन की पीठिका भी प्रस्तुत कर देता है। दोनों से शस्य की उत्पत्ति होती है जो शरद् के आगमन के समय फलीभूत हो जाती है। प्राणियों को जहां ऊष्मा, शैत्य, पवन आदि की आवश्यकता है, वहां शस्य, जल आदि की भी, क्योंकि उत्पन्न होते ही अशना जो उनके साथ लग गई है। उसकी तृप्ति के साधन भी तो उपलब्ध होने चाहियें। भूख की तृप्ति यज्ञ द्वारा ही होती है और काल इस यज्ञ का सबसे बड़ा साधक है। काल चक्र का ऋतुक्रम नाना प्रकार के धनधान्य, कन्द, मूल, फल उत्पन्न करता रहता है। दैव जगत का यह यज्ञ जब से आरम्भ हुआ, तब से आज तक अबाध गति से चल रहा है। चंद्र, सूर्य, पृथ्वी, शुक्र, बुध, मंगल, बृहस्पति, शनैश्चर सबके सब इस यज्ञ में समान रूप से भाग ले रहे हैं। सूर्य सबका अग्रज होने के कारण सबके समक्ष आदर्श उपस्थित कर रहा है। फिर उसके अनुज उसका अनुकरण क्यों न करें?

मंत्र में वसन्त को आज्य कहा है। यज्ञ प्रकरण में आज्य का अर्थ घी है। घृत भी आज्य अर्थात् सामग्री है परन्तु चिकनी। वसन्त का वातावरण ही घृतमय, स्नेहित, रागमय, सचिक्कण होता है। फल, फूल, मंजरी, दाने, कोकिलस्वर सभी रसमय होते हैं। इस ऋतु में चर-अचर सम्पूर्ण जगत रस-स्निग्ध हो उठता है। घृत पड़ने से जैसे अग्नि प्रदीप्त हो उठती है, वसन्त के आगमन से वैसे ही जड़-चेतन का अन्तस्थल खिल उठता है। होली का रसीला पर्व इसी ऋतु में पड़ता है। अतः वसन्त को आज्य या घृत कहना सर्वथा संगत है। ग्रीष्म इध्म या ईंधन है। ईंधन सूखा होना चाहिये। शुष्क समिधा शीघ्र अग्नि पकड़ती है। वर्षा की गीली, आर्द्र लकड़ी जल्दी नहीं जलती। ग्रीष्म का कार्य ही है सुखाना। इस ऋतु में सूर्य की किरणें वृक्ष-वनस्पति, सर-सरित-सिंधु सभी से रस खींच कर ऊपर ले जाती हैं। शुष्कता ही शुष्कता चतुर्दिक् दृष्टिगोचर होने लगती है। सभी दिशाओं का उत्ताप शुष्कता को बढ़ाता है और अग्नि के लिए आशु प्रदीपनीय सामग्री को प्रस्तुत

के उन्मूलन का एक ही उपाय है—अपने पशुत्व को बांधना, उसकी आहुति देना, सर्वहुत यज्ञ के लिये सर्वप्रथम उसकी बलि चढ़ा देना। जब तक मानव अपने अन्दर छिपे इस पशुत्व का बंधन नहीं करता, तब तक वह कल्याण का साधन नहीं कर सकेगा। नीति या सदाचार का यह तत्व मानवता का उन्नायक है।

देवत्व की सुरक्षा के लिये पशुत्व का बंधन आवश्यक है। पशुत्व में पश्यन् भी है जो बुद्धि का कार्य है। बुद्धि का पश्यन् द्विविध है: पुण्यवान् तथा पापीयान्। वेद कहता है: 'अन्यत्र पापीरपवेशयाधियः' पापीयसी बुद्धि को दूर करो जिससे बुद्धि शुभ कार्यों की ओर ही निरन्तर प्रेरित होती रहे। बुद्धि के इस अंश को भी नियंत्रण में रखने की आवश्यकता है। बुद्धि का प्रकाश हमें स्वार्थ से हटाकर परमार्थ में संलग्न करे, तभी उसकी सार्थकता है।

अपने पशुत्व को मारकर खा जाओ, उसे सड़ांद पैदा करने के लिये मत छोड़ो। जो लोभ दूसरों को खाने दौड़ता है, उसे खा डालो। क्रोध को पीसकर पी जाओ। काम का उन्नयन कर दो, उसकी अपगामिनी प्रवृत्ति को कुचल डालो। काम से मोह, क्रोध से द्वेष या मत्सर और लोभ से मद या अहंकार उत्पन्न होता है। जनक बन्धन में पड़ गये, तो संतति आवेगी ही कहां से? पिता ही मार डाला गया, तो संतति का उत्स ही समाप्त हो गया। चोरों को अंधकार का बल रहता है, तो धारा को अपने स्रोत का। अतः मत सहायकों को छोड़ो और न स्रोतों को। अपने बल का विनाश देखकर पाप स्वयं नष्ट हो जायगा।

सात परिधियां और इक्कीस समिधायें क्या हैं। विद्वानों ने इनकी गणना अपनी-अपनी मति के अनुसार की है। मेरी समझ में भू से लेकर सत्य तक जो सात लोक या धाम हैं, वे ही यज्ञ की सात परिधियां हैं। इक्कीस समिधाएं जिनकी आहुति इस यज्ञ में पड़ रही है, महत्तत्व से लेकर पञ्च-तन्मात्राओं तक सात प्रकृति-विकृतियों के सत-रज-तम तीन-तीन भेदों से २१ भेद हैं।

पशुत्व को बांधने का एक अर्थ और है। पशु दर्शन है, ज्ञान है। यज्ञ में ज्ञान आबद्ध किया जाता है, उसका प्रयोग किया जाता है क्योंकि यज्ञ में कर्म-काण्ड की प्रमुखता है। यज्ञ प्रयोगात्मक ज्ञान है। ज्ञान को आहुत करने का अर्थ है उसे यज्ञ-कर्म में परिणत करना, आचार के सांचे में ढालना, समाजोपयोगी रूप देना। जब तक ज्ञान बांधा नहीं जायगा और आचरण का रूप धारण नहीं करेगा, तब तक उसका प्रयोजन व्यक्ति एवं समाज के लिये कुछ नहीं है। यज्ञ-कर्म-रहित ज्ञान कोरी जल्प है। ज्ञान की शोभा तदनुकूल आचरण करने में ही निहित है।

महर्षि दयानन्द ने ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में सात परिधियों को सात आवरण कहा है जिनमें समुद्र, त्रसरेणु, मेघमण्डल, वृष्टिजल, उसके ऊपर का वायु, धनञ्जय नामक सूक्ष्म वायु तथा सर्वत्र व्याप्त सूत्रात्मा की गणना है। श्रीमद्भागवत, तृतीय स्कन्ध के अध्याय ११ के अन्त में लिखा है कि प्रकृति, महत्तत्व, अहंकार और पञ्चतन्मात्र नाम की आठ प्रकृतियोंके साथ, दशइन्द्रियाँ, मन, और पंचभूत इन सोलह विकारों से मिलकर बना हुआ यह ब्रह्माण्ड-कोष भीतर से पचास करोड़ योजन विस्तार वाला है। इसके बाहर चारों ओर उत्तरोत्तर दश-दश गुने सात आवरण हैं।

मंत्र १६ में यज्ञ का फल दिखाया गया है। देवों ने यज्ञ से ही यज्ञ किया, पर वे प्रथम धर्म थे। देवयुग में ही ऐसे यज्ञ सम्पादित हुए थे। आधिदैविक तथा आध्यात्मिक जगत में आज भी देवयुग चल रहा है। वे देव महिमासम्पन्न थे। उनमें दिव्यता थी। वे उदग्रशुष्म थे। उनका बल निम्नगा प्रवृत्ति से पृथक रहा—वह ऊपर ही उठा—द्यौ लोक की ओर ही चला। अदिति, अखंडनीय समरसता के वे नित्यसंपर्क में रहे। अतः यज्ञ द्वारा वे उस नाक लोक को प्राप्त कर गये जहां पहले साध्य देव विराजमान थे।[1]

---

[1] यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणिप्रथमान्यासन्।
तेह नाके महिमानः सचन्त, यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः॥

मन्त्र में दो प्रकार के देवों की चर्चा है : एक वे देव जो नाक लोक में पहले से ही विराजमान थे, दूसरे वे देव जिन्होंने यज्ञ के द्वारा यज्ञ करके नाक लोक को प्राप्त किया। नीचे लिखे मन्त्रों में भी दो प्रकार के देवों का वर्णन हुआ है :—

ये देवानां यज्ञिया यज्ञियानां मनोर्यजत्रा अमृता ऋतज्ञाः।
तेनो रासन्तामुरुगायमद्य यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥
अथर्व १९-११-५ तथा ऋ० ७—३५-१५

येभ्यो होत्रां प्रथमामायेजे मनुः समिद्धाग्निर्मनसा सप्त होतृभिः।
त आदित्या अभयं शर्म यच्छत सुगा नः कर्त सुपथा स्वस्तये॥
ऋ० १०-६३-७

(१) जो देव यज्ञियों में भी यज्ञिय हैं, पूज्यों में भी पूज्य हैं, जो मनु के यजत्र या याजक बने, जो अमृत हैं (सृष्टि के प्रारम्भ में ही जन्म लेकर जो मोक्ष प्राप्त कर गये। अमैथुनी सृष्टि में ही जात होने के जिनके कर्म-विपाक थे) अर्थात् जो मैथुनी सृष्टि के जन्म-मृत्यु-चक्र में नहीं पड़े, जो ऋत के ज्ञाता हैं, वे हमें आज ही विस्तृत यश प्रदान करें और अपनी कल्याणकारिणी शक्तियों द्वारा सदैव हमारी रक्षा करते रहें।

इस मंत्र में मनु के ऋतज्ञ एवं याजक देवों का वर्णन है।

(२) समिद्धाग्नि मनु ने मन से सात होताओं अर्थात् याजकों के द्वारा जिन देवों के लिये प्रथम होत्र सम्पादित किया, वे आदित्य देव हमें अभय तथा सुख-शान्ति प्रदान करें और कल्याण के लिये हमारे सुपथ को सुगम कर दें। यहां मनसा शब्द स्पष्ट रूप से मानसिक यज्ञ की ओर संकेत कर रहा है। इस मन्त्र में आदित्य देव वे हैं जिनके लिये मनु ने अपने सात देवयाजकों द्वारा अग्निहोत्र किया।

निम्नांकित मन्त्र में ऐसे देवों का उल्लेख है जिन्होंने देवों के मध्य में भी देवत्व प्राप्त किया अर्थात् जो देवों के भी देव हैं :—

ये देवा देवेष्वधि देवत्वमायन् ये ब्रह्मणः पुर एतारो अस्य।
येभ्यो न ऋते पवते धाम किञ्चन न ते दिवो न पृथिव्या अधि स्नुषु। यजु १७।१४

जिन देवों ने देवों के अन्दर भी देवत्व को प्राप्त किया, जो इस ब्रह्माण्ड को आगे ले जा रहे हैं, जिनके बिना कोई धाम पवित्र नहीं होता, वे अन्य देवों की भाँति न तो द्यौ लोक में मिलेंगे और न पृथ्वी के गिरि-शिखरों के ऊपर।

ये देव जनकल्याण के लिये यहीं भी उपस्थित हो सकते हैं। जब पृथ्वी या अन्य किसी वस्तु में जीवात्माओं के पापों के कारण विध्वंसमयी स्थिति उत्पन्न हो जाती है, तब ऐसे देव ही उसका संत्राण किया करते हैं। ज्ञान का सूत्र भी जब छिन्न-भिन्न होने लगता है, तब ये ही आकर उसे जोड़ जाते हैं। विश्व की पवमानकारिणी शक्तियों में भी इनका हाथ देखा जा सकता है। साधकों ने इनके दर्शन किये हैं। अपनी दिव्यशक्ति के बल पर ये पल भर में ही अपनी पावन शक्ति का प्राकट्य कर सकते हैं।

यज्ञ के द्वारा ही यज्ञ करना यजुर्वेद के 'यज्ञोयज्ञेन कल्पतां' का स्मरण करा देता है। द्रव्य मय यज्ञ करने वाले हम यज्ञ की इस ऊर्ध्व स्थिति को कदाचित् न समझ सकें। मानसिक यज्ञ का संकेत तो ऊपर एक मन्त्र में हो ही चुका है। गीता ज्ञानयज्ञ को द्रव्यमय यज्ञ से श्रेयस्कर कहती है। पर यज्ञ के द्वारा ही यज्ञ करना सर्वोच्च यज्ञ का स्वरूप है। पुरुषसूक्त इसे देवयुग के साथ ही सम्बद्ध करता है क्योंकि इसे वह प्रथमधर्मों में परिगणित करता है। मानव युग में प्रणालियां परिवर्तित हो जाती हैं। जिन मनुष्यों के पास धन है वे दीर्घकालव्यापी अर्थ-यज्ञ कर सकते हैं। जिनके पास ज्ञान है, वे ज्ञानयज्ञ कर सकते हैं। अर्थ की आकांक्षा न रखते हुए ज्ञानदान देना ज्ञानयज्ञ ही है। जिनके पास बल है वे किसी अत्याचारी से पीड़ित दीन-हीन जन की रक्षा

करके यज्ञ-साधन कर सकते हैं। निस्वार्थ भावना की अपेक्षा यज्ञ में सर्वत्र है। श्रमदान भी उस समय यज्ञ का रूप धारण कर लेगा जब फलाकांक्षा या प्रतिमूल्य की भावना उसका संपर्क न कर सके। पर जिसके पास ऐसी कोई भी वस्तु न हो, क्या वह यज्ञ से वंचित रह जायगा ? नहीं, जिसके पास कुछ नहीं, उसके पास अपना आपा तो है ही। जिसने अपने आप को दूसरे के लिये आहुत कर दिया, वह यज्ञ से ही तो यज्ञ कर रहा है, क्योंकि आत्मा यज्ञरूप ही है। द्रव्यमय यज्ञ करने वाला अथवा किसी अन्य ज्ञानादि की यज्ञ करने वाला, संभव है, इस प्रकार के यज्ञ को कर ही न सके। धन का त्याग कर देना सरल हो सकता है, पर अपने आपको ही आहुत कर देना विरल, अत्यन्त विरल व्यक्तियों का कार्य है। देव विरल ही तो होते हैं। उनका पथ सबसे निराला होता है। वे ऐसे यज्ञिय कार्य करते हैं जो अन्यों के लिये दुष्कर होते हैं। यज्ञ द्वारा यज्ञ करना ऐसा ही अतीव दुष्कर कार्य है। तभी तो देव बृहत अमृत के भागी बनते हैं। क्षणिक अमृत तो सुषुप्ति अथवा समाधि लगा कर सामान्य मानव या साधक योगी भी प्राप्त कर सकता है।

देवयुग में तो यज्ञ के द्वारा ही यज्ञ होता था, पर मानवयुग में और विशेषतः इस वैवस्वत मन्वन्तर के त्रेता युग में भी बड़े बड़े यज्ञ संपादित हो चुके हैं। आज मानव मानवस्तर से पतित हो चुका है। वह पशु ही नहीं, जंगली पाशवस्तर पर उतर आया है। पशु-पक्षी जानते ही नहीं कि यज्ञ क्या होता है। उन्हें पूजा, परोपकार या त्याग भाव की समझ ही नहीं है। शेर या वृक दूसरों के मरण पर पलते हैं। विना दूसरे का विनाश किये उनका पेट ही नही भरता। जर्मनी के विद्वान् नीट्शे ने अपने दर्शन का आधार ही इस जंगली नियम को बनाया था। हड़प और गड़प गीता का पाठ उसने जर्मनी को सिखाया। इससे न जर्मनी का लाभ हुआ, न अन्य किसी का। इस दर्शन की पृष्ठभूमि पर अब तक संसार दो भयानक युद्ध देख चुका है। अब तीसरे युद्ध की तैयारी हो रही है। यज्ञ के पूजा, संगतिकरण तथा दान तीनों अङ्ग विस्मृत होते जाते हैं। पूज्यों की पूजा नहीं हो रही, अपूज्य सम्मान पा रहे हैं, एक

साथ मिल कर बैठने, एकत्व को अनुभव करने के स्थान पर वर्गसंघर्ष पनप रहा है, दान-त्याग-आहुति-बलिदान के स्थान पर हाऊहप्प या छीनाझपटी का बाजार गर्म है। मानवता के इस पतन को देखकर सुधीजन भविष्य के सम्बन्ध में शंकालु होने लगे हैं। पर, जैसा हम पीछे संकेत कर चुके हैं, यज्ञ की वास्तविक भावना अभी आधिदैविक एवं आध्यात्मिक क्षेत्र में सक्रिय है। वहां वह अपने सहजस्वाभाविक रूप में विद्यमान है। इन क्षेत्रों के देवों ने देवयुग को सुरक्षित रखा है। यज्ञकार्य इनके लिये मानव की भांति श्रमसाध्य एवं प्रयत्नप्रसूत नहीं है। वह अनायास होता रहता है।

सूर्य से कोई कहने जाता है कि तू तप। आपोमय मण्डल से किसी को कहना पड़ता है कि तू अपने सोम को सूर्य के अग्निकुण्ड में आहुत कर। पृथ्वी से कोई कहता है कि तू फल-फूल-स्वर्ण-रत्न आदि उत्पन्न कर। यह सब उस सर्वहुत यज्ञपुरुष के अधीक्षण में हो रहा है और प्रलयपर्यन्त होता रहेगा। अध्यात्म यज्ञ को ही लीजिये। जंगली विधान के शिरोधार्य करने वालों को पलक मारते ही लेने के देने पड़ जायें यदि उनके शारीरिक अवयव सर्वहुत यज्ञ करना छोड़ दें। पर सब कुछ देखकर भी पतित मानव देखना नहीं चाहता। स्वार्थ ने उसकी आखों पर पट्टी बांध दी है। यज्ञ से यज्ञ करना क्या होता है, अपने आपको होम देना कैसा होता है, यह उसकी समझ में प्रवेश ही नहीं कर पाता।

मन्त्र में आये हुए नाक शब्द का क्या अर्थ है? क का अर्थ सुख है। अ + क का अर्थ हुआ दुख और न + अ+क का अर्थ हुआ—जहां दुख नहीं है। वेद में नाक एक लोक है जो सूर्य के ऊपर है, परन्तु स्वः से नीचे है। 'येन द्यौरुग्रा' मंत्र में नाक और स्वर्ग दोनों लोकों का नाम आया है। त्रिलोकी के कारण तीन नाकों का भी वर्णन उपलब्ध होता है—त्रिनाके त्रिप्रतिष्ठिते। पर 'नाकस्य पृष्ठात् दिवमुत्पतिष्यन्' तथा 'स्वर्गः पन्था सुकृते देवयानः' पदों से स्वर्ग तथा द्यौ दोनों से ही नीचे नाक लोक सिद्ध होता है। देव सर्व प्रथम इसी लोक में अधिरोहण करते हैं, जहां पहले से ही मुक्तात्मा विद्यमान हैं।

नाक लोक से फिर वे धीरे-धीरे द्यौ लोक तक पहुंच जाते हैं। देव लोक अमृत लोक और मानव लोक मर्त्य लोक कहलाता है। मर्त्य लोक के प्राणी जन्म-मरण के चक्र में पड़े हुए बार-बार एक योनि से दूसरी योनि में जाते हुए नाना प्रकार से क्लेश-भाजन बनते हैं। देव लोक के निवासियों को इस प्रकार के आवागमन से मुक्ति मिल जाती है। वे अमृत का उपभोग करते हैं।

मन्त्र से एक ध्वनि और निकल रही है कि पूर्वकल्प में जिन जीवों ने साधना द्वारा देवत्व प्राप्त कर लिया था, वे प्रभु की प्रेरणा से नवीन कल्प में दिव्य सृष्टि में उत्पन्न होकर आग्नेय युग तक यज्ञ करते रहे और उसके पश्चात् नाक या स्वर्गलोक के अधिकारी बने। साध्यदेव यहां पूर्व से ही विद्यमान थे और मोक्ष के अमृतानन्द का उपभोग कर रहे थे।

यहाँ ऋग्वेद का पुरुषसूक्त समाप्त हो जाता है। आगे जिन मन्त्रों की व्याख्या की जायगी, वे केवल यजुर्वेद में हैं।

मन्त्र संख्या १७ देवयुग पर प्रकाश डालता है और मर्त्य तथा अमर्त्य का भी भेद करता है। मर्त्य भोजन है, तो अमर्त्य सापेक्ष दृष्टि से भोजक है—ऐसा हम पीछे लिख चुके हैं। मर्त्य भोजन बन कर बल का साधक बनता है, यह बलवत्ता भोजक के साथ रहती है। पार्थिव तत्वों में भूमि और जल मर्त्य हैं, भोजन हैं, अग्नि भोजक है। भूमि और जल भी खाते हैं, पर स्वतः नहीं, अग्नि और वायु की सहायता से और देर में भी, तत्काल नहीं। अग्नि में जो डालो, तत्काल भस्म हो जाता है। भूमि पर या जल में पड़ी हुई वस्तु देर तक टिकी रह सकती है, परन्तु अग्नि में पड़ने पर उसका अस्तित्व शीघ्र समाप्त हो जाता है।

अग्नि मर्त्य को खाकर बलवान बनता है। यह बल अच्छा और बुरा दोनों प्रकार का हो सकता है। बल का कुत्सित प्रयोग क्लेशकारक है, अतः आसुरी है। उसका सत्प्रयोग सुखप्रद एवं कल्याण कारक है, अतः दैवी है। आग्नेयता देव तथा असुर दोनों में होती है। हमें दैवी आग्नेयता की शरण-ग्रहण करना चाहिये। उसी का वरण हमारा उत्थान करेगा। आसुरी

आग्नेयता निर्मात्री नहीं, प्रहर्त्री है। उससे उत्थान नहीं, पतन होता है। ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र में इसी हेतु दैवी अग्नि की स्तुति है। यह अग्नि यज्ञ का होता तथा विश्व का हितकारी है। यह मानवों में देवत्व का आधान करने वाला है। राष्ट्र के अधिपति तभी देव संज्ञा से विभूषित होते हैं जब वे प्रजा के श्रम-धन आदि को लेकर उसी के उन्नयन में लगा दें, प्रजा का हित-साधन करें। अन्यथा प्रजा के भक्षक बन कर वे राक्षस संज्ञा से अभिहित होंगे।

मन्त्र में कहा गया है कि भूमि और जल की सृष्टि विशुद्ध मर्त्य क्षेत्र है। इस मर्त्य क्षेत्र से पूर्व के देवत्व को मैं जानता हूँ।[1] जलों द्वारा भरण-पोषण पाकर जब पृथ्वी की मूर्ति बाहर आई, तो इस पृथ्वी की मूर्ति तथा विश्वकर्मा रस से पूर्व देवत्व वर्तमान था। त्वष्टा परमात्मा ने ही उस देवत्व का रूप-विधान किया और उसे आगे बढ़ाया।[2]

मन्त्र में रस या जल को विश्वकर्मा कहा गया है। श्रीमद्भागवत ८-६-२३ यथा ऐतरेय उपनिषद् में अम्भ या आप (जल) को रेत या वीर्य कहा गया है—(अम्भस्तु यद्रेत उदार वीर्यं) (आपो रेतो भूत्वा)। वीर्य ही पराक्रम है। समस्त कर्म इसी के आधार पर होते हैं। पिंडरूप मूर्ति का निर्माण वीर्य और रज का ही परिणाम है तथा आगे गति, क्रिया आदि मे भी रस रूप वीर्य की ही प्रधानता है। वीर्यहीन व्यक्ति निष्क्रिय हो जाता है। इसी हेतु रस को विश्वकर्मा कहा गया है। वर्तमान युग में सिग्मांड फ्रायड ने काम को मानव की सब क्रियाओं का मूल कहा है, उसका भी यही अभिप्राय है। मानव के अन्दर निहित रस ही उसे सब कार्यों में प्रवृत्त करता है।

जल और मिट्टी से मिल कर मूर्ति बनती है, पर यह मूर्ति टिकाऊ नहीं

---

[1] देवाना पूर्व्यें युगे तथा देवाना प्रथमे युगे असतः सदजायत।
ऋ० - १० - ७२ - ३ मे भी देवो के पूर्व तथा प्रथम युग का उल्लेख है।

[2] अद्भ्यः संभृतः पृथिव्यै रसाच्च विश्वकर्मणः समवर्तताग्रे।
तस्य त्वष्टा विदधद्रूपमेति तन्मर्त्यस्य देवत्व माजानमग्रे॥

होती। जरा सी वर्षा का वेग सहते ही गल उठती है। इसे देर तक स्थिर रखने के लिए अग्नि में तपाना पड़ता है। त्वष्टा यही करता है। 'शंनस्त्वष्टा-ग्नाभिरिहशृणोतु' मंत्र-पद में त्वष्टा का सम्बन्ध अग्नि से स्थापित किया गया है। त्वष्टा ने पृथ्वी के गर्भ में अग्नि स्थापित कर दी है जो पृथ्वी की मूर्त्ति को स्थिरता दे रही है। रचना में भी पृथ्वी से पूर्व जल और जल से पूर्व अग्नि तत्व है। देवयुग अग्नि तत्व तक ही रहता है। उसके पश्चात् मानव का मर्त्ययुग प्रारम्भ हो जाता है। छान्दोग्य उपनिषद् (अध्याय ३ खंड ६–१०) में इसीलिए कहा गया है कि देवों की आकृति मिट्टी से बनी आकृति नहीं है। वसुदेव अग्नि रूपी मुख से, रुद्र देव इन्द्र (विद्युत) रूपी मुख से, आदित्य देव वरुण रूपी मुख से, मरुत देव सोम रूपी मुख से और साध्य देव ब्रह्म रूपी मुख से अपना प्राप्य अमृत ग्रहण करके जीवित रहते हैं।[1]

देव हम मानवों की भांति न खाते हैं और न पीते हैं। अमृत को देख कर ही तृप्त हो जाते हैं। वे जल और मिट्टी के बने रूप से (उद्यन्ति) ऊपर चले जाते हैं। सकृद्दिवा हैव अस्मै भवति (खण्ड ११) देवों के लिए सदैव दिन ही रहता है। हम मानवों के समान उनके लिए दिन और रात्रि का उदयास्त नहीं होता। पर यह बात दिव्य देवों के सम्बन्ध में कही जा रही है, अप्य (अन्तरिक्षीय) तथा पार्थिव देवों के सम्बन्ध में नहीं।

---

[1] ऋ० १०–१५१–४ 'श्रद्धा देवायजमाना वायुगोपा उपासते' मे देवो का विशेषण वायु-गोपा है। देव इन्द्रियो का पालन वायु अर्थात् प्राण द्वारा होता है। सामान्य जन अन्न और जल द्वारा अपनी इन्द्रियो की रक्षा करते है, देव प्राण द्वारा। सूर्य की किरणो मे प्राण भरा पडा है। देव इसी प्राण को पीकर तृप्त हो जाते है। देवयुग इसी कारण आग्नेय सृष्टि तक सीमित है। उसके पश्चात् जल-सृष्टि के साथ मर्त्य अथवा मानव युग प्रारम्भ हो जाता है।

शक्ति प्रजापति है जिसका विस्तार वृक्ष रूप में दिखाई देता है। शरीरों में जिस शुक्र-रज का विस्तार होता है वह भी उनमें निहित जीवात्मा रूप प्रजापति के कारण। ऐतरेय उपनिषद् में लिखा है :—पुरुषेवावअयम् आदितोगर्भो भवति। जीवात्मा अन्न आदि के सूक्ष्म रूप शुक्र के साथ सर्वप्रथम पुरुष के ही गर्भ में आता है। तदुपरान्त वह माता के गर्भाशय में पहुंचता है। गर्भाशय में ही पिण्ड, पिण्ड का शिर तथा अन्य अवयव बन जाते हैं और जब वह गर्भ से बाहर आता है तब वासना तथा संस्कार के अनुरूप ही उसकी आकृति होती है। वासनायें विविध-रूपा हैं। अतः आकृतियां भी विविध रूपा है। आकृतियां तो दृष्टिगोचर होती हैं, परन्तु जीवात्मा नहीं दिखाई पड़ता। मन्त्र में इसी हेतु कहा गया है :—

'प्रजापति जीवात्मा गर्भ के अन्दर विचरण करता है। वह अजन्मा है, फिर भी विविध प्रकार के शरीरों को धारण करके प्रकट होता है। धीर पुरुष ही उसकी योनि या मूलस्वरूप को भली भांति जान सकते हैं। समस्त भुवन (जहां-जहां जीवात्मा भ्रमण करता रहा है) उसी में स्थित हैं।'[१]

जो बात एक जीवात्मा रूपी केन्द्रस्थ प्रजापति के लिये कही गई है, वह सब जीवात्माओं पर लागू होती है। प्रजापतियों का भी प्रजापति परमात्मा अजन्मा है, परन्तु वह सर्वत्र व्याप्त होने के कारण विश्व की वस्तु-वस्तु में प्रतिरूप बना हुआ जायमान रूप से भासित हो रहा है। प्रत्येक पदार्थ, प्रभु की व्याप्ति के कारण, मानों प्रभु की प्रतिमा है। प्रजापति परमात्मदेव से भिन्न या व्यतिरिक्त यहां कुछ है ही नहीं। पर धीर पुरुष ही उसे भी जान पाते हैं। उसी में सब भुवन स्थित हैं।

पीछे हम आधिदैविक जगत का उल्लेख कर चुके हैं। इस जगत का केन्द्र सूर्य है। ग्रहों-नक्षत्रों में सर्व प्रथम यही प्रकट हुआ। सबका अग्रज होने के

---

[१] प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते।
तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन् हतस्तुर्भुवनानि विश्वा।

कारण इसी को अपना परिवार बनाने तथा उसका संरक्षण करने के लिये तप करना पड़ा। इसी शाश्वत, निरन्तर तप करने का फल यह हुआ कि इसको ब्रह्म की कान्ति प्राप्त हो गई। इसीलिए इसे ब्राह्मरुच कहते हैं। जितने ग्रह पृथ्वी, चन्द्र, मंगल आदि उत्पन्न हुए, वे सब इसके पश्चात। सूर्य को केन्द्र में रखकर ये सभी ग्रह इसके चतुर्दिक घूमते हैं और प्रत्येक ग्रह के निज अनुभव करते हैं कि सूर्य उन्हीं के लिये है क्योंकि यह सबके पुर- हितः = रखा है, उपस्थित है। यह ग्रहरूपी देवों का पुरोहित है/ कहता है :—

शक्ति प्रजापति है जिसका विस्तार वृक्ष रूप में दिखाई देता है। शरीरों में जिस शुक्र-रज का विस्तार होता है वह भी उनमें निहित जीवात्मा रूप प्रजापति के कारण। ऐतरेय उपनिषद् में लिखा है :—पुरुषेवावअयम् आदितोगर्भो भवति। जीवात्मा अन्न आदि के सूक्ष्म रूप शुक्र के साथ सर्वप्रथम पुरुष के ही गर्भ में आता है। तदुपरान्त वह माता के गर्भाशय में पहुंचता है। गर्भाशय में ही पिण्ड, पिण्ड का शिर तथा अन्य अवयव बन जाते हैं और जब वह गर्भ से बाहर आता है तब वासना तथा संस्कार के अनुरूप ही उसकी आकृति होती है। वासनायें विविध-रूपा हैं। अतः आकृतियां भी विविध रूपा हैं। आकृतियां तो दृष्टिगोचर होती हैं, परन्तु जीवात्मा नहीं दिखाई पड़ता। मन्त्र में इसी हेतु कहा गया है :—

'प्रजापति जीवात्मा गर्भ के अन्दर विचरण करता है। वह अजन्मा है, फिर भी विविध प्रकार के शरीरों को धारण करके प्रकट होता है। धीर पुरुष ही उसकी योनि या मूलस्वरूप को भली भांति जान सकते हैं। समस्त भुवन (जहां-जहां जीवात्मा भ्रमण करता रहा है) उसी में स्थित हैं।'[1]

जो बात एक जीवात्मा रूपी केन्द्रस्थ प्रजापति के लिये कही गई है, वह सब जीवात्माओं पर लागू होती है। प्रजापतियों का भी प्रजापति परमात्मा अजन्मा है, परन्तु वह सर्वत्र व्याप्त होने के कारण विश्व की वस्तु-वस्तु में प्रतिरूप बना हुआ जायमान रूप से भासित हो रहा है। प्रत्येक पदार्थ, प्रभु की व्याप्ति के कारण, मानों प्रभु की प्रतिमा है। प्रजापति परमात्मदेव से भिन्न या व्यतिरिक्त यहां कुछ है ही नहीं। पर धीर पुरुष ही उसे भी जान पाते हैं। उसी में सब भुवन स्थित हैं।

पीछे हम आधिदैविक जगत का उल्लेख कर चुके हैं। इस जगत का केन्द्र सूर्य है। ग्रहों-नक्षत्रों में सर्व प्रथम यही प्रकट हुआ। सबका अग्रज होने के

---

[1] प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते।
तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन् हतस्थुर्भुवनानि विश्वा।

सदस्य भी वैसे ही बनेंगे और परिणामतः परिवार, समाज या राष्ट्र चौपट हो जायगा। देवों को वश में करने की बात इसलिये कही गई है कि दिव्यता ही व्यक्ति या राष्ट्र का उन्नयन करती है। राक्षसों की स्वार्थ-प्रियता, भौतिकता, शरीर-सर्वस्वता विध्वंस की ओर ले जाने वाली है। स्वार्थी व्यक्ति आपस में ही लड़कर मर जाते हैं, परन्तु त्यागी एक दूसरे की सहायता करते हुए फलते और फूलते हैं। जो तप करेगा, त्याग करेगा, समष्टि के लिये अपनी बलि देगा, उसका कल्याण निश्चित है। पुरुष सूक्त के सर्वहुत यज्ञ का यही पवित्र संदेश है।

अन्तिम २२ वें मन्त्र में प्रभु से प्रार्थना है :—हे विराट पुरुष! श्री और लक्ष्मी दो आप की पत्नियां हैं। दिन और रात्रि बगलें हैं। नक्षत्र रूप हैं। दो अश्विन खुले हुए मुख के अधर हैं। आपको सब कुछ प्राप्त है, इच्छा करते हुए स्वेच्छा से मुझे भी वह प्राप्त कराइये। उस मोक्ष पद की आप मेरे लिये इच्छा कीजिये। मेरे लिये सब लोकों की, स्वाराज्य की इच्छा कीजिये। हे सर्व शक्तिमान, पूर्ण परमेश्वर! आप मेरे लिये सब सुखों की इच्छा कीजिये। मुझे समस्त सद्गुण प्राप्त कराइये। मेरा अभीष्ट सिद्ध हो। मैं आपको प्राप्त करूं।[1]

श्री मूल शक्ति है जो ब्रह्म के साथ सतत संयुक्त रहती है। लक्ष्मी रयि या सम्पदा है जो जगत के साथ उत्पन्न होती है। आध्यात्मिक श्री तथा भौतिक सम्पदा दोनों ही रक्षा करने वाली हैं। एक से यह लोक सुगम बनता है तो दूसरी से परलोक। लक्ष्मी यदि स्विष्टि में लग गई, दुरिष्टि से बच गई, तो इस स्विष्टियज्ञ द्वारा श्री की कृपा स्वयमेव प्राप्त हो जायगी। दिन और रात्रि में, नक्षत्रों तथा प्राणों या अन्तरिक्षों में, द्यावा-पृथिवी में प्रभु की विभूति के, रूप सुषमा के दर्शन करते हुए, उसी की प्राप्ति की कामना जागृत रखनी चाहिये। प्रभु की प्राप्ति में सब लोकों की प्राप्ति है, आत्मोपलब्धि है, आत्मतृप्ति है, आत्मानन्द है। सर्वहुत यज्ञ की भावना मुझे इसी की ओर ले चले। ॐ शम्।



[1] श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यावहोरात्रे पार्श्वे नक्षत्राणि रूप मश्विनौव्यात्तम्।
इष्णन्निषाण अमुं मइषाण सर्वलोकं म इषाण ॥

सृष्टि प्रकरण

जागरण, स्वप्न तथा सुषुप्ति का अनुभव तो हमें प्रतिदिन हुआ करता है, क्या इस सृष्टि के जागरण, स्वप्न तथा सुषुप्ति का भी कुछ पता हमें चलता है ? सृष्टि के अवयवों को तो, जिनमें हमारा शरीर भी एक है, हम टूटते और बनते देखते हैं—पेड़ की पत्तियाँ सूखकर झड़ती हैं, फिर नई निकलती हैं, गेहूँ, जौ, चावल आदि के पौधे फल देकर नष्ट हो जाते हैं और उन्हीं फलों के प्राकृतिक या कृत्रिम वपन द्वारा पुनः उत्पन्न हो जाते हैं। एक बीज से वृक्ष उत्पन्न होता है और अनेक बीज देकर अनेक वृक्षों का उत्पादक बनता रहता है। नदियों के मार्ग बनते और बिगड़ते हैं। मरु का स्थान सिन्धु तथा सिन्धु का स्थान मरु ले लेता है, ऐसा पुरातत्ववेत्ता कहते हैं। जिन्हें हम अचल पर्वत कहते हैं, वे भी अचल नहीं रह पाते। जब सृष्टि के अवयवों की यह दशा है, तो समग्र सृष्टि भी कभी न कभी जागरण में आई ही होगी और उस जागरण से पूर्व उसकी प्रसुप्त अवस्था रही ही होगी, ऐसा अनुमान बुद्धि लगा सकती है। अच्छा, आइये, सर्व प्रथम अपने मूल पूर्वज मनु से पूछें, उनकी बुद्धि सृष्टि के सम्बन्ध में क्या कहती है।

मनुस्मृति के प्रथम अध्याय के प्रारम्भ में ही सृष्टि का प्रकरण आया है। वहां लिखा है[1] कि प्रलय की अवस्था में केवल तम ही तम था—अंधकार, शून्यता—एक प्रसुप्तावस्था जो अज्ञात और अविज्ञेय–जिसे कोई जानता नहीं और जो स्वयं भी न जानने योग्य, अलक्षण–जिसे कोई लक्षित न कर सके, जिसका कोई लक्षण, गुण अथवा परिभाषा न हो सके, अप्रतर्क्य—जिसके सम्बन्ध में कोई तर्क या मीमांसा न कर सके—ऐसी थी प्रलय। ऋग्वेद के नासदीय

[1] आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।
अप्रतर्क्यम विज्ञेयं प्रसुप्तमिवसर्वतः॥ ५॥

सूक्त से ही मनु ने ये शब्द लिये हैं, जिसमें कहा गया है कि प्रलय में तम था, जो तम से ही आच्छादित था और जो अप्रकेत था—जिसका कोई ज्ञान नहीं हो सकता। मनुस्मृति में आगे लिखा है[1] कि प्रलय के अन्त में स्वयम्भू भगवान जो स्वयं अव्यक्त हैं, पर जो प्रकृति के प्रेरक, अप्रतिहत सामर्थ्य वाले तथा तम के विध्वंसक हैं, इस महाभूतादिमयी सृष्टि को व्यञ्जित करते हुए प्रकट हुए। जो इन्द्रियों से अग्राह्य, सूक्ष्म, अव्यक्त (अवयव रहित), सनातन अचिन्त्य और सर्वभूतमय हैं, वे ही स्वयं प्रादुर्भूत हुए।

विविध प्रकार की प्रजा उत्पन्न करने की इच्छा से, ध्यान करके उन्होंने अपने शरीर से, पहले, अप (जल) ही की रचना की और उसमें शक्ति रूप बीज का आरोपण किया। यहाँ जल महत्तत्त्व है, योनि है, मातृशक्ति है। बीजप्रद् तो स्वयम्भू परमेश्वर हैं ही। यह बीज उनका ईक्षण है। वह बीज अप या जल से मिलकर हैम अण्ड बन गया, जिसकी प्रभा सूर्य के समान थी। उस हैम अण्ड में समस्त लोकों के पितामह स्वयं ब्रह्मा उत्पन्न हुए। अथर्व १०-७-३१ में (यदृक्षः प्रथमं संबभूव—परमाम्नान्यत् परमस्ति भूतम्।) अज को प्रथम प्रकट हुआ कहा है। इससे पहले कुछ भूत अर्थात् बना हुआ न था। अज का अर्थ ब्रह्मा लोक में प्रसिद्ध है।

ब्रह्मा से पूर्व जो आपः थे, वे नार कहलाते थे। नार नर की संतति है। ये आपः या नाराः जिसका अयन थे, वह प्रभु नारायण नाम से स्मरण किया जाता है। ये नारायण ही सदसदात्मक जगत के नित्य और अव्यक्त कारण हैं। उन्हीं से उत्पन्न हुआ वह पुरुष ब्रह्मा नाम से प्रख्यात हुआ।

भगवान ब्रह्मा ने उस हैम अण्ड में संवत्सर भर रह कर स्वयं अपने ध्यान से उस अण्डे के दो खण्ड कर दिये। एक खण्ड से उसने द्यौ लोक तथा दूसरे खण्ड से भूमि का निर्माण किया। इन दोनों के बीच में उसने व्योम,

---

[1] ततः स्वयम्भूर्भगवानव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम्।
महाभूतादि वृत्तौजा प्रादुरासीत्तमोनुदः ॥ ६ ॥

ऋग्वेद १०–१२१ में 'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्यजातः पतिरेक आसीत्' द्वारा हिरण्यगर्भ को सबसे पहले अर्थात सृष्टि के आदि में वर्तमान लिखा था। अथर्व की ऊपर उद्धृत ऋचा कहती है कि हिरण्यगर्भ को ही परम और अनतिक्रान्त न समझा जाय। इससे पहले स्कम्भ है। उसी ने लोक के अन्दर हिरण्य का सिञ्चन किया था। हिरण्य प्राण, ज्योति अथवा बीज है। यह बीज जिसके गर्भ में है, वह हिरण्यगर्भ है। मनु और गीता दोनों ने महदाख्य तत्त्व को योनि कहा है जिसमें बीज का आधान किया जाता है। यही हैम अण्ड है जिससे ब्रह्मा का जन्म होता है। ब्रह्मा ही विविध रूपा सृष्टि का कारण है। विराट रूपी शरीर के अभिमानी देव को भी ब्रह्मा कहा जाता है।

मनु ने जिसे आपः या नारा कहा है, वह भी महत् ही है। इसी में गर्भ की स्थापना की जाती है। अघमर्षण के ऋत को वीर्य, सत्य को शोणित और रात्रि को गर्भ समझिये। ऋत और सत्य ही रात्रि के गर्भ में पिण्ड बनकर सृष्टि रूपी बच्चे के रूप में बाहर आते हैं। गर्भ की अवस्था अन्धकार मयी है। इसलिये इसे रात्रि नाम दिया गया है। आधुनिक मनोविज्ञान की परिभाषा में ह[illegible] इसे 'कलेक्टिव अनकान्सस' कह सकते हैं।

वेद ने [illegible]कों और कोषों का नाम लिया है। कोषों में से ही लोकों का जन्म होता रह[illegible] है। रात्रि या हिरण्यगर्भ या कलैक्टिव अनकौन्सस ही कोष है जिससे लोक [illegible] सृष्टि का आविर्भाव होता है। रात्रि में से जैसे दिन निकलता है, स्वप्न [illegible] पश्चात जैसे जागरण आता है, वैसे ही इस गर्भ या कोष से सृष्टि प्रादु[illegible] है।

ऋग्वेद की नि[illegible]कित ऋचा में सृष्टि के चार स्तर वर्णित हुए हैं—

शन्नो अज एक[illegible]द्देवोऽस्तु शन्नोऽहिर्बुध्न्यः शं समुद्रः।
शन्नो अपान्नपात्[illegible]रस्तु शन्नः पृश्निर्भवतु देवगोपा॥
अथर्व ७–२५–१२

अथर्व १९–११ में भी यह ऋचा आती है। जैसे पृश्नि शुक्लवर्ण है, वैसे ही अज, ब्रह्मा, सरस्वती, महादेव, आकाशगंगा आदि को भी पौराणिक परम्परा में श्वेत कहा गया है।

रचना से पूर्व मूल प्रकृति सामरस्यमयी है, पृश्नि है, शुक्ल है, इसीलिये उसे प्रकृति कहते हैं, विकृति नहीं। प्रकृति इस पृश्नि-रूप में देव-गोपा है। सामरस्य रूपी दिव्यता ही देवों का गोपन अथवा रक्षण करती है। विकृति में दिव्यता नहीं रहती। साधक इसीलिये विकृति से प्रकृति की ओर चलता है। प्रकृति प्रभु की है। वह प्रभु के साथ एक है। प्रकृति अथवा प्रकृत दशा को पकड़ कर जीव भी ईश्वर के साथ एक होता है। तांत्रिकों ने इस प्रकृति को प्रभु की शक्ति कहा है। वेद इसे देवगोपा कहता है। प्रभु की शक्ति, प्रभु देव में सुरक्षित रहकर ही तो दिव्यता का रक्षण करती है। वह देव द्वारा सुरक्षिता तथा देवों की सुरक्षिका है। इस अवस्था में दिव्यता पर कोई आघात नहीं कर सकता। वह आनन्दमयी अवस्था है। विकृति में तो दिव्यता पर दानवता बराबर आघात किया करती है और क्लेशों को जन्म देती है। पृश्नि अदिति है। यह देवमाता है, अग्नि-वर्हा है, अखण्ड है और देवों को मधुमय पीयूष पय, दुग्धामृत पिलाने वाली है। अतः वास्तविक अर्थों में यह देवगोपा है।

जब सृष्टि का संकल्प जागृत होता है, रचना की ओर प्रभु उन्मुख होते हैं, तब विशुद्ध सत्व से महाकारण शरीर प्रकाशित होता है। ऊपर उद्धृत ऋचा में इसे अपाचपाद् पेरु की अवस्था कहा गया है। यही सृष्टि की प्रारम्भिक, विकृति की ओर आनेवाली अवस्था है। तांत्रिक इसी को महामाया या योगमाया कहते हैं। यह विशुद्ध सत्व है, अतः यहाँ अपां-धाराओं, गतियों, हलचलों, विक्षोभों का पात नहीं है। रममाण अवस्था है। पेरु वह है जो पीति, रक्षण या पूरण से भरा हुआ हो, रज का चांचल्य जिसे विचलित न कर सके, जल जैसे निम्नगा आवेग जिसे विक्षुब्ध न कर सकें। सुषुप्ति की अवस्था इसके समकक्ष है। इसे महत्तत्व, महाचिति, व्यापक सत्व आदि के नाम भी दिये जा सकते हैं।

अपांनपात्पेरु के उपरान्त अहिर्बुध्न्य समुद्र की अवस्था आती है। वैष्णवों की पांचरात्र शाखा में एक अहिर्बुध्न्य संहिता भी है। पौराणिक शैली में अहि सर्प को और बुध्न्य पेंदी, आधार या शरीर को कहते हैं। यही वैष्णवों की शेषनाग शैया है जिस पर क्षीरसागर में विष्णु शयन करते हैं। विष्णु का जागरण ही सत्व का प्रपञ्चोन्मुख होना है। वैदिक शैली में अहि का अर्थ है-अ-नहीं, हि-हीनता या क्षय। बुध्न्य का अर्थ है सूर्य या आधार या बुध् जाने प्रकाशे से ज्ञान या प्रकाश। अहिर्बुध्न्य का अर्थ हुआ अक्षय आधार वाला या नित्य ज्योतिष्मान। समुद्र का अर्थ है जहाँ से सबका द्रवण हो। अथवा जिसकी ओर सब का द्रवण हो। प्रपञ्च, रचना या सृष्टि की यही उद्भवावस्था है। यहाँ से रचना के अकार का प्रारम्भ समझिये।

ऋचा में चतुर्थ अवस्था अजएकपात् की है। अज का अर्थ है ब्रह्मा। पौराणिक कहते हैं कि शेषनाग की शैया पर विष्णु शयन कर रहे थे। जब जगे तो उनकी नाभि से कमल तथा कमल से ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई। यह मूल तत्व को समझाने की पौराणिक शैली है। ऋचा में अज को एकपात् कहा गया है। पुरुषसूक्त में सृष्टि को पुरुष का एक पाद माना है। ब्रह्मा से ही सृष्टि का सूत्र पात हुआ, अतः उसे अज कहकर एकपात् नाम दिया गया।

ओंकार के चारपाद मानकर कहना चाहें, तो अकार-एकमात्रा, एकपाद, अज या ब्रह्मा; उकार—द्वितीयमात्रा, द्वितीयपाद, अहिर्बुध्न्य विष्णु; मकार—तृतीय मात्रा, तृतीय पाद, पेरु या रुद्र; चतुर्थ या तुरीय पाद प्रपञ्च से परे, अद्वैत अवस्था है जो अपने उपादान में पृश्नि तथा निमित्त में परम पुरुष है और दोनों ही शक्ति तथा शक्तिमान के रूप में परस्पर अनुस्यूत हैं, एक हैं, अद्वैत हैं।

आधुनिक विज्ञान की भाषा में पेरु की अवस्था प्रशान्त सरोवर में भरे हुए जल के समान है। इसमें अभी कोई केन्द्र या अभिमान या अहंकारी ...ाई उत्पन्न नहीं हुई। जब ऐसी इकाई उत्पन्न होती है तब वही अहिर्बुध्न्य

बन जाती है। इस इकाई से अज एक पात या विश्व की रचना होती है, जिसमें अनेकत्व की प्रधानता है।

अभी तक वैज्ञानिक गैसिक (वायवीय तथा तैजस), लिक्विड (जलीय) तथा सौलिड (पार्थिव) तीन अवस्थायें रचना के सम्बन्ध में मानते रहे हैं। हमारे यहाँ जो भूतों का क्रम दिया हुआ है, उससे इन अवस्थाओं की संगति बैठ जाती है। भूतों में पृथ्वी अन्तिम है जो ठोस है, दृढ़ है। पृथ्वी से पहले जल है जो तरल है और जल से पहले अग्नि तथा वायु हैं जिन्हें गैसिक कहा जा सकता है। ऋचा में जिन पेरु, अहिर्बुध्न्य तथा अजएकपात स्तरों का उल्लेख है, वे इनसे मेल नहीं खाते। सांख्य पद्धति की प्रथमावस्थाओं से उनका मेल है। अब जो इधर वैज्ञानिक प्रगति हुई है, वह सांख्य पद्धति की परवर्ती अवस्थाओं से भी संगत हो जाती है।

पाश्चात्य विज्ञान अणुवाद (एटोमिक थियरी), विकासवाद (इवोल्यूशनिज्म), शक्तिवाद (एनर्जी) धन-ऋणवाद (थियरी आव थर्मोडायनैमिक्स) आदि कई सिद्धान्त रचना के सम्बन्ध में प्रस्तुत करता रहा है। अणुवाद को तो अणुबम के आविष्कार ने खण्डित कर दिया। जब अणु का विश्लेषण हो सकता है तो वह सृष्टि का उपादान कारण नहीं बन सकता। शक्तिवाद अणुवाद के साथ चलता रहा है। अणु को मैटर का पर्यायवाची समझिये। कुछ दिनों तक वैज्ञानिकों का ऐसा विचार रहा कि मैटर में एनर्जी भरी पड़ी है। वही इस प्रपञ्च के सारे खेल खेल रही है। फिर उन्होंने देखा कि ये दोनों भिन्न भिन्न पदार्थ हैं। अब उनका कथन है कि मैटर एनर्जी में तथा एनर्जी मैटर में परिणत की जा सकती है। इसी के साथ धन—ऋणवाद भी चला जिसके अनुसार एनर्जी खर्च होती रहती है और जहाँ कम होती है, वहाँ दूसरे स्थान से आती रहती है। व्ययवाले स्थान को ऋण और देने वाले स्थान को धन कहते हैं। परन्तु ये सब सिद्धान्त सृष्टि की निर्मित अवस्था से सम्बन्ध रखते हैं। निर्माण कैसे हुआ, इस विषय पर विकासवाद ही कुछ प्रकाश डाल सका है।

सर जेम्स जीन्स अपने ग्रन्थ 'दी यूनीवर्स एराउण्ड अस' के पृष्ठ ८ पर लिखते हैं :—"मनुष्य अपने को तभी समझ सकता है जब वह प्रथम इस ब्रह्माण्ड का ज्ञान प्राप्त करे जिससे उसे अपने सभी इन्द्रिय-गोचर उपलब्ध होते हैं।" वह पुनः पृष्ठ १२ पर लिखता है :—"पृथ्वी पर जीवन का प्रारम्भ कब हुआ, इसका जान लेना सरल नहीं है। संभव है दो अरब वर्ष इस दिशा में व्यतीत हो गये हों, कम से कम ३० करोड़ वर्ष तो समाप्त हो ही चुके हैं। जीवन सर्वप्रथम जलचरों के रूप में ही दृष्टिगोचर हुआ होगा और शनैः शनैः मत्स्य, मकर, दूध पिलाने वाले पशु आदि में विकास होते होते अन्त में मानव का प्रादुर्भाव हुआ होगा।" विकास की यह पद्धति पुरुषसूक्त में वर्णित जीवन क्रम से भिन्न नहीं है।

उक्त ग्रन्थ के पृष्ठ ९९ पर लेखक ने शक्तिवाद पर प्रकाश डाला है। उनके मत में शक्ति कई रूपों में विद्यमान रह सकती है। इसका विनाश कभी नहीं होता, पर यह एक रूप से दूसरे रूप में निरन्तर परिवर्तित होती रहती है। पृष्ठ १०१, १०४, तथा १०८ पर शक्ति का रूप मौलीक्यूल्स के रूप में इस प्रकार वर्णित हुआ है :—"जब हम कक्ष की वायु को उष्ण करते हैं, तब हम वस्तुतः उसके मौलीक्यूल्स (molecules) को तीव्र एवं द्रुत गति प्रदान कर देते हैं। इस प्रकार अग्नि की समग्रता उन मौलीक्यूल्स की शक्ति की समग्रता होती है। एक मौलीक्यूल अनेक अणुओं से मिलकर बनता है। ये अणु अब तोड़े जा सकते हैं और तोड़े जाने पर अपार शक्ति के भण्डार सिद्ध हो चुके हैं। इनकी बनावट सौर जगत के सदृश है जिसमें न्यूक्लीयस (Nucleus) सूर्य है और उसके चतुर्दिक एक सैकेन्ड में शतशः मील की गति से चलने वाले एलेक्ट्रोन्स ग्रहों की भांति हैं।

पृष्ठ ३२७, ३२८ पर लेखक लिखता है कि हमें इस शक्ति को केवल मात्रा के रूप में ही नहीं, अपितु गुण के रूप में भी समझना चाहिये। शक्ति की मात्रा सदैव समान रहती है। यह थर्मोडाइनैमिक्स धन-ऋणवाद या पूर्तिवाद का प्रथम नियम है।

शक्ति का गुण परिवर्तित होता है—उसकी प्रवृत्ति ही यह है—और वह एक ही दिशा में परिवर्तित होने की प्रवृत्ति रखता है। मनुष्य इधर-उधर कूद फांद सकता है, परन्तु प्रकृति ऐसा नहीं करती। वह नियम में आबद्ध है, उसका अतिक्रमण नहीं कर सकती। शक्ति का गुण भी अपनी निश्चित गति से चलता है जैसे जल प्रवण-भूमि पर। यह थर्मोडाइनैमिक्स का दूसरा नियम है।

सर आर्थर एडिंग्टन अपने ग्रन्थ 'दी एक्सपैन्डिंग यूनीवर्स' के पृष्ठ ४९ पर लिखता है कि ब्रह्माण्ड में हमें (मैटर ऐण्ड मोशन) सत्य और ऋत दोनों ही दिखाई देते हैं। अघमर्षण सूक्त भी सृष्टि के मूल में इन दो ही तत्वों को स्वीकार करता है। वायु पुराण १०२।१०७ में प्रकृतिं सत्यमित्याहुः विकारोऽनृत मुच्यते—प्रकृति को सत्य कहता है। तब ऋत उन गतिशील नियमों को कहेंगे जिनके शासन में प्रकृति विकृति की ओर तथा विकृति प्रकृति की ओर चलती है।

सर जेम्स जीन्स अपने ग्रन्थ 'दी मिसटीरियस यूनीवर्स' के पृष्ठ ९६-९७ पर कास्मिक रेडियेशन की किरणों को ही या ऋत का रूप देता है। मैटर को वह विशाल मात्रा में विध्वंस होता अनुभव करता है। इसी को वायु पुराण ने अनृत कहा था। शतपथ ९-१-१ बृहदा० १३ तथा छान्दोग्य ३-१९-१ में इसी को असत या मृत्यु कहा गया है। जेम्स जीन्स के अनुसार मैटर एकदम नष्ट नहीं हो जाता, प्रत्युत वह रेडियेशन में रूपान्तरित हो जाता है। प्रकृति की मूलावस्था को इसीलिये देवगोपा पृश्नि नाम दिया गया है। और उसकी द्वितीय अवस्था पेह—व्यापक सूर्य कही गई है। प्रकृति का मास या भार या मात्रा नहीं, अपितु मैटर परिवर्तित होता है। महाभूतों की अवस्था बदलती है। वे अपने गुणों, पंचतन्मात्राओं में, पंचतन्मात्रा अहंकार में, अहंकार महत्तत्व या रेडियेशन में और महत्तत्व मूल प्रकृति में, सांख्य के अनुसार लीन होते रहते हैं। विकृति में आने पर क्रम पलट जाता है।

सर जेम्स जीन्स के कथन का अभिप्राय यह जान पड़ता है कि मैटर द्यौ से पार्थिवता और पार्थिवता से द्यौ में परिणत होता रहता है। द्यौ में सत्व की प्रधानता है जिसकी गति विद्युत की सी है, परन्तु पृथ्वी तत्व में तम प्रधान है जिसकी गति बहुत मन्द है। गुणों में साम्य तथा वैषम्य आता है। गुणों का साम्य प्रलय की ओर तथा वैषम्य सृष्टि या विकृति की ओर ले जाता है। विकृति को हम द्यौ से पार्थिवता की ओर आना यदि कह सकें तो प्रलय को पार्थिवता से द्यौ की ओर चलना कहा जायगा। जरथुस्त्र के मतानुसार सृष्टि में सत्य एवं असत्य, देव तथा असुर अथवा द्यावा और पृथ्वी के बीच संघर्ष चल रहा है। सत्य या दिव्यता की पूर्ण विजय के साथ यह संघर्ष समाप्त हो जायगा। सृष्टि की आवश्यकता नहीं रहेगी—प्रलय हो जायगी। प्रलय में प्रकृति अपनी मूलावस्था में लीन हो जाती है। वेद भी प्रकृति को इस मूलावस्था में देवगोपा कहकर इस सिद्धान्त का समर्थन करता है, निषेध नहीं।

'थियरीज आव दी यूनीवर्स (एडिटेड बाई मिल्टन के० म्यूनिट्ज़) में एक लेख जार्ज गैमो का छपा है जिसमें ब्रह्माण्ड के विकास पर प्रकाश डाला गया है। लेखक के मतानुसार प्रारम्भ में उष्ण गैस थी जो धीरे धीरे नक्षत्रों या तारिकाओं में, तारिकायें तारिका समूहों (गैलेक्सीज) में और तारिकासमूह ठोस द्रव्य (मैटर) में परिणत हुए। ठोस द्रव्य के प्रतिनिधि हैं प्रोटोन्स, न्यूट्रोन्स तथा एलैक्ट्रोंस रैडियेशन, जो प्रथम उष्ण गैस में और फिर तारिकाओं में परिलक्षित हुआ, का प्रतिनिधित्व प्रकाश करता है। उष्ण गैस में प्रोटोन्स या प्रकाशाणु थे जो लघु श्वेतवृत्तों, दीर्घ श्वेत वृत्तों तथा कृष्ण वृत्तों में क्रमशः परिणत हुए। इन अणुओं से एकत्रीकरण द्वारा बड़े बड़े अणु बने। एक प्रोटोन (धनाणु) तथा एक न्यूट्रोन (ऋणाणु) से ड्यूटेरियम (Deuterium) एक [illegible]क, बना। दो-दो से मिलकर एक हेलियम बना। लगभग २५० मिलियन वर्षों के पश्चात वह प्रारम्भिक गैस खण्ड-खण्ड होकर विशाल प्रकाश-पिण्डों में (प्रोटोगैलेक्सीज) में परिवर्तित हो गई। उन पिण्डों से स्फुलिंगों की भाँति टूटकर नक्षत्र तथा ग्रह बने। पृथ्वी की स्थिति जिसमें प्रकाश

का अभाव है, सबके पश्चात् बनी। प्रारम्भ में तेज की ही मात्रा अधिक थी, पार्थिवता कम थी। पार्थिवता में अवतरण हुआ है, उत्क्रमण नहीं।

उपर्युक्त कथन उन गैसिक (विरल) लिक्विड (तरल) तथा सौलिड (सघन) तीन दशाओं से सम्बन्ध रखता है जिनका उल्लेख हम इसके पूर्व कर चुके हैं। उष्ण गैस, फिर द्रावण जैसे गैस के बादल, गैस का द्रवित होना और अन्त में दृढ़ होना—यह सृष्टि-क्रम है। इसी से मिलती जुलती अवस्था सांख्य दर्शन में वर्णित हुई है और ऋग्वेद का जो मन्त्र हमने उद्धृत किया है उसके साथ भी उसकी संगति बैठ जाती है, पर जो सूक्ष्मेक्षिका सृष्टि के विकास ■ उसके सूक्ष्म क्रमिक भेदों के साथ हमारे ऋषियों की गम्भीर मीमांसा में परिलक्षित होती है, उसका पाश्चात्य वैज्ञानिकों में अभाव सा है।

आकर्षण का सिद्धान्त बहुत प्राचीन है। शक्ति या गुणों का सिद्धान्त भी नवीन नहीं है। बृहत आकाश में जो अनेक सौर जगत हैं और जो आकाश में द्वीपों के समान जान पड़ते हैं, उनका उल्लेख भी नवीन शैली के अतिरिक्त अधिक महत्व नहीं रखता। नेबुला या नीहारिकावाद का पूर्ण उद्‌घाटन अभी पाश्चात्य वैज्ञानिक नहीं कर सके। सृष्टि फैलती जाती है—यह सिद्धान्त भी सभी वैज्ञानिकों को मान्य नहीं है। नेबुला के चारों ओर जो गैस और डस्ट है और जो तारकाओं के प्रकाश को हम तक आने से रोकती है, क्या है? अभी ऐसे अनेक तथ्य प्रश्नवाचक चिह्न से अंकित हैं और समाधानकी आकांक्षा रखते हैं।

जोह्न हैनरिच लैम्बर्ट के जो विचार इस ग्रन्थ के पृष्ठ २६३ पर अंकित हैं, बहुत सुलझे हुये प्रतीत होते हैं। वे कहते हैं:—

"दी ला आव ग्रैविटेशन एक्सटेन्ड्स यूनीवर्सैली ओवर आल मैटर। दी फिक्स्ड स्टार्स ओवेइंग सेन्ट्रल फोर्सेज मूव इन आरबिट्स। दी मिल्की वे काम्प्रीहेन्ड्स सेवेरल सिस्टम्स आव फिक्स्ड स्टार्स:—दोज दैट एपियर आउट आव दी ट्रैक्ट आव दी मिल्की वे फार्म बट वन सिस्टम ह्विच इज अदर ओन—ईच सिस्टम हैज इट्स सेन्टर ऐण्ड सेवेरल सिस्टम्स टेकेन टुगैदर हैव ए कानन

सेन्टर।—इन फाइन देयर इज ए यूनीवर्सल सेन्टर फार दी होल वर्ल्ड राउन्ड हि्वच आल थिंग्स रिवाल्व।"

आकर्षण का नियम विश्व भर में व्याप्त है। स्थिर प्रतीत होते हुए तारे केन्द्रिय शक्तियों के आदेश में अपने अपने कक्षावृत्तों में घूम रहे हैं। दुग्धपथ (ऐरावत हाथी की गैल) में स्थिर तारों के अनेक समूह हैं। इससे बाहर जो तारे हैं, उनकी भी एक श्रेणी है। प्रत्येक श्रेणी का एक एक केन्द्र है और यदि सभी श्रेणियों को लिया जाय तो उन सब का एक साझा केन्द्र है। संक्षेप में समग्र ब्रह्माण्ड का भी एक सार्वभौम केन्द्र है जिसके चारों ओर सब चक्कर काट रहे हैं।

केन्द्रों के भी इस केन्द्र को हमारे यहाँ पुरुष या प्रजापति नाम दिया गया है। सूर्य सौर जगत का केन्द्र है तो हिरण्यगर्भ समस्त ब्रह्माण्ड का केन्द्र है और स्कम्भ उसके भी पूर्व है। अणु से लेकर ब्रह्माण्ड तक अनेक केन्द्र हैं, परन्तु सब केन्द्रों का भी एक केन्द्र है जिसके चतुर्दिक सब नृत्य करते हुए उसी तक पहुँचना भी चाहते हैं। जब तक नृत्य है, तब तक जगती में जगत है। प्रलय में सब उसी एक केन्द्र में लीन हो जाते हैं। मोक्ष में मुक्तात्मा उस केन्द्र के साथ आनन्द का भोग करते हैं।

ग्रन्थ के पृष्ठ ८६ पर जो विचार प्लेटो के अंकित किये गये हैं, वे भारतीय दर्शन के ही अनुकूल हैं। प्लेटो कहते हैं :—

"वि मस्ट एग्री दैट देयर इज़, फर्स्ट, दी अनचेन्जिंग फार्म, अनजेनेरेटेड ऐण्ड इनडेस्ट्रक्टिविल, ह्विच नाइदर रिसीव्ज एनीथिंग एल्स इन्टू इटसेल्फ फ्राम एल्सह्वेयर, नार इटसेल्फ एन्टर्स इन्टू एनीथिंग एल्स एनीह्वेयर, इनविज़ीबिल ऐण्ड अदरवाइज इमपर्सेप्टिविल।"

प्लेटो का यह परिवर्तन-रहित, अनुत्पन्न तथा अविनाशी तत्त्व ही प्रजापति रूपी केन्द्र है जो अजायमान है तथा अव्यय है। श्वेताश्वतर उपनिषद् ने इसके समकक्ष या इससे अधिक किसी को भी नहीं माना। यह न लेता है न किसी का उपादान कारण बनता है। "न तस्य कार्यं करणं च विद्यते" "न

तस्य कश्चित् पतिरस्ति लोके न चेशिता नैव च तस्य लिंगम्" "एको देवः सर्वभूतेषु गूढः" आदि पद प्लेटो के शब्दों से अद्‌भुत साम्य रखते हैं। प्लेटो स्पेस या आकाश को नित्यतत्व मानता था और वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी को विश्व के निर्माण में प्राथमिक तत्व स्वीकार करता था। हमारे यहाँ आकाश को भी एक तत्व माना गया है जिसका गुण शब्द है और जो सब तत्वों का मूल है। अन्य तत्व उसी में से और उसके पश्चात् प्रकट होते हैं।

वैज्ञानिक जिन्हें रेडियेशन और अर्थ (earth) का नाम देते हैं, उन्हें हम सौराग्नि और पार्थिव अग्नि कह सकते हैं। अघमर्षण सूक्त के अनुसार यही ऋत और सत्य हैं। सौराग्नि के बाह्य परत पर तप्त ज्वाला समूह है, परन्तु पृथ्वी के गर्भ में अग्नि है। यही दोनों अवस्थायें अग्नि और सोम अथवा प्राण और रयि भी कही जाती हैं। पार्थिव तत्व अपने सजातीय तत्व को ही आकर्षित करता है। सौर तत्व सबको आकर्षित करता है। सूर्य की किरणें समस्त सौर परिवार के ग्रहों, पिण्डों तथा उनके निवासियों को लाभ पहुँचाती हैं। सौर जगत की परिधि इतनी विस्तृत है कि हम अपने सामान्य ज्ञान में उसका अनुमान भी नहीं कर सकते। इसी प्रकार के न जाने कितने सौर परिवारों का पता वैज्ञानिक लगा चुके हैं।

पार्थिव तत्व में ही तत्व कैसे छिपा पड़ा है, इसका किंचित आभास हमें उन चमकते हुए हीरों, रत्नों तथा सुवर्णादि से हो सकता है जो पृथ्वी से ही उत्पन्न होते हैं। वैज्ञानिक सुवर्ण से पहले की अवस्था लोहा, लोहा से पहले पत्थर, पत्थर से पहले शर्करा या मोटा मोरिंग, मोरिंग से पहले बालू या सिकता, सिकता से पहले मुलायम मिट्टी आदि का क्रम बतलाते हैं जो हमारे यहाँ के (शतपथ ६–१–१–१३) क्रम के अनुकूल ही है।

विश्व के प्राचीनतम साहित्य ऋग्वेद के पुरुषसूक्त तथा नासदीय सूक्त सृष्टि विद्या के लिये ख्याति प्राप्त कर चुके हैं। पुरुष सूक्त पर हम विगत प्रकरण में अपने स्वतन्त्र विचार प्रकट कर चुके हैं। यहाँ पर नासदीय सूक्त की व्याख्या प्रस्तुत की जाती है जो ऋग्वेद के दशम मण्डल का १२९ वां सूक्त है।

नासदासीन्नो सदासीत् तदानीम्, नासीद्रजोनो व्योमा परोयत्।
किमावरीवः कुहकस्य शर्मन्, अम्भः किमासीद् गहनं गभीरम्॥ १॥

उस समय (सृष्टि से पूर्व) न असत् था, न सत था। असत् उसे इसलिये नहीं कह सकते क्योंकि सृष्टि का निर्माता तथा उपादान दोनों विद्यमान थे। पर वे हम सब के लिए अप्रकट थे, अतः उसे सत् भी नहीं कह सकते। उस समय कोई रजः अर्थात् लोक नहीं था और लोकों से भी परे जो व्योम दिखलाई देता है, वह भी उस समय नहीं था, क्योंकि पर व्योम की स्थिति लोक की अपेक्षा रखती है। जब लोक ही नहीं है, तो उसके परे की बात कैसे की जा सकती है ? किसने आच्छादित किया था, कहाँ और किसके आश्रय में– कुछ कहते नहीं बनता। क्या उस समय गहन गम्भीर (अम्भः) जल था ? ऐतरेय उपनिषद् के प्रारम्भ (१–१–१) में चार लोकों का वर्णन है :—

स इमान् लोकान् असृजत् अम्भो मरीचिर्मर आपः।
अदोऽम्भःपरेण दिवंद्यौ प्रतिष्ठा। अन्तरिक्षंमरीचयः पृथिवीमरः या अधस्तात् ताआपः॥ १॥

यहाँ अम्भ को द्यौ में प्रतिष्ठित, सूर्य लोक से भी ऊपर बताया है। यह अम्भ जल की मूलावस्था है जो महः जनः तपः तथा सत्यम् लोकों में व्याप्त है। अन्तरिक्ष का वाष्पीय जल मरीचि है। पृथ्वी का जल मर है और जो नीचे है अथवा पृथ्वी को खोद कर निकाला जाता है उसे आपः कहते हैं। ऋक ७–४९–२ तथा अथर्व ४–८–५ में भी जल के इन विविध रूपों का वर्णन है।

न मृत्यु रासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधयातदेकं तस्मात् द्व अन्यत् न किञ्चनास॥ २॥

उस समय न मृत्यु थी, न अमरता थी क्योंकि ये दोनों सृष्टि में जीव-सापेक्ष हैं। जब जीवों की योनियाँ ही नहीं हैं, तो मृत्यु अर्थात् एक योनि से

दूसरी योनि में जाने तथा अमृत अर्थात् निर्वाण की बात कैसे की जा सकती है ? उस समय रात्रि अथवा दिन का ज्ञापक भी कोई चिह्न नहीं था। हां उस समय एक तत्व अवश्य था जो अपनी स्वयं धारणात्मक शक्ति से बिना वात या प्राण के ही प्राणवान था, जीवित था। उसके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं था।

तम आसीत् तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमाइदम्।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत् तपसस्तन्महिनाऽजायतैकम् ॥३॥

तम से आच्छादित उस समय तम ही था। यह सब जो इस समय सृष्टि में दृष्टिगोचर हो रहा है, अविज्ञेय अथवा चिह्नरहित सलिल के रूप में था। वह एक आभु (चारों ओर सत्ता के रूप में प्रकट होने वाला प्राकृत सत्व) जो तुच्छ्य अर्थात् शून्य के द्वारा अपिहित था, तप की महिमा से उत्पन्न हुआ। यहां तुच्छ्य, परम शून्य, सबके तिरोहित हो जाने पर भी सत्ता रूप में अवशिष्ट, अव्यय, परात्पर परमेश्वर के लिये प्रयुक्त हुआ है और आभु एक से बहुत हो जाने वाली प्रकृति के लिये। तप की महिमा से ही प्रकृति ऋत और सत्य दो दलों में फूटकर अनेक रूप धारण करती है, ऐसा अघमर्षण सूक्त में भी कहा गया है। सलिल शब्द भी प्रकृति के ही लिये आया है।

कामस्तदग्रेसमवर्ततांधि मनसोरेतः प्रथमं यदासीत्।
सतोवन्धुमसतिनिरविन्दन् हृदि प्रतीष्याकवयोमनीषा ॥ ४ ॥

तप से भी पूर्व काम वर्तमान था। उपनिषद भी सृष्टि के मूल में काम अथवा ईक्षण का ही वर्णन करती हैं। यथा 'सईक्षत...तमभ्यतपस्य।' ऐतरेय १-३ 'सोऽकामयत, स तपो अतप्यत'। बृहदारण्यक १$\frac{२}{३}$। यह काम मन का प्रथम बीज था। कवियों ने बुद्धि द्वारा हृदय में खोज की तो उन्हें सत (प्रकट सृष्टि) का बन्धु (सूत्र) असत (अप्रकट प्रकृति) में ही प्राप्त हो गया।

तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषाम् अधः स्विदासीत् उपरि स्विदासीत्
रेतोधा आसन् महिमान आसन् स्वधाअधस्तात्प्रयतिः परस्तात् ॥५॥

तप के पश्चात् जब प्रथम प्रकाशपिण्ड आविर्भूत हुआ तो उसकी किरणें विरछी पड़ती थीं। वे तिरछे रूप में फैलीं। क्या नीचे और क्या ऊपर—सब ओर महत्तत्व का प्रकाश होने लगा। पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने इसी स्थिति को विशाल गैस पिण्ड का नाम दिया है। महत्तत्व को ही अपने यहाँ ज्येष्ठ या हिरण्यगर्भ कहा गया है। उसमें रेतोधा—वीर्यधारण करने वाले जीव भी थे जो आगे चलकर मैथुनी सृष्टि का प्रसार करेंगे और महिमान-मुक्तात्मा अथवा देव भी थे अथवा ऐसे पुण्यात्मा महात्मा भी थे जो सृष्टि के आदि में एक बार अमैथुनी ईश्वरीय प्रणाली से उत्पन्न होकर फिर मैथुनी सृष्टि में जन्म नहीं लेते, मुक्त हो जाते हैं। उस समय स्वधा-प्रकृति नीचे थी और प्रयति परे अर्थात् ऊपर थी। स्वधा को हम सत, धारक या तत्त्व और प्रयति को ऋत अर्थात् पुंस्तत्व भी कह सकते हैं। एक में पार्थिवता है तो दूसरे में दिव्यता। एक में स्थिरता है तो दूसरे में गतिशील प्रयत्न।

इयं विसृष्टिर्यत आबभूव, यदि वा दधे यदि वा न।
योऽस्याध्यक्षः परमे व्योमन् सो अंग वेद यदि वा न वेद ॥ ६ ॥

जिससे यह विविध रूपा सृष्टि प्रकट हुई, उसी ने इसे धारण किया या नहीं? परम व्योम में जो इसका अध्यक्ष है, वही सब कुछ जानता है अथवा संभव है, वह भी नहीं जानता। इस कथन का आशय यही है कि जैसा हम लोगों का ज्ञान है, वैसा उसका नहीं है। वह सर्वज्ञ है, पर प्रपञ्च से भी सर्वथा पृथक है। ज्ञान और अज्ञान हमारी अपेक्षा से हैं—वह तो दोनों से ही परे है—परात्पर है—जानने या न जानने का प्रश्न उसके सम्बन्ध में उठता ही नहीं। जब सब कुछ उसके अन्दर है तो वह त्रिपादूर्ध्व एक पाद का अध्यक्ष ही है। यह सब उसकी महिमा है। अपनी महिमा को जानना या न जानना कैसा?

नासदीय सूक्त भाववृत्त सूक्त भी कहलाता है। भाववृत्त ही इसका देवता है। भावमयी सृष्टि के लय और उद्भव की कथा इस सूक्त में उपनिबद्ध की गई है।

अभी तक सृष्टि प्रकरण से सम्बद्ध पौरस्त्य तथा पाश्चात्य साहित्यों से जो विवरण प्रस्तुत किये गये हैं, उनमें सामंजस्य की किञ्चित झलक भी प्राप्त हो जाती है। लेख के प्रारम्भ में जिस जागरण की चर्चा है, वह बहुत्वमयी, नानात्वमयी प्रपंच-लीला है। इसमें विभेद ही विभेद है। आधुनिक वैज्ञानिक तथा साधारण विद्वान भी इसका प्रत्याख्यान नहीं कर सकते। पर इस विभेद को एकता के सूत्र में भी किसी ने बांधा है। यह एक सूत्रकार अज है। जिन्हें हम पञ्चतन्मात्रा कहते हैं, वे वस्तुतः गुण हैं। आप इन्हें आधुनिक विज्ञान की एनर्जी का नाम भी दे सकते हैं। जैसे एनर्जी का परिणमन मैटर में हुआ है, वैसे ही पंचतन्मात्राओं का पंचभूतों में।

जागरण के प्रथम स्वप्नावस्था होती है। इसे अहिर्बुध्न्य समझिये, विष्णु की शेषशैया, जिसमें ,मन और अहंकार मिलकर ब्रह्मारूपी शक्ति, सृष्टि या जागरण की प्रजनन-शक्ति—को उत्पन्न करते हैं। पुराणों में ब्रह्मा विष्णु की नाभि से उद्भूत कमल से ही उत्पन्न होते हैं। वैज्ञानिकों के नीहारिकावाद का समावेश इस स्वप्नावस्था में किया जा सकता है।

स्वप्न के पूर्व सुषुप्ति होती है। यह अपांनपात् पेरु तथा महानात्मा की अवस्था है। इसे हमने मनोविज्ञानियों की क्लेक्टिव अनकान्सस कहा है। भौतिकी में जो रैडियेशन माना जाता है या फोटौन्स का विकिरण कहा जाता है, वह इसके समकक्ष है। जागरण, स्वप्न और सुषुप्ति को जो सृष्टिमात्रा सृष्टि और प्रलय काल में दिखाई देती है, उसकी स्वरूप मात्रा सृष्टि के जागरण-काल में भी उसी प्रकार अनुभूत होती रहती है जैसे हम प्रतिदिन अपने जीवन में अनुभव करते रहते हैं। एक मन्वन्तर से दूसरे मन्वन्तर तक आने में और एक चतुर्युगी से दूसरी चतुर्युगी तक प्रवेश करने में या एक युग से दूसरे युग में प्रवेश करने पर दिन और रात्रि और दिन अथवा जागरण और स्वप्न और जागरण का स्वल्पकालिक अनुभव होता रहता है।

सृष्टि का प्रारम्भ अज एकपात् से होता है। उसके पूर्व अहिर्बुध्न्य और

अहिर्बुध्न्य से पूर्व पेरु की अवस्थायें हैं। अज ब्रह्मा है, अहिर्बुध्न्य विष्णु है और पेरु हिरण्यगर्भ या रुद्र या सूर्य है। इन्हें हमने पंचभूत, पंचतन्मात्रा और महत्तत्व भी कहा है। जब सृष्टि बन गई तो क्रम विपरीत हो जाता है। अज की कृति सृष्टि है, अहिर्बुध्न्य की कृति स्थिति या रक्षण है और पेरु की कृति प्रलयोन्मुखता है। ब्रह्माण्ड के सप्त लोकों में अज या ब्रह्मा की स्थिति जनः, तपः तथा सत्यम् लोकों में है, अहिर्बुध्न्य या विष्णु की स्थिति स्वः, महः तथा जनः लोकों में है और पेरु या सूर्य की स्थिति भूः, भुवः तथा स्वः लोकों में है। पंचतत्वों की दृष्टि से भूः में पार्थिव तत्व, भुवः या अन्तरिक्षीय चन्द्रमा में जलीय तत्व, स्वः या सूर्य में आग्नेय तत्व, महः और जनः में वायवी (सोमीय तथा आपोमय) तत्व और तपः तथा सत्य में आकाशीय तत्व है। ऋत-सत्य, काल-दिक्[1] अथवा अग्नि-सोम की दृष्टि से भी लोकों का विभाजन किया जा सकता है। यह जागरण से सुषुप्ति या सुषुप्ति से जागरण तक की व्याख्या हुई।

सुषुप्ति से पूर्व तुरीयावस्था है जो वर्णनातीत है। यहाँ प्रकृति पुरुष में लीन है। यह अभेद की अवस्था है। पेरु या महानात्मा से भेद प्रारम्भ हो जाता है तथा अहिर्बुध्न्य या विष्णु की दशा में उसकी इकाई स्पष्ट बनने लगती

---

[1] हमारे यहां काल और दिक को भी द्रव्य माना गया है। काल सब को गतिशील रखता है। इसमे क्रिया का अपर तथा परत्व लक्षित होता है। दिक में पदार्थ स्थिर रहते हैं। ऋत और सत्य की सूक्ष्मता इन दोनो द्रव्यों मे भी दिखाई देती है। अन्तर इतना ही है कि जहां ऋत गत्यात्मक नियमों को कहते हैं, वहां काल वह शक्ति है जिसमे पदार्थ गतिशील होते हैं। सत्य सत्ता या स्थिरता लाने वाला है तो दिक मे पदार्थ स्थित होते हैं। काल में घटनायें घटित होती हैं, दिक में वस्तुयें ठहरती हैं। काल मे आगे—पीछे क्रम का नैरन्तर्य है, दिक सपाट है। काल के कोई दो भाग एक साथ नहीं रह सकते, दिक के सभी भाग एक साथ रहते हैं।

है। इकाई का आरम्भ सात्विक अहंकार से होता है। इसी को यज्ञ कहते हैं। शतपथ ने यज्ञो वै विष्णुः कह कर इसका समर्थन किया है। प्रपञ्च के विभेद में फैल कर अभेदत्व नानात्व एवं बहुत्व में प्रख्यात होता है। विज्ञान इस अभेद की अवस्था को अपने अध्ययन का विषय बना ही नहीं सकता। विभेद में अभेद, अनेक में एक का आलोचन दर्शन का विषय रहा है। गीता ने इसी को ज्ञान कहा है। विज्ञान तो अनेकत्व या बहुत्व से सम्बन्ध रखता है। निष्फल नहीं, सकल की व्याख्या करना उसका क्षेत्र है।

आधुनिक विज्ञान आज अपने क्षेत्र को व्यापक बनाने की ओर भी प्रवृत्त है। फिजिक्स अब मेटाफिजिक्स की बातें भी करने लगी है, जिसका आभास सर जेम्स जीन्स, आर्थर ऐडिंग्टन, आइन्स्टाइन आदि के ग्रन्थों से प्राप्त हो रहा है। यदि विज्ञान इसी प्रकार प्रगति करता गया तो वह ज्ञान या दर्शन से मिल जायगा।



प्रलय प्रकरण

स्कम्भेनेमे विष्टभितेद्यौश्चभूमिश्चतिष्ठतः ।
स्कम्भे इदं सर्वमात्मन्वद्यत्प्राणन्निमिषच्चयत् ॥ २ ॥
(अथर्व १०–८–२)

स्कम्भ के द्वारा धारित ये द्यावा और पृथ्वी ठहरे हुए हैं। यहाँ जो कुछ सजीव तथा अजीव है वह सब स्कम्भ में ही आत्मन्वत् आत्मसात अर्थात् लीन हो जाता है।

यदेजति पतति यच्च तिष्ठति प्राणदप्राणन्निमिषच्चयद्भुवत्।
तद्दाधार पृथिवीं विश्वरूपं तत्संभूय भवत्येकमेव ॥ ११ ॥

जो चलता है, गिरता है, ठहरा है, प्राणवान है, अप्राणवान है, जड़ या सोया हुआ है, आविर्भाव में आ रहा है—उन समस्त रूपों वाली पृथ्वी को स्कम्भ ही धारण कर रहा है। अन्त में इकट्ठा होकर यह सब उसी स्कम्भ के साथ एक हो जाता है।

यतः सूर्यउदेत्यस्तं यत्र च पच्छति।
तदेव मन्येऽहं ज्येष्ठं तदु नात्येति किंचन ॥ १६ ॥

यह सूर्य जिसके कारण उदय होता है और जिसमें अस्त को प्राप्त होता है, उसी को मैं ज्येष्ठ मानता हूँ। उसको कोई अतिक्रान्त नहीं करता है।

सनातनमेनमाहुः उताद्य स्यात् पुनर्णवः।
अहोरात्रे प्रजायेते अन्यो अन्यस्य रूपयोः ॥ २३ ॥

जिस आज को हम अभिनव रूप में देखते हैं, वह सनातन है, सदैव से ऐसा ही नया होता आया है। कल का दिन ऐसा ही नया था और जो आने वाला है वह भी ऐसा ही नया होगा। दिन के पश्चात रात्रि और रात्रि के पश्चात दिन, उदय के उपरान्त अस्त और अस्त के उपरान्त उदय, इस के

बाद प्रकाश और प्रकाश के बाद तम न जाने कब से चले आते हैं और एक दूसरे के रूप के समान हैं।

कालादापः समभवन्कालाद्ब्रह्मतपो दिशः।
कालेनोदेति सूर्यः काले निविशते पुनः ॥ अथर्व १९।५४।१

कालरूप परमेश्वर से ही आपः (नासदीय सूक्त का अप्रकेत सलिल तथा अघमर्षण सूक्त की रात्रि) प्रकट हुए। काल से ही ब्रह्म (हिरण्यगर्भ), तप तथा दिशायें आविर्भूत हुईं। सूर्य काल द्वारा ही उदय करता है और काल में ही पुनः सन्निविष्ट अर्थात् लीन हो जाता है।

तम आसीत्तमसागूढमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छ्येनाम्वपिहितं यदासीत् तपसस्तन्महिना जायतैकम् ॥
ऋ० १०-१२९-३

सृष्टि के पूर्व तम से आच्छन्न तम ही था। यह सब चिह्नरहित सलिल था। आभु (चारों ओर सृष्टि में विविध रूपों में प्रकट होने वाला प्रकृति का रूप) तुच्छ्य, शून्य, शेष द्वारा आच्छादित था। वह एक तप की महिमा से प्रकट हुआ।

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत्।
दिवञ्च पृथिवीञ्चान्तरिक्ष मथो स्वः ॥ ऋ० १०-१९०-३

सृष्टि के पूर्व कल्प की भांति इस कल्प में भी धाता ने सूर्य और चन्द्रमा की रचना की। पूर्व रूप में ही द्यौ, पृथ्वी, अन्तरिक्ष और स्वर्ग की भी रचना हुई।

ऊपर जो मंत्र उद्धृत किये गये हैं, उनसे सिद्ध होता है कि सृष्टि और प्रलय का चक्र सनातन है। उसका उदय और अस्त, आविर्भाव एवं तिरोभाव दिन और रात्रि के समान निरन्तर होता रहता है। अभिनवता तथा समानता अथवा एकरूपता भी सनातन है। इस आविर्भाव एवं तिरोभाव का, सृष्टि एवं प्रलय का अधिष्ठाता और निमित्तकारण परमतत्त्व है। उत्तर मीमांसा

अथवा वेदान्त इसी को जन्म, स्थिति और प्रलय का कारण कहता है। तैत्तिरीय उपनिषद् इसी को ब्रह्म नाम देती है :—

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति ।
यत्प्रयन्त्यभि संविशन्तितद्विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म ॥ भृगुवल्ली, अनु॰ १

इस ब्रह्म को जानने की इच्छा करो। इसी से ये सब भूत उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जीवित रहते हैं और अन्त में इसी में समा जाते हैं, प्रविष्ट हो जाते हैं।

प्रलय का अर्थ है लीन हो जाना, छिप जाना, तिरोहित या अस्त हो जाना। जैसा हम पीछे लिख चुके हैं, ब्रह्माण्ड और उससे सम्बन्धित विषयों को समझने के लिये पिण्ड का परिज्ञान पर्याप्त है। शरीर दिनभर के कार्य के उपरान्त विश्राम की आवश्यकता अनुभव करता है। निद्रा में यह विश्राम उसे प्राप्त हो जाता है। ब्रह्माण्ड में जागरण रचना है और स्थिति क्रिया का काल है। ब्रह्माण्ड की प्रलय ही निद्रा है। सृष्टि प्रकरण में रचना के जो स्तर वर्णित हुए हैं, यदि उनके क्रम को पलट दें तो प्रलय के स्तर सम्मुख आ जायँगे। जिस क्रम से रचना का विकास होता है, उसके विपरीत क्रम से प्रलय होती है।

रचना में पृश्नि या प्रकृति या अदिति के पश्चात् पेरु, पेरु के पश्चात् अहिर्बुध्न्य और अहिर्बुध्न्य के पश्चात् अज एकपात् की अवस्था आती है। पुरुष सूक्त ने जो हुआ, जो है और जो होगा, उसे पुरुष का एक पाद कहा है। अज ब्रह्मा है। ब्रह्मा से विराट और विराट से मनु आदि द्वारा सृष्टि का विस्तार होता जाता है। यह सूक्ष्म से स्थूल की ओर गमन है। प्रत्यागमन या प्रलय में क्रम उलट जाता है। जहाँ से सब चले थे, वहीं पहुंच जाते हैं। पृश्नि से चलकर अज तक पहुँचे थे, अब अज से चल कर पृश्नि तक पहुँचते हैं।

अघमर्षण सूक्त में अर्णवान समुद्र की चर्चा है। समुद्र का अर्थ है जहां से सब बाहर की ओर दौड़ लगावें तथा जिसकी ओर सब सब ओर से दौड़ लगावें। निरुक्त, नैगमकाण्ड, द्वितीय अध्याय के तृतीय पाद में समुद्र की

निरुक्ति देते हुए यास्काचार्य लिखते हैं :—समुद्रः कस्मात् समुद्द्रवन्ति अस्मात् आपः, समभिद्रवन्ति एनम् आपः वा। जल समुद्र से निकलता है और उसी में समा जाता है। इसी प्रकार प्रकृति से सृष्टि निकलती है और उसी में लीन हो जाती है।

जिस आकाश में सत्-रज-तम की साम्यावस्था वाले परमाणु प्रलय में ठहरते हैं, वे प्रभु के अधीक्षण में परस्पर आकर्षण में जब बद्ध होते हैं, तब सर्वप्रथम उस आकाश का ही आविर्भाव होता है। उससे वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी प्रकट होती है। प्रलय में पृथ्वी जल में, जल अग्नि में, अग्नि वायु में और वायु आकाश में लीन हो जाता है। महत्तत्व की दृष्टि से विचार करें तो पंचमहाभूत पञ्चतन्मात्राओं में, पञ्चतन्मात्रायें तामस अहंकार में, इन्द्रियगण राजस अहंकार में, मन आदि सात्विक अहंकार में, अहंकार महत्तत्व में और महत्तत्व प्रकृति में लीन होता है। सूक्ष्म से स्थूल की ओर परिधि है, विस्तार है, तो स्थूल से सूक्ष्म की ओर संकोच है, केन्द्रस्थता है।

प्रलय चार प्रकार की मानी जाती है :—नित्य, नैमित्तिक, प्राकृत और आत्यन्तिक। नित्य प्रलय का रूप जगत की क्षण-क्षण की क्षयिष्णु अवस्था है। यहां पल-पल में परिवर्तन हो रहा है। जीवन के घटक घिस रहे हैं, पत्ते झड़ रहे हैं, अन्न खाया जा रहा है, आपोमय मण्डल का सोम सूर्य मण्डल में आहुत हो रहा है, सरित-सरोवर-समुद्र का जल वाष्प बनकर अन्तरिक्ष में जा रहा है, संसार दिनभर की थकान के पश्चात निद्रामग्न हो रहा है—यह सब नित्य प्रलय का रूप है।

नैमित्तिक प्रलय में आंशिक या खण्ड प्रलय होती है। इस प्रलय के कारण जहाँ समुद्र था वहां रेगिस्तान हो जाता है, समुद्र अपना स्थान बदल देता है। जहां स्थल था, वहां समुद्र हो जाता है, कभी कभी स्थल के ऊँचे भाग समुद्र में टीले या द्वीप के समान दिखाई देने लगते हैं। मानव इतिहास में सुरक्षित विगत जलप्लावन में समुद्र का जल बढ़ता हुआ हिमालय तक आ

गया था। पुरातत्व के अन्वेषक हिमालय पर कहीं-कहीं जो समुद्री जलचरों की हड्डियां आज भी प्राप्त कर लेते हैं, वह उसी जल-प्लावन की देन का अवशिष्ट भाग है। मंगोलिया की मरुभूमि में भी इसी प्रकार के अंश कभी-कभी उपलब्ध हो जाते हैं। भूगोल के विद्वान अफ्रीका के पश्चिमी और अमरीका के पूर्वी भाग की सामुद्रिक सीमाओं के पास जो आकृति देखते हैं, उससे दोनों महाद्वीप कभी एक थे, ऐसा अनुमान करने लगते हैं। किसी खंड प्रलय ने दोनों महाद्वीपों को एक से दो कर दिया और बीच में समुद्र बहने लगा। पृथ्वी के सभी परिवर्तन इसी प्रकार की खण्ड या आंशिक प्रलय के कारण हुए हैं। यह प्रलय युग के अन्त में हो या मन्वन्तर के अन्त में, या विधि-विधान से बीच में भी, तो भौगोलिक स्थिति में अन्तर पड़ ही जायगा। यही कारण है कि हमारे प्राचीन साहित्य में पृथ्वी, द्वीप, वर्ष, पर्वत, सरिताओं आदि का जो वर्णन उपलब्ध होता है, वह आज की स्थिति से भिन्न है।

नैमित्तिक प्रलय में कभी पृथ्वी जलमग्न हो जाती है, कभी जल भी तेज में मग्न हो जाता है। अतः जहां से प्रलय होगी वहीं से सृष्टि का प्रारम्भ होगा। आग्नेय प्रलय के पश्चात सृष्टि अग्नि तत्व, विद्युत या तेज से प्रारम्भ होगी। जल प्रलय के पश्चात जल से प्रारम्भ होगी, परन्तु प्राकृत प्रलय या महाप्रलय में समस्त ब्रह्माण्ड अपने मूल अर्थात् प्रकृति में लीन हो जाता है। अतः नवीन सर्ग का आरम्भ आकाश से होता है। भूः, भुवः तथा स्वः लोकों तक की प्रलय नैमित्तिक प्रलय में आती है, परन्तु भूः से सत्यलोक तक की प्रलय महाप्रलय या प्राकृत प्रलय कहलाती है। इसमें न पंचमहाभूत और न उनसे बने हुए ग्रह-पिंड रहते हैं और न इनके सूक्ष्म रूप पंचतन्मात्रा, अहंकार और महत्तत्व ही। सब मूल प्रकृति में विलीन हो जाते हैं। इस प्रलय का समय ब्रह्मा की पूर्णायु, दो परार्ध या परान्तकाल है। प्रभु की दृष्टि में यह क्षणवत् भी नहीं है।

ब्रह्माण्ड का अर्थ है—बड़ा अण्डा या ब्रह्मा का शरीर। जबतक ब्रह्मा की आयु है, तब तक उसका शरीर भी रहेगा। इस विचार के अनुसार सौ से

पृथ्वी पर्यन्त समस्त ब्रह्माण्ड परान्तकाल तक बना रह सकता है। रात्रि में जैसे हम सो जाते हैं, वैसे ही एक कल्प या १४ मन्वतरों रूपी ब्रह्मा के एक दिन के पश्चात जो प्रलयरूपी रात्रि आती है, उसमें केवल चैतन्यांश सुप्त या तिरोहित होता है, प्राकृत ब्रह्माण्ड शरीर की भाँति ज्यों का त्यों बना रहता है। शारीरिक परिवर्तनों की भाँति उसमें परिवर्तन हो सकते हैं, पूर्ण विनाश नहीं। Cosmic rays या ब्रह्माण्डीय किरणों के आधार पर इस विचार की स्थापना की जा सकती है। वर्तमान सृष्टि की जो आयु हम एक अरब सतानवे करोड़ वर्षों के लगभग दैनिक अनुष्ठान में पठित संकल्प से निकालते हैं, वह पार्थिव सृष्टि की नहीं, वर्तमान मानव सृष्टि की आयु है। कतिपय वैज्ञानिक हमारी लगभग दो अरब वाली कल्पना या गणना का समर्थन करने लगे थे, पर अब वे पार्थिव सृष्टि की आयु को अनेक अरब वर्षों की बतलाने लगे हैं।

ऊपर जिन प्रलयों का वर्णन किया गया है, उनका सम्बन्ध भौतिक जगत से है। एक प्रलय ऐसा भी है जिसका अभौतिक अर्थात् चेतन प्राणियों से—विशेषतः मानव योनि से सम्बन्ध है। इस प्रलय का नाम आत्यन्तिक प्रलय है। इसका कोई निश्चित समय नहीं है। यह जीव की मुक्ति या मोक्ष से सम्बन्धित है। इसमें जीवात्मा साधना से सम्पन्न हो स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण शरीरों से मुक्त हो जाता है। ये तीनों शरीर प्राकृत हैं और क्रमशः तम, रज तथा सत्व गुणों वाले हैं। तीनों ही आत्मा के ऊपर पड़े हुए आवरण हैं। इन आवरणों से पृथक होना, इन अधम, मध्यम तथा उत्तम पाशों से मुक्ति पाना आत्यन्तिक प्रलय कहलाता है। इसमें जीवात्मा बन्धनों से छूटता तथा परमात्मा को प्राप्त करता है। पाशों ने उसे संकीर्णता दी थी, मुक्ति उसे महात्व प्रदान करती है। जीव की यही परमगति है। इस अवस्था में उसके लिये प्रकृति की आत्यन्तिक प्रलय हो जाती है। त्रिविध दुःखों—आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक—की अत्यन्त निवृत्ति हो जाती है। वह ब्रह्म के साथ आनन्दामृत का उपभोग करता है। आर्ष साहित्य में इस अवस्था का वर्णन बाहुल्य से हुआ है।

स्वरों का मूल अ आविर्भाव, उत्पत्ति, जन्म या जागरण का सूचक है। उ स्वर स्थति का ज्ञापक है और व्यञ्जन म से उपशम, तिरोभाव, निद्रा, निरोध, प्रलय की अभिव्यञ्जना होती है। कण्ठ से लेकर ओष्ठ तक का देश स्वर-व्यञ्जनमयी ध्वनियों का क्रीडास्थल है। कण्ठ से प्रारम्भ, कण्ठ से ओष्ठ तक मध्य स्थिति और ओष्ठों के बन्द होने पर अन्त हो जाता है। सृष्टि, स्थिति और प्रलय की भी यही दशा है। चारों प्रकार की प्रलय निरोध है, उपशम है, प्रपञ्च का समाप्त हो जाना है। यह प्रपञ्च कब से चल रहा है, कोई नहीं जानता। सृष्टि के पश्चात् प्रलय और प्रलय के पश्चात् सृष्टि होती ही रहती है। हम मध्य में पड़े हुए जीव इसकी मध्य स्थिति को ही देख पाते हैं और उसे भी स्वल्प मात्रा में। सृष्टि और प्रलय का दर्शन तो परम देव परमात्मा ही करते हैं या मुक्तात्मा जीव परमदेव सूत्रधार हैं, नायकों के भी नायक हैं, नरों में नृतम हैं। मुक्तात्मा भी नायक हैं। प्रारम्भ में वे ही यज्ञ पुरुष का अभिषेक करते हैं और यज्ञ से यज्ञ का यजन चल पड़ता है। यज्ञ की पूर्णाहुति एवं समापन इस लीला का संवरण है। यही प्रलय है।



वेदों का आविर्भाव

वाणी चार प्रकार की है: परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी। परा एकदम मूक है। सामान्य जन ही नहीं, साधकों के लिए भी अश्रवणीय, अननुमेय, अप्रतक्र्य तथा अदृश्य। यह वाणी का मूलरूप है जो अपने मूल आत्मा के साथ एक रूप है। मूल के पश्चात जब सृष्टि का आविर्भाव होता है तब एक ओर महत्तत्त्वऔर दूसरी ओर पश्यन्ती वाणीकी युगपद् अभिव्यक्ति होती है। इसी को देवों का युग भी कहते हैं। यह अवस्था निरन्तर प्रकाश की अवस्था है। मंत्र दर्शन इसी अवस्था में होता है। ऋषि मन्त्रों का दर्शन करते हैं[1], श्रवण नहीं। श्रवण की प्रक्रिया परकालवर्ती है, जिसमें मंत्रों की संज्ञा श्रुति बनती है। देवों की बृहत अमृतमयी अवस्था[2] भी यही है। अल्पकालीन अमृत का आस्वाद तो साधारण साधक को भी प्राप्त होता रहता है और किसी-किसी मंत्र की झलक भी आती रहती है, पर जिसे बृहत् अमृत कहा गया है तथा साक्षात मन्त्र दर्शन कहा गया है, वह पश्यन्ती की उपस्थिति में ही होता है। *मन्त्रों के अर्थों को भी देव अभिधान दिया गया है।*[3] इन मंत्रार्थ रूप देवों का दर्शन भी पश्यन्ती वाणी का क्षेत्र है। व्याकरण के आधार पर पद—पदार्थ कर लेना एक बात है, पर मंत्रार्थ अर्थात् मंत्र के देवता का दर्शन कर लेना एकदम दूसरी वस्तु है। महर्षि दयानन्द जब मंत्रार्थ करने में अटक जाते थे, तब समाधिस्थ होकर ही अर्थरूप देव को पकड़ पाते थे।

---

[1] ऋषयो मंत्रद्रष्टारः। साक्षात्कृतधर्माणः ऋषयः। निरुक्त

[2] बृहत्देवासो अमृतत्वमानशुः। ऋ० १०—६३—४

[3] ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधिविश्वे निषेदुः। अथर्व ९।१०।१८

निम्नांकित मन्त्रों में वाणी के चार प्रकारों का उल्लेख हुआ है :—

चत्वारि वाक् परिमिता पदानि, तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
त्रीणि पदानिहिता नेङ्गयन्ति, तुरीयं वाचो मनुष्यावदन्ति ॥
(ऋ १-१६४-४५ अथर्व ९-१०-२७)

तिस्रो वाचो निहितान्तरस्मिन् तासामेका विपपातानुघोषम् ॥
(अथर्व ७-४३-१)

वाणी के चार प्रकारों को मनीषी ब्राह्मण ही जानते हैं। इसके तीन पद निहित हैं, अन्दर छिपे पड़े हैं, इंगित या संकेतित नहीं होते। हम मानव जिस वाणी को बोलते हैं, वह उसका चतुर्थ रूप है।

तीन वाणियां हमारे अन्दर रहती हैं। उनमें से एक चतुर्थ वाणी हमारे घोष के साथ विशेष रूप से बाहर निकली रहती है।

ऋषियों ने अपने दर्शन के आधार पर इन चार प्रकार को वाणियों का नामकरण किया है। इनमें से वैखरी वाणी हम सब के लिये श्रवणीय होती है। श्रवणीयता भी कई प्रभाव रखती है। कुछ वैखरी वाणी निस्तेज एवं निष्प्रभ होती है। किसी वाणी को सुनकर श्रोता भाव-विभोर हो उठते हैं। एक ऐसी भी वाणी होती है जिसे सुनते ही आप कर्मक्षेत्र में कूद पड़ते हैं और एक ऐसी भी वाणी होती है जो आपको चिन्तन एवं मनन के लिये बाध्य कर देती है। वैखरी वाणी के ये प्रभाव हम सब के लिये अनुभव-गम्य हैं।' वैदिक मन्त्रों के उच्चारण में भी ये प्रभाव गर्भित है। 'प्रेहि, अभीहि, धृष्णुहि' 'उदीर्ष्व जीवो असुर्न आगात्' आदि पदों को सुनते ही आप कर्म करने के लिये कटिबद्ध हो जाते हैं। 'सुपर्णोऽसि गरुत्मान्' 'शुक्रोऽसि, भ्राजोऽसि', 'उद्यानं ते नावयानं' आदि वाक्य जब कान में पड़ते हैं तो हम आश्वस्त हो जाते हैं, अपने सामर्थ्य का अनुभव करने लगते हैं। 'क्वते उपेतिर्मनसो वराय', 'कदान्वन्तर्वरुणे भुवानि', 'न दक्षिणा विचिकिते' आदि मंत्र-पदों का उच्चारण करते ही हम व्याकुल तथा भावापन्न हो उठते हैं। 'ईजानश्चित्तमारुक्षदग्निं',

'शन्नो अज एक पाद्देवो अस्तु' मन्त्र पद हमें चिन्तन तथा मनन के क्षेत्र में ले जाते हैं। समागत मंत्रार्थ पर मनन तथा अपने अन्दर उसके संस्कार की विद्यमानता के कारण चिन्तन जागरित होता है। प्राक्तन जन्मों की कर्मसिद्धि के कारण मंत्रार्थ का प्रकाश भी हुआ करता है। यह स्वल्प समय के लिए ऋषि-दशा में पहुँच जाना है। इससे आप ऋषि नहीं कहला सकते क्योंकि प्रकाश स्थायी नहीं होता। यह अधिक से अधिक वैसा ही है जैसा किसी सभा के सभापति बनकर थोड़ी देर के लिये शासनभार संभाल लेना।

वैखरी वाणी का सामाजिक उपयोग है। साहित्य, दर्शन, विज्ञान आदि की अनुभूति और विवेचन इसी वाणी के कारण स्थायी बनते हैं और देश तथा काल के बंधनों का अतिक्रमण करके विभिन्न देशों में और कालों में रहने वाले प्राणियों का उपकार करते हैं। आज यदि हम याज्ञवल्क्य, व्यास, वाल्मीकि, होमर, प्लेटो, मिल्टन आदि के विचारों और भावों से परिचित होकर लाभ उठा रहे हैं तो इसी वाणी के कारण। वैखरी वाणी विविधरूपा है। उसके रूपों का ज्ञान यदि नहीं हुआ, तो 'भैंस के आगे बीन बाजे, भैंस खड़ी पगुराय' वाली कहावत सिद्ध होने लगेगी।

चारों वेद इसी वैखरी वाणी में उपलब्ध हैं। उनमें छन्द हैं, गद्य भाग है तथा गीत हैं। छन्दों में आबद्ध वैखरी वाणी नियत पद, मात्रा वाली है। गद्य भाग प्रकीर्ण अर्थात् फैला हुआ है और गीत में छन्द ही संतानित होकर लय तथा स्वर का विस्तार करता है। इन सब के उच्चारण में हमें कण्ठ, तालु, मूर्धा, जिह्वा, ओष्ठ आदि का प्रयोग करना पड़ता है जिससे हमारा उच्चार हमीं तक सीमित न रह कर दूसरों तक भी पहुँचता है। उच्चार की एक उपांशु अवस्था भी है जिसे फुसफुसाहट कह सकते हैं। उसमें उच्चरित शब्दों को हमीं सुनते हैं, दूसरे नहीं। पर उच्चारण किसी प्रकार का हो, उसकी लहरें अन्तरिक्ष में फैलती ही हैं, अन्तर केवल समीपता या दूरी का होता है।

वैखरी वाणी जो बाह्य अन्तरिक्ष में फैलती है, अपने आसन्न पूर्व उत्स में

आन्तरिक अन्तरिक्ष में निवास करती है जिसे अन्तःकरण कहते हैं। मन इसी अन्तःकरण का एक प्रमुख भाग है। जब हम चुप रहते हैं, तब भी इसी मन में शब्द-वाक्य रूप भाषा अपने सभी रूपों के साथ विद्यमान रहती है। जैसा वर्ण, शब्द आदि का विभाग बाहर था, वैसा ही मन में भी बना रहता है। अन्तर केवल इतना ही होता है कि वैखरी वाणी जिन तालु, जिह्वा आदि का प्रयोग करती थी, वह इस आभ्यन्तर वाणी में नहीं होता। मन में निहित इस वाणी को मध्यमा नाम दिया गया है। यह मूल अथवा सूक्ष्मतम और उच्चरित अथवा स्थूल दोनों वाणियों के बीच में है। एक ओर इसमें वैखरी वाणी का वर्ण—विभाग विद्यमान है, तो दूसरी ओर सूक्ष्मतम वाणी का अनुच्चरित सूक्ष्म रूप भी।

वैखरी वाणी मन से पूत होकर जब उच्चरित होती है, तो कल्याण-कारिणी होती है, पर जब दूषित होकर निकलती है तो संपर्क में आनेवालों को ही नहीं, अपने को भी दूषित कर देती है। मन में निहित वाणी के पूत अथवा अपूत होने का साक्षात् प्रभाव लक्षित नहीं होता। अप्रत्यक्ष रूप से तो उसका प्रभाव अन्तरिक्ष में पड़ ही रहा है।

मन में निहित मध्यमा वाणी कम से कम ऐसी केतु अवश्य है जो उसके सूक्ष्मतम रूप का आभास दे सकती है। हम अनुमान लगाने लगते हैं कि जब मेरी वैखरी वाणी अन्यों द्वारा अज्ञात रूप में मन में उपस्थित है, तो इस मन की वाणी का स्रोत भी कहीं अन्दर अवश्य होना चाहिये। वाणी में निहित अर्थ उसकी प्रकाशिका शक्ति को प्रकट करता है। यह प्रकाश उसके साथ वैसे ही लगा है जैसे अग्नि के साथ दाह। इसी हेतु वाणी का मूल उत्स प्रकाशमय है। अपने परा रूप में वाणी आत्मा की शक्ति है जो सर्वश्रेष्ठ ज्योति कहलाती है। मन में निहित मध्यमा वाणी इस स्रोतस्वरूपा ज्योति का केतन करने लगती है।

गायत्री वेदमाता है, ज्ञान की जननी है। ज्ञान स्वयं प्रकाश-स्वरूप है।

प्रकाशों के भी प्रकाश परम प्रभु को इसी हेतु जातवेद कहते हैं। वेद उसी से प्रकट होते हैं। ज्ञान, कर्तृत्व तथा भाव का प्रकाश उसी के द्वारा होता है। इस मूल उत्स का आभास भी मन की मध्यमा वाणी देने लगती है। पार्थिव अग्नि वैखरी वाणीको सतेज करती है, तो मानसिक अग्नि मध्यमावाणी को प्रखर बनाती है। बाहर जो प्राण-शक्ति का अमृतकुण्ड भरा हुआ है, उसमें डूब कर पतनशील इन्द्रियाँ अमृत का कुछ न कुछ भाग मन तक पहुँचा रही हैं। मन की समेकन शक्ति अमृत के इन छींटों को विभक्त नहीं रहने देती, एकत्व में परिणत कर लेती है। वे केन्द्रस्थ होकर एक इकाई का ज्ञान बन जाते हैं। ज्ञान की ये रश्मियाँ मानव मन में लगातार आती रहती हैं। मानसिक अग्नि को समिद्ध करने के लिये ये इध्म (ईंधन) का काम करती हैं। मध्यमा वाणी इस प्रज्वलन से समृद्ध ही नहीं, तेजस्विनी भी बनती है।

इन्द्रियों का सम्पर्क जिन गोचर दृश्यों से होता है, मन केवल उनके बिम्बों को ग्रहण करता है। ये बिम्ब कालान्तर में सूक्ष्म चित्रों के रूप में रह जाते हैं। विस्मरण तथा स्मरण की प्रक्रिया में कुछ विस्मृत भी हो जाते हैं, पर अनुकूल परिस्थिति पाकर विस्मृत भी उद्‌बुद्ध हो उठते हैं। दृश्यों तथा सूक्ष्म चित्रों के ऊपर भी क्या कोई अवस्था है? क्या ऐसी भी कोई ऊर्ध्व स्थिति है जिसमें न इन्द्रियों के गोचर हों और न मन के बिम्ब या चित्र? काण्ट ने ऐसी स्थिति को अनुभव किया था, जहाँ दर्शन तो है, पर रूप नहीं, रूप के विभाग नहीं; ज्ञान तो है, पर ज्ञान का विषय नहीं जो नानात्मक है। हमारे यहाँ इसे निदिध्यासन कहा गया है जो श्रवण तथा मनन दोनों से भिन्न है। मनन तक बहुरूपता तथा विभाग रहते हैं। निदिध्यासन में काण्ट के दर्शन की भांति विभाग नहीं रहता। यही वाणी की तीसरी स्थिति है जिसे पश्यन्ती कहते हैं। प्रज्ञा के साथ इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह पश्यन् ही पश्यन् है, दर्शन ही दर्शन है, शब्द-वर्ण-अर्थ आदि का विभाजन नहीं। यहाँ शब्दार्थ का ऐक्य है। मन्त्र और देवता पृथक्-पृथक् न रहकर एकता के सूत्र में निबद्ध हैं।

पश्यन्ती वाणी का सम्बन्ध विज्ञानमयकोष तथा आदित्य के साथ है। अथर्ववेद की निम्नांकित ऋचा में वेद का सम्बन्ध भी आदित्य के साथ संयुक्त किया गया है :—

ये अर्वाङ् मध्य उत वा पुराणं
वेदं विद्वांसमभितो वदन्ति।
आदित्यमेव ते परिवदन्ति सर्वे
अग्निं द्वितीयं त्रिवृतं च हंसम् ॥ (१०-८-१७)

जो नीचे (पृथ्वी पर) अथवा मध्य (अन्तरिक्ष में) अथवा इधर की वैखरी वाणी और बीच की मध्यमा वाणी द्वारा पुराण वेद विज्ञाता का प्रत्यक्ष सा वर्णन करते हैं, वे सब आदित्य का ही वर्णन करते हैं। यह आदित्य हंस है, त्रिवृत्त है, वेदत्रयी से आवृत है और द्वितीय अग्नि है। प्रथम अग्नि अवतरण के समय महत्तत्व है, ज्येष्ठ ब्रह्म है। उससे उत्पन्न होने के कारण आदित्य द्वितीय अग्नि है। आगे मन्त्र संख्या १८ में कहा गया है कि सब देवता इसी आदित्य रूप हंस के उर में विराजमान हैं। इसके पूर्व १६वें मन्त्र में आदित्य के पिता, उदय कर्त्ता ज्येष्ठ ब्रह्म अथवा महद् ब्रह्म का वर्णन है। संपूर्ण सूक्त का नाम ही ज्येष्ठ ब्रह्म सूक्त है। मंत्र संख्या २० में महद् ब्रह्म शब्द भी आया है। मन्त्र संख्या ३३ के अनुसार समस्त बोली जाने वाली वाणियाँ इसी महद् ब्रह्म को प्राप्त होती हैं। ज्येष्ठ ब्रह्म या महत्तत्व से जब आदित्य पृथक् होता है तब उसकी संज्ञा व्रात्य प्रजापति होती है। व्रात्य वह है जो [illegible]त का भंग करे। आदित्य प्रजापति तो है, परन्तु यह अपने प्रजापति, ज्येष्ठ ब्रह्म से पृथक् होने तथा अपना नया घर, परिवार, ब्रह्माण्ड बनाने के कारण व्रात्य कहलाता है। इसी व्रात्य का अनुसरण चार वेद भी करते हैं, यथा— तमृचश्च सामानि च यजूंषि च ब्रह्म चानुव्यचलन्। अथर्व १५-६-८। ऋचां च वै स साम्नां च यजुषां च ब्रह्मणश्च प्रियं धाम भवति य एवं वेद। १५-६-९।

व्रात्य प्रजापति आदित्य के पीछे ही ऋक्, यजु, साम तथा ब्रह्म (अथर्व)[1] चल पड़े। पश्यन्ती वाणी का ही यह क्षेत्र है जिसमें ऋषि वेदों का दर्शन करते हैं। सृष्टि या ब्रह्माण्ड-रचना के साथ ही यज्ञ तथा काल का आविर्भाव भी माना जाता है। आदित्य ही काल है। आदित्य ही यज्ञ है। आदित्य ही विष्णु है। इसलिये वेदों में यज्ञ तथा काल से भी वेदोत्पत्ति का वर्णन मिलता है। यथा—तस्माद्यज्ञात् सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे। (ऋक, यजु तथा अथर्व का पुरुष सूक्त) कालादृचः समभवन् यजुः कालादजायत। अथर्व १९-५४-३। आदित्य ही सुवर्ण गरुत्मान है। यजुर्वेद १२-४ में स्तोम अर्थात् ऋग्वेद को इसका आत्मा, छन्दों अर्थात् अथर्व को अङ्ग, यजु को नाम तथा साम को तनू माना गया है।

यह वेदों के आविर्भाव का क्रम है। वैसे काल, यज्ञ, विष्णु, स्कम्भ, प्रजापति आदि नाम परमात्मा के भी हैं। वही सबका आदि स्रोत है। पर जब रचना-क्रम पर विचार करते हैं, तब ये नाम रचना-काल की विभिन्न स्थितियों का द्योतन भी करने लगते हैं। प्रजापति परमात्मा है, किन्तु हिरण्यगर्भ, ज्येष्ठ ब्रह्म या महत्तत्व भी प्रजापति है क्योंकि उसी से छिटक कर अनेक सूर्यों का आविर्भाव हुआ और उनमें से एक एक सूर्य या आदित्य भी प्रजापति है क्योंकि वह एक समस्त ब्रह्माण्ड के ग्रह रूपी प्रजा का जनक एवं पालक है।

रचना में आधिदैविक जगत् के अंग ही अध्यात्म में एकत्र हुए हैं। वहां का सूर्य ही अध्यात्म में बुद्धि है। विज्ञानमय कोष का इसी के साथ सम्बन्ध है। और पश्यन्ती वाणी भी इसी क्षेत्र की है। गायत्री मंत्र की सर्वश्रेष्ठता

---

[1] अथर्व के निम्नाङ्कित मंत्र मे अथर्ववेद के लिये ब्रह्म का पर्यायवाची मही शब्द आया है। ब्रह्म और मही दोनों का अर्थ है महान, बड़ा :—
यत्र ऋषयः प्रथमजा ऋचः साम यजुर्मही।
एकर्षिः यस्मिन्नार्पितः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेवसः। १०-७-१४

सविता या आदित्य के कारण है जो बुद्धि का प्रेरक है। अंशी अपने अंश को प्रेरित तथा गतिशील रखता ही है।

यदि हम इस पश्यन्ती वाणी तक पहुंच सकें, तो देवदर्शन, मंत्रार्थ का साक्षात् हमको भी हो सकता है। सृष्टि के प्रारम्भ में ऋषियों को यह पश्यन्ती वाणी प्राप्त थी। वे इसी में निवास करते थे। इसी हेतु उन्हें साक्षात् ज्ञान प्राप्त होता था। ऋषियों में भी जो परम ऋषि हैं, जिनका जन्म केवल वेदों के आविर्भाव के ही लिये होता है, उन्हीं पर वेद प्रकट होते हैं। शतपथ तथा मनुस्मृति के अनुसार इन ऋषियों के नाम अग्नि, वायु, आदित्य और अंगिरा हैं।

पश्यन्ती वाणी और महत्तत्त्व की अवस्था समानान्तर है। वेदों का सूक्ष्मतम रूप, शब्द-विभाग से शून्य, ज्ञानमय—इसी अवस्था में आविर्भूत होता है। जैसे ओ३म् अव्यय है और एक है, वैसे ही वेद एक है, पर जैसे ओ३म् एक होता हुआ भी त्रिमात्रिक है, वैसे ही वेद भी त्रिकाण्डात्मक है। ओ३म् और वेद अखण्ड रूप से परस्पर सम्बद्ध हैं।[1] अकार ज्ञान है, ऋग्वेद है। उकार कर्म है, यजुर्वेद है। मकार उपासना है, सामवेद है। इसीलिए वेद को वेदत्रयी भी कहा जाता है। त्रिकाण्डात्मक होते हुए भी वेद चार हैं। अथर्ववेद में तीनों काण्ड तो सम्मिलित हैं ही, साथ ही ब्रह्मविद्या की गूढ़ रहस्यमयी बातें भी भरी पड़ी हैं।

चारों वेदों का उल्लेख स्वयं वेदों के मन्त्रों में पाया जाता है। यजुर्वेद के पुरुषसूक्त में ऋक्, यजु, साम के साथ अथर्व को छन्दांसि का नाम दिया गया है। यजु ३४-५ में ऋक्, यजु तथा साम नाम आते हैं। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में भी यही नाम पाये जाते हैं। सामवेद में पुरुष सूक्त सम्बन्धी केवल पांच मंत्र (संख्या ६१७—६२१) हैं जिनमें नामोंवाला मंत्र नहीं है। अन्यत्र मंत्र संख्या ३६९, १८२६ और १८२७ में ऋग्वेद और सामवेद के ही नाम आये

[1] एक एव पुरा वेदः प्रणवः सर्ववाङ्मयः। भागवत ९-१४-४९

हैं। साम ४७१ (८६९) तथा ५२५ (८५९) में तिस्रः वाचः पद वेद-त्रयी के लिए प्रयुक्त हुआ है।

सामवेद ३६,१५४४ (ऋ० ८-६०-९ तथा यजु २७।४३) में पाहि नो अग्ने एकया आदि शब्दों में चार प्रकार की गीः अर्थात्‌वाणी कही गयी है।

अथर्व के पुरुष सूक्त (१९-६) में भी वही ऋक्, यजु पुरुषसूक्त का मन्त्र तथा वही नाम हैं, केवल छन्दांसि (बहुवचन) के स्थान पर उसमें छन्दः (एक वचन) का प्रयोग हुआ है। अथर्व १०-७-२० में छन्दः के स्थान पर स्पष्टतः अथर्वांगिरस शब्द आया है।

पुरुष सूक्त के अनुसार सृष्टि एक यज्ञ है। ईश्वर भी यज्ञस्वरूप है। देवों ने यज्ञ के द्वारा ही यज्ञ करके यज्ञरूप प्रभु को प्राप्त किया। यज्ञ के विधान में होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा नाम के चार ऋत्विक् होते हैं। इनमें होता ऋग्वेदी, अध्वर्यु यजुर्वेदी, उद्गाता सामवेदी और ब्रह्मा अथर्ववेदी होता है। अथर्ववेद में सभी काण्डों का सम्मिश्रण है, अतः अथर्ववेदी ब्रह्मा चारों वेदों का ज्ञाता होता है। निम्नांकित मन्त्रों में यज्ञ के इस विधान को स्पष्ट किया गया है :—

ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान् गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु
ब्रह्मात्वो वदति जातविद्यां यज्ञस्य मात्रां विमिमीत उत्वः।

(ऋ० १०-७१-११)

गायन्ति त्वा गायत्रिणोऽर्चन्त्यर्कमर्किणः
ब्रह्माणस्त्वा शतक्रत उद्वंशमिव येमिरे ॥

(ऋ० १-१०-१ साम ३४२, १३४४)

प्रथम मंत्र में ऋचा से ऋग्वेद और होता, गायत्र से सामवेद और उद्गाता, ब्रह्मा से अथर्ववेद और ब्रह्मा तथा यज्ञ से यजुर्वेद और अध्वर्यु का अभिप्राय है। यज्ञ की वेदी आदि का निर्माण तथा उसका कार्य और आगे समिधा, हवि, आज्य से सम्बन्धित कार्य अध्वर्यु का ही है।

दूसरे मन्त्र में गायत्रिणः से उद्गाता और सामवेद, अर्किणः से होता

तथा ऋग्वेद और ब्रह्मणः से ब्रह्मा तथा अथर्ववेद का बोध होता है। यहाँ यजुर्वेद का नाम नहीं लिया गया है। उपासना का विषय होने के कारण कर्म काण्ड को छोड़ दिया गया है, ऐसा जान पड़ता है। जैसे ब्राह्मण किसी वंश की प्रशंसा करता हुआ उसे ऊँचा उठा देता है, वैसे ही उद्गाता, होता तथा ब्रह्मा प्रभु के यश को ऊँचा उठा देते हैं।

ऋग्वेद के मन्त्र यजुर्वेद में कम हैं, क्योंकि वह अधिकतर गद्यात्मक है। सामवेद तथा अथर्ववेद में ऋग्वेद के सूक्त के सूक्त ज्यों के त्यों उद्धृत हैं। अतः ऋक्, साम तथा अथर्व तीनों को कभी कभी ऋक् या ज्ञान तथा यजुर्वेद को कर्म भी कह देते हैं। साम में तो ऋक् या ज्ञान ही तनकर, फैलकर, संतानित होकर संगीत का रूप धारण कर लेता है।

जब हम एक वेद तथा वेदत्रयी की बात कहते हैं, तब उससे परयन्ती वाणी, महत्तत्व का चतुर्दिक प्रसृत प्रकाश, ज्योतियों में भी श्रेष्ठ ज्योति, सत्व की सर्वोत्तम उदात्त अवस्था, विराट या सूर्य का उद्भव, ओतप्रोत प्राणवत्ता, लम्बी अनमोल दीर्घायु आदि तथ्य अपने आप उपस्थित हो जाते हैं। रचना में विराट से पूर्व प्रजापति हैं। विराट के पश्चात् रचना में विभाग होने लगता है। प्रजापति के साथ वाणी एक है। शतपथ ५-१-३-११ में प्रजापतेः परमस्ति वाक् ऐसा कहा गया है। यह वाक् वेदमयी है ऐसा उल्लेख भी 'अनादि' निधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा। आदौ वेदमयी नित्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः इस श्लोक में (महा० शान्ति पर्व २३१-२४) मिलता है। मुण्डक २-१-४ में भी 'वाग्विवृताश्च वेदाः' इन शब्दों द्वारा वेदों को प्रभु की वाणी ही माना गया है। वेदमयी वाणी विभक्त रूप में कैसे सम्मुख आती है, इसका उल्लेख शतपथ ब्राह्मण काण्ड १४ में मिलता है :—

यथा प्रदीप्तात् पावकात् विस्फुलिंगाः व्युच्चरन्ति, एवं वा अरे अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितम् एतद् यद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वांगिरस इति।

बृहदारण्यक उपनिषद् २-४-१०-तथा ४-५-११ में भी ये शब्द कुछ अन्तर के साथ आये हैं। याज्ञवल्क्य कहते हैं कि जैसे प्रदीप्त अग्नि से चिनगारियां निकलती हैं, वैसे ही परमेश्वर के निःश्वास रूप में ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद प्रादुर्भूत होते हैं। वेदत्रयी, लोकत्रयी, देवत्रयी, वाक्‌प्राणमन की त्रयी आदि विभाग, फिर इनके उपविभाग होते चले जाते हैं। एक में तीन तीन, फिर तीन में तीन तीन आदि प्रकट होते चलते हैं। विविधत्व, बहुत्व, नानात्व प्रपञ्च का स्वरूप ही है। प्रपञ्च की यह विविधता परस्पर, पृथक् नहीं, अनुस्यूत है। वेद की चतुर्विधता भी इसी प्रकार परस्पर एक सूत्रात्मक है। ऋक् की पिण्डता या मूर्तिमत्ता, यजु की गति या क्रिया और साम का तेज सब के सब संबद्ध होकर एक ब्रह्म की प्रतिष्ठा करते हैं। जिसने इस ब्रह्म को, इस एकत्व को जान लिया, वही ज्ञानी है।

छान्दोग्य उपनिषद् कहती है : 'ऋचिअध्यूढं साम' ऋग्वेद के ऊपर साम आश्रित है। दूसरे शब्दों में भक्ति या उपासना ज्ञान पर आश्रित है। भक्ति भावना में श्रद्धा अनिवार्यतः अपेक्षित है। श्रद्धा श्रत् या सत्य को धारण करने वाली है। ज्ञान और सत्य पर्याय वाची हैं। इस रूप में श्रद्धा या भक्ति ज्ञान पर ठहरी है—ऐसा कहा जा सकता है। जीवन के उत्कर्ष-क्रम में कर्म, फिर ज्ञान और तदनन्तर भक्ति आती है। अतः शतपथ (काण्ड १० अ० ३ ब्रा० ५ कण्डिका २) ऋक् अर्थात् ज्ञान और साम अर्थात् भक्ति दोनों को यजु अर्थात् कर्म का वाहन कहता है। यजुः ऋक्सामयोः प्रतिष्ठितम्—ये शब्द यजु अर्थात् कर्म की महत्ता घोषित करते हैं। वस्तुतः ज्ञान और भक्ति सदाचार में ही प्रतिष्ठित हैं। सबकी दृष्टि आचरण पर ही जाती है। कोरा ज्ञानी बकवादी हो सकता है। भक्ति दम्भ, पाखण्ड या दिखावे के लिये भी की जा सकती है। अतः आचरण महत्त्वपूर्ण है, इसे सभी स्वीकार करते हैं। पर केवल आचरण या कर्म भी अधूरा है। जो कर्म भक्ति भाव सहित ज्ञान के दर्शन में किया जाता है, वही श्रेयस्कर है। लौकिक उत्थान के ही लिये नहीं, साधना की सफलता के लिये भी ज्ञान, कर्म एवं भक्ति का समन्वय आवश्यक है।

ऋक् और साम छन्दोवद्ध हैं। यजुः गद्यमय है। उसमें जो पद्यभाग है, वह ऋक् से लिया गया है। साम का अधिकांश भी ऋग्वेद पर ही आश्रित है, पर दोनों में गेयता का अन्तर है। ऋक् की ऋचा जब गाई जाती है, गान में आबद्ध की जाती है, तब वह बंधती नहीं, फैलती है। उसका वितान या विस्तार होता है। गद्य, पद्य तथा गान तीनों ही गति रूप हैं। अतः वेदत्रयी अग्निरूपा है—ऐसा भी कहा जाता है। अग्नि केन्द्र से ऊपर उठता है, बाहर जाता है। अग्नि रूप कर्म ज्ञानाग्नि द्वारा उत्क्रान्त होता है, परन्तु श्रद्धाग्नि द्वारा पुनः कर्म में परिणत होता है। यह यज्ञ का रूप है। गोपथ ब्राह्मण पूर्व भाग, प्रपाठक १, ब्राह्मण १–२ में इस यज्ञ रूप कर्म चक्र से स्वेद या आपः की उत्पत्ति वर्णित हुई है। आपः की निरुक्ति देते हुए ऋषि इसी स्थल पर कहते हैं :—'आप्नोति ह वै सर्वान् कामान्, यान् कामयते इति।' यह जो आपः (स्वेद) उत्पन्न हुआ, वह समस्त कामनाओं को पूर्ण करने वाला है। सोम आपोमय है। स्वेद को सुवेद तथा अथर्व वेद कहकर इसीलिये अथर्व को सोम प्रधान माना गया है। अग्नि केन्द्र से बाहर जाता है तो सोम बाहर से केन्द्र की ओर आता है। अथर्व वेद सोम वेद है, सुवेद है, ब्रह्मवेद है। वह केन्द्रस्थ करने वाला है। केन्द्रस्थ होना अविचल होना है। अथर्व का अर्थ ही है—थर्व रहित अवस्था, अविचलता, क्षोभ-राहित्य, प्रशान्तभूमावस्था। ऋक्-यजु-साम रूपी अग्नि से अथर्वरूपी सोम मिलकर ही जीवन-यज्ञ को पूर्णता तक पहुँचाता है।

ऋक्-यजु-साम की त्रयी अग्नि रूपा होने के कारण यदि ब्राह्मण है, तो अथर्व सोम-प्रधान होने के कारण उसका राजा है। 'सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा'—यह उक्ति वैदिकों में विख्यात है। अथर्व वेदी इसीलिए यज्ञ में ब्रह्मा बनाया जाता है जिसका कार्य है सभी याजकों के कार्य का अधीक्षण।

ऋत और सत्य—

ऋत और सत्य दो मूल स्थितियों पर विचार करें तो सत्य में वेदत्रयी तथा ऋत में अथर्व का परिगणन होगा। और ये दोनों ही सृष्टि रूपी यज्ञ के

माता-पिता अर्थात् जनक हैं। ऋत और सत्य के मूल में अभीद्ध तप है, वेद वाणी के मूल में भी वही है। सृष्टि का उद्‌भव उसी से होता है।

वेद के तिरोभाव के सम्बन्ध में जो कथन पाये जाते हैं, उन पर भी विचार कर लेना चाहिये। निरुक्त में महर्षि यास्क कहते हैं :—

साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः। ते अवरेभ्यो साक्षात्कृतधर्मभ्यः उपदेशेन मंत्रान् संप्रादुः। उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणाय इमं ग्रन्थं समाम्नासिषुः वेदं च वेदांगानि च ॥

ऋषि साक्षात्कृतधर्मा थे। उन्हें क्या करना चाहिये, यह स्पष्ट था। वे कर्तव्य का साक्षात् दर्शन करने वाले थे, सच्चे अर्थों में आर्य ऋषि थे। उनसे जो अवर, बाद में पैदा हुए या निकृष्ट कोटि के व्यक्ति थे, जिनको धर्म या कर्तव्य का स्पष्ट ज्ञान नहीं था, उनको ऋषियों ने उपदेश के द्वारा मंत्र दिये। फिर उनसे भी अवर कोटि के व्यक्तियों के लिये, जो उपदेश द्वारा भी मन्त्र को, मंत्रों में निहित धर्म या कर्तव्य को नहीं समझते थे, अथवा उपदेश में जिनकी श्रद्धा नहीं थी, जो उपदेश से ग्लानि करते थे, बिल्मग्रहणहेतु, भेद या तत्त्व को हृदयंगम कराने के हेतु, ऋषियों ने इस ग्रन्थ का वेद और वेदांगों का निर्माण किया।

इस कथन में अर्थ की दो दिशायें समाविष्ट हैं : एक तो अर्थ साक्षात् का धीरे धीरे लोप हो जाना अथवा बुद्धि-गतह्रास और द्वितीय वेद सम्बन्धी अर्थ-निर्देशक, तत्त्व-निरूपक वेद-वेदांगों का निर्माण। बुद्धिगत ह्रास ऋषियों के समय में ही विद्यमान अन्य व्यक्तियों का हो सकता है और बाद में आने वालों का भी। ऋषियों के साथ कुछ ऐसे भी व्यक्ति पैदा हो ही सकते हैं जो वेद को साक्षात् देखने की शक्ति न रखते हों, अतएव जिन्हें उपदेश देकर ऋषि समझाने का प्रयत्न करें और जो उपदेश से भी न समझें, उन्हें मन्त्रों का बार-बार अभ्यास करावें। जो व्यक्ति मैथुनी सृष्टि में उत्पन्न होंगे, उनका तो बुद्धिगत ह्रास संभव ही है। निरुक्त, ब्राह्मण, आरण्यक, व्याकरण, ज्योतिष आदि के ग्रन्थ पढ़कर ही वे वेदार्थ को समझने के अधिकारी बनते हैं। अर्थ के असाक्षात्

अथवा लोप के साथ वेद–वाङ्मय का भी तिरोभाव होता रहता है। प्रलय के समय तो वेद यथा जगत ही तिरोहित हो जाता है, अपने मूल में मिल जाता है, पर बीच-बीच में दो मन्वन्तरों के बीच में भी खण्ड प्रलय की सी दशा उपस्थित हो जाती है, कभी कभी युग-परिवर्तन पर भी ऐसी ही दशा का वर्णन इतिहास में मिलता है, उस समय भी वेद तिरोहित हो सकते हैं, ज्ञान–विज्ञान विस्मृत हो सकता है और हुआ भी है। नीचे लिखे श्लोक पर विचार कीजिये :—

युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः।
लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाताः स्वयम्भुवा॥

युग के अन्त में जब वेद अन्तर्हित हो गये तो स्वयम्भू ब्रह्मा की आज्ञा पाकर ऋषियों ने अपने तप से उन्हें इतिहास-सहित प्राप्त किया। इस श्लोक में इतिहास शब्द ध्यान देने योग्य है। इतिहास प्रलय के पश्चात् बनता है। अतः युगान्त का अर्थ यहाँ प्रलय नहीं, प्रत्युत एक मन्वन्तर या युग या चतुर्युगी का अन्त है। वर्तमान सृष्टि में छः मन्वन्तर बीत चुके हैं। सातवाँ वैवस्वत मन्वन्तर चल रहा है। इतिहास में हम पढ़ चुके हैं कि इसके २८ वें द्वापर के अन्त में जो महाभारत हुआ उसमें विद्वान तथा शूरवीर नष्ट हो गये और व्यास जी ने जैसे-तैसे पुराण, वेद-संहिता आदि की रक्षा अपने शिष्यों–प्रशिष्यों द्वारा की। इसी प्रकार प्रत्येक मन्वन्तर के पश्चात् उसके ज्ञान विज्ञान तथा इतिहास की रक्षा ऋषि करते रहे हैं। प्रत्येक मन्वन्तर का अपना मनु है, ब्रह्मा है तथा ऋषि हैं। जैसे गत द्वापर के अन्त में व्यास जी ब्रह्मा थे और उनकी आज्ञा से वैशम्पायन, सुमन्तु, पैल, याज्ञवल्क्य, रोमहर्षण आदि ने संहिताओं तथा इतिहास को सुरक्षित किया, वैसे ही एक एक मन्वन्तर के पश्चात् भी होता रहा है। ब्राह्मण ग्रन्थों तथा पुराणों में इसकी चर्चा उपलब्ध होती है। अतः वेदों के तिरोभाव के साथ जब इतिहास का भी उल्लेख आये, तो वहां प्रलय नहीं, अपितु खण्डप्रलय या दो मन्वन्तरों की संधि या दो युगों

वेद ही क्यों, समस्त ज्ञान-विज्ञान आस्था की अपेक्षा रखता है। यदि आपको किसी विषय में आस्था नहीं है, तो आप उस विषय के पारंगत विद्वान बन ही नहीं सकते। हमारा देश जो आस्था, श्रद्धा तथा निष्ठा के लिए प्रख्यात रहा है, आज इन दैवी भावों से विहीन हो रहा है। जहां दैवी भावना की शून्यता थी, वहां उपलब्धियों के विश्वास ने आस्था उत्पन्न कर दी है। आस्थावान देश ज्ञान-विज्ञान में बढ़ रहे हैं और हमारे हाथों में हमारे ही पूर्वजों का ज्ञान-विज्ञान निस्तेज होता जा रहा है। क्या अपने पूर्वजों के नाम पर हम पुनः आस्थावान बनेंगे।



वेद और परतत्व

ऋचाओं में अपर तत्व, जगत और जीव के साथ, परतत्व का वर्णन भी उपलब्ध होता है। यह तत्व एक है, दो-तीन-चार नहीं, ऐसा निरावरण शब्दों द्वारा अभिव्यक्त किया गया है। स एक एव, एक वृदेक एव, भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्, एको विभूरतिथिर्जनानाम्, एक ईशान ओजसा, एको नो देवोऽप्यतिष्ठत् एकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति, एकं नु त्वा सत्पतिं, एकराडस्य भुवनस्य राजसि, य एक इत्तमुष्टुहि, य एक इत् हव्यः, य एक इत् विदयते, य एको अस्ति दंसना, एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति, द्यावाभूमी जनयन् देव एकः आदि पदों द्वारा उसे एक ही कहा गया है। इस एक के, जगत और जीव की दृष्टि से, अनेक नाम हैं और विविध भाषाओं में हैं। वही ओ३म् है, इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि और यम है, वही प्रभु है, विष्णु है, महेश है, ब्रह्म है, खुदा है, अल्लाह है, लौर्ड है, गौड है। वेद उस एक को जगत का जनक तथा जीव का सयुजा और सखा कहता है। वह सत् है, वह चित्त है, वह आनन्द है।

पर तत्व अकायम्, अशरीरी तथा निराकार है और इसी हेतु अव्रण, स्नायुरहित एवं अपापविद्ध है। वह शुक्र है, शुद्ध है, कवि है, मनीषी है, स्वयम्भू है। वह सर्व व्यापक है, सर्वान्तर्यामी है और सब के बाहर भी है अर्थात् परिभू है—सबको अतिक्रान्त करके भी विद्यमान है।[1] वह अन्यों के लिये प्रेरक तथा निमित्तकारण है, उसका न कोई प्रेरक है, न जनक है। वह स्ववान् है, सर्व श्रेष्ठ है। उसकी सत्ता अन्य किसी सत्ता पर अवलम्बित नहीं है। वह वसुओं का वसु, यज्ञों का यज्ञ और देवों का देव है। वह यज्ञियों में भी यज्ञिय, बलवानों में भी बलवान, आश्रयों का भी आश्रय, ज्ञान का स्रोत, शक्ति का भण्डार तथा भाव का आधार है।

---

[1] स पर्यगाच्छुक्रमकायम् । तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ।
यजु० ४०—८,५ ।

वह शक्र है, सर्व समर्थ है, पवित्रों का पोषक, अपवित्र किन्तु अपने को अच्युत समझने वालों का च्यवन—गिराने वाला और भक्तों की अभिलाषाओं को पूर्ण करने वाला है। वह पवि है, पुरुहूत है, दानवान् है, ऋतिवान् है और अपूर्व प्रशस्तिवाला है। वह वरणीय, आश्रयणीय, दर्शनीय, कमनीय, दीप्तिमान, ज्योतिष्मान और परम धाम है। वह अकवियों में कवि, अप्रचेतों में प्रचेत, अमर्त्यों में अमर्त्य, हीनों में अहीन और अपूर्णों में पूर्ण है।

वह है, पर प्रत्यक्षवादी कहते हैं, कहाँ है? नास्तिक कहते हैं, वह नहीं है। प्रत्यक्षवादियों के लिये वेद कहता है कि वह सबकी आँखों के सामने है, आँख उसी की शक्ति से देख रही है। नास्तिकों से वेद कहता है कि जिसका आप निषेध करते हैं, वह तो आपके निषेध में ही विद्यमान है :—

यं स्मा पृच्छन्ति कुह सेति घोरम्
उतेमाहुर्नैषोऽस्तीत्येनम् ।
सोऽर्यः पुष्टीर्विज इवा मिनाति
श्रदस्मै धत्त स जनास इन्द्रः ॥
(ऋ० २-१२-५ अथर्व २०-३४-५।)

तुम पूछते हो कि वह कहाँ है? तुम कहते हो कि वह नहीं है। देखो, वह सर्वत्र है। शरीर के रूप में देखना चाहो तो यह निखिल ब्रह्माण्ड ही उसका शरीर है। यह द्यौ उसका शिर है, अन्तरिक्ष उदर है और पृथ्वी पैर हैं। सूर्य-चन्द्र उसके नेत्र हैं, अग्नि मुख है और वात प्राणापान है। दिशायें उसके श्रोत्र हैं, विद्युत अङ्गिरस है और स्वः, केवल स्वः, अमिश्र स्वः उसका स्वरूप है।[1] यदि यह ब्रह्माण्ड उसका प्रत्यक्ष आपको नहीं कराता, तो अपने को ही देखो। यह आत्मा ही उस परम आत्मा को दिखा देगा; देख लेगा। आत्मा को एक योनि से दूसरी योनि में कौन ले जाता है? पल भर में राजाओं को रंक और रंकों को राजा कौन बना देता है? एक दिन

[1] अथर्व १०-७-३२,३३,३४।

वैभवशाली प्रासाद गगनचुम्बन करते थे, आज उनके खण्डहर पड़े हैं और जो वीरान प्रदेश थे आज हरे-भरे दिखाई देते हैं—यह परिवर्तन कौन कर रहा है ? संशयालु ! अपने संशय को दूर करो, उस परम तत्व में श्रद्धा रखो । नास्तिक ! यह देव तो तुम्हारे शब्द-शब्द में बोल रहा है । फिर तुम किसका प्रत्याख्यान कर रहे हो ? ज्ञान की एक-एक रश्मि, शुभ का एक-एक प्रत्यय, भावना का एक-एक विस्फुलिंग उस परमतत्व की ओर संकेत कर रहा है । वह छिपा है, पर प्रकट भी है ।

सदा व इन्द्रश्चर्कृषद् आ उपोनु स सपर्यन् ।
न देवो वृतः शूर इन्द्रः ॥ (सामवेद १९१)

और वह छिपा भी नहीं, ढका भी नहीं, आवृत भी नहीं, सबको प्रकट है, प्रत्यक्ष है । देखो न, वह सबको सदैव अपनी ओर खींच रहा है ।

क्या कोई दुख की कामना करता है ? सब आनन्द के अभिलाषी हैं—सबकी ओर खिंचे चले जा रहे हैं । आनन्द सबको अपनी ओर आकर्षित कर रहा है । आनन्द ही तो उस देव का स्वरूप है । जो आनन्द की आकांक्षा का अनुभव करता है, वह मानों उस पर-तत्व का ही प्रत्यक्ष कर रहा है । और देखो न, वह कैसा अत्यन्त निकट से सबकी सेवा कर रहा है । जैसे ही हम पाप-पथ की ओर पैर बढ़ाते हैं, वह लज्जा, ग्लानि, भय, आशंका आदि का रूप खड़ा करके हमें उधर बढ़ने से रोक देता है और पवित्रता के पथ पर प्रयाण करते ही आह्लाद, उत्साह, निर्भयता आदि भावों का संचार करके हमें बढ़ावा दे रहा है । इतने निकट से क्या अन्य कोई और भी आपकी परिचर्या करता है ? फिर कैसे कहते हो कि वह नहीं है ?

पर तत्व में प्रकृति के गुण नहीं, पर उसमें अपने गुण तो हैं ही । इन गुणों का चिन्तन, मनन, ध्यान साधक को पर तत्व के निकट ले जाता है । यह सामीप्य, यह सालोक्य उसे प्रभु का सयुजा भी बना देता है । यह सायुज्य सखा-भाव का द्योतक है । क्या कोई सखा अपने सखा के अस्तित्व को भी

अस्वीकार कर सकता है ? बाहर वाले दो सखाओं को एक कहें तो आश्चर्य नहीं है, पर सखा तो अपने सखा को पहिचानता ही है। आत्मा का, अपना, युज्य सखा, परमात्मा ही है।[1]

प्रकृति, जीव और परमात्मा तीनों के सम्बन्ध में निम्नांकित मंत्र विचारणीय है :—

> बालादेकमणीयस्कं उतैकं नेव दृश्यते।
> ततः परिष्वजीयसी देवता सा मम प्रिया॥ (अथर्व १०-८-२५)

यहां मैं हूँ, मेरे अतिरिक्त मेरे समानधर्मा भी अनेक हैं, पर मेरे और उनके अतिरिक्त पृथ्वी, सूर्य, चंद्रादि भी हैं। वैज्ञानिक कहते हैं, इन सबका निर्माण सूक्ष्म सात्विक तेजस या राजस और तामस परमाणुओं के सम्मिश्रण से हुआ है। वेद कहता है, ये परमाणु बाल से भी अणीयस्क हैं। बाल के यदि टुकड़े किये जांय तो अन्त में जो अविभाज्य अंश बचेगा, वह अणु है और उससे भी सूक्ष्म परमाणु है। समस्त ब्रह्माण्ड ऐसे ही अनन्त परमाणुओं से बना है। इन परमाणुओं का सूक्ष्म समन्वित रूप प्रकृति कहलाता है। मैं क्या हूँ ? ब्रह्माण्ड को देखने वाला और आस्वाद लेने वाला। मैं भी सूक्ष्म हूँ, पर प्रकृति के परमाणुओं की भांति नहीं। मैं हूँ, पर न जैसा, क्योंकि मुझे तो अपनी अनुभूति होती है, अन्यों को नहीं। अन्य व्यक्ति ब्रह्माण्ड की तरह मुझे देख नहीं पाते। मेरे शरीर के अन्दर विश्लेषक विज्ञानी और ऊहापोही दार्शनिक प्रविष्ट भी हो सकें तो वे हाड़, मांस, मस आदि को भले देख लें, मुझे नहीं देख सकेंगे। हां, एक सत्ता और है। वह देवता है, दिव्य तत्व है जो मुझे अन्दर, बाहर सब ओर से आलिंगित किए हुए है। इसकी दृष्टि से न मैं ओझल हूँ, न प्रकृति के सूक्ष्म परमाणु। यही मेरी प्यारी देवता है। इसी देवता को परतत्व या परमात्मा कहते हैं। मेरे लिये यही भक्ति-भाजन है, यही प्रेमास्पद है। मेरा अनुराग

---

[1] इन्द्रस्य युज्यः सखा। ऋ० १-२२-१९।

इसी देवता में होना चाहिये। मेरी वाणी, मेरे कर्म, मेरा ज्ञान, मेरी श्रद्धा, मेरा प्रेम इसी देवता के प्रति समर्पित होने चाहिये।

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्। यजु ३६-२४ पर तत्व चक्षु है, द्रष्टा है, देवहितकारी तथा दिव्यता में निहित है, शुक्र है, निर्मल है, उज्ज्वल है और सबके सम्मुख उपस्थित है। उसकी दृष्टि, मुख, बाहु, पैर सब ओर हैं और सदैव हैं। देश और काल उसके बन्धन में हैं, वह इनके बन्धन या शासन में नहीं हैं। सूर्य उसकी आज्ञा से तपता है, उसके प्रकाश से प्रकाशित है। वात की गति उसके कारण है। अग्नि को उष्णता उससे प्राप्त हुई है। वाणी उसके कारण बोलती है, श्रोत उसके कारण सुनते हैं, आंखें उसके कारण देखती हैं, पर वह वाणी की वर्णन शक्ति से परे है, श्रवण और दर्शन की सीमा से बाहर है। वह सबका कारण है। उसका कारण कोई भी नहीं है।

> विश्वकर्मा विमना आद्विहाया धाताविधाता परमोत संदृक्।
> तेषामिष्टानि समिषामदन्ति यत्रा सप्त ऋषीन् परएकमाहुः॥
> (यजु० १७-२६)

ईश्वर विश्वकर्मा है, विश्व भर का उत्पादक है। वह विमना, विविध विज्ञान वाला है। वह आद्विहाया = आकाश के समान सर्वत्र व्याप्त, निर्विकार, क्षोभ-रहित तथा सर्वाधिकरण है। वही सब जगत का धाता, धारण करने वाला और विधाता, विविध एवं विचित्र जगत की रचना करने वाला है। वह परम अर्थात् सर्वोत्कृष्ट और संदृक् और अर्थात् सबके पाप पुण्यों को देखने वाला है। विश्वासी भक्त उसी की उपासना द्वारा अपना इष्ट साधन करते हैं और परमानन्द में रहते हैं। दैवी भोग उन्हीं की भाग्य-सम्पदा बनते हैं। पंच प्राण, सूत्रात्मा और धनंजय नाम के सप्त ऋषि उसी परम में एक होकर रहते हैं। वह सबका निधान तथा कोष है।

वह गणों का गणपति, प्रियों का प्रियपति और निधियों का निधिपति है। वह सब का वसु है, धारण और पोषण करने वाला है। वह शम्भव और

मयोभव है, शंकर है और मयस्कर है, वह शिव है और शिवतर है। उससे बढ़कर कल्याण रूप तथा कल्याण-कारी अन्य कोई भी नहीं है। वह तेज है, वीर्य है, बल है, ओज है, मन्यु है और सहनस्वरूप है।

> न यस्य देवा देवता न मर्ता आपश्चन शवसो अन्तमापुः ।
> स प्ररिक्वात्वक्षसाक्ष्मो दिवश्च मरुत्वान्नो भवत्विन्द्र ऊती॥
> (ऋ० १-१००-१५।)

वह विभु है, विभावसु है, अनन्त है। ज्ञानी देव तथा कर्मपरायण मर्त्य उसके बल का अन्त नहीं पा सकते। वह प्रकृष्ट एवं सबसे अतिरिक्त है। अपनी कारयित्री शक्ति से वह द्यावा एवं पृथ्वी का निर्माता है, पर सबसे पृथक् भी है। उसकी प्राणवत्ता ही सबकी ऊति एवं स्थिति का कारण है।

> स वज्रभृद्दस्युहा भीम उग्रः सहस्रचेताशतनीथ ऋभ्वा ।
> चम्रीषो न शवसा पाञ्चजन्यो मरुत्वान्नो भवत्विन्द्र ऊती ॥
> (ऋ० १-१००-१२)

जैसे शरीर में प्राण रक्षण का कार्य करता है, अन्न को पचाता और विजातीय द्रव्य को दूर करता रहता है—प्राणन तथा अपनयन उसके प्रमुख कार्य हैं, वैसे ही प्रभु के पास वज्र रूप प्राण हैं जिनके द्वारा वे स्वयं अच्छेद्य बने हुए दुष्टों के छेदक, अन्याय के विनाशक तथा शिष्टों के हितकारक हैं। वे दस्युहा हैं, पापियों का हनन करने वाले हैं। जो पुण्यपथ का परित्याग करते हैं, हिंसक एवं अत्याचारी बनते हैं, उनके लिये प्रभु भीम हैं, भयंकर हैं, उग्र हैं, तीव्र एवं तीक्ष्ण दण्डधारी हैं। वे सहस्रचेता हैं, महाबलशाली हैं, प्रकाश-स्वरूप हैं, अपने भक्तों को असंख्यात पदार्थों की प्राप्ति कराने वाले हैं। वे किसी की सेना या बल के वशीभूत नहीं होते। अपने बल से वे पाञ्चजन्य और मरुत्वान होकर भक्तों की रक्षा करते हैं और दुष्टों को वशीभूत करते हैं, झुकाते हैं।

पाञ्चजन्य पञ्चजन सम्बन्धी है। पांच-पांच प्रकार के प्राणी जो यहां निवास

करते हैं, वे सब प्रभु के ही आश्रित हैं, उसी के कारण जीवित हैं। वही इन सबके अन्दर क्रियाशील पंच प्राणों का भी जनक है। वह इन सबका है। उसका भ्रातृव्य, शत्रु कोई नहीं है, जो उसके भाग में भाग लेने का दावा करे। सब उसके अधीन हैं। जब कोई समान ही नहीं, तो अधिक का तो प्रश्न ही खड़ा नहीं होता। वह सब का नियन्ता है। उसका नियन्ता कोई भी नहीं है। उसका कोई अपना नहीं, फिर भी सब उसी के हैं। ऐसा वह सनातन से, स्वभाव से ही है। वह अपना बनता है, पर बड़े संघर्ष के द्वारा, अनवरत प्रकृति-पाशों से युद्ध करने और विजय प्राप्त करने के बाद। जब तक प्रकृति के आवरण अपने प्रतीत होते हैं, तब तक वह परमदेव अपना नहीं बन पाता। अपना बन्धु और सखा तो वह तभी बनता है जब युद्ध करते हुए हम प्रकृति के चंगुल से निकल जाते हैं, पराधीनता से मुक्त हो जाते हैं[1]।

> अकामो धीरो अमृतः स्वयम्भूः रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः ।
> तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योः आत्मानं धीरमजरं युवानम् ॥
> (अथर्व १०-८-४४)

जैसे हमें कामनायें सब ओर से घेरे रहती हैं, उलझन में डालती हैं, चिन्तित और विचलित करती हैं, जिनके द्वारा जीवन का सारा स्वाद किरकिरा हो जाता है, हमें अपने अन्दर न्यूनता ही न्यूनता का अनुभव होने लगता है, असमय में ही चिन्ताओं एवं अभावों के कारण बुढ़ापा आ दबाता है, युवावस्था में भी शरीर जीर्णशीर्ण होने लगता है और मृत्यु पल-पल में भयभीत करती रहती है, वैसे परमदेव परमात्मा नहीं हैं। वे अकाम हैं। उन्हें किसी भी वस्तु की कामना नहीं है। उनके पास किसी भी पदार्थ का अभाव नहीं है। वे धीर हैं। उन्हें कोई विचलित नहीं कर सकता। वे अमृत-स्वरूप हैं, रस-तृप्त हैं। उनके पास किसी प्रकार की भी न्यूनता नहीं है। वे सतत युवा हैं। जरा

---

[1] अभ्रातृव्यो अनात्वं अनापिः इन्द्र जनुषा सनादसि। युधेदा पित्वमिच्छसे। ऋ० ८-२१-१३।

उनके पास फटक भी नहीं पाती। सदैव अजर, तरुण, धीर, प्रशान्त बने रहना उनका स्वभाव है। जिसने इन्हें जान लिया, उसने अपने को जान लिया, वह मृत्यु से पार हो गया। जिसने उसे नहीं जाना, उसे मृत्यु बार-बार निर्ऋति में, कृच्छ्रापत्ति में, घोर कष्ट में, भयावनी काल-दंष्ट्राओं में डालती रहेगी। क्लेश-जाल से उद्धार पाने का एक ही उपाय है—उस परमदेव को जान लेना, पर तत्त्व से मैत्री स्थापित करना, उस स्वयम्भू के साथ एक हो जाना।

सब आप्त पुरुषों का यही अनुभव है, ऋषियों ने इसका साक्षात् दर्शन किया है, मुनियों का मनन इसी दिशा की ओर इङ्गित करता है, वेदों का प्रकाश यही दिखलाता है, वेद यही कहता है कि उस निखिल भूताधिपति, समस्त-लोकाश्रय, तुविदेष्ण-महादानी, तुविकूर्मि-अनन्त पराक्रमसम्पन्न, तुवीमघ-अपारधनी, तुविमात्र-असीम, अनन्त, प्रतपा, अभिज्ञु प्रभु को जाने बिना कल्याण नहीं है। सब कहते हैं, फिर भी हम नहीं सुन पाते, उधर नहीं चल पाते, धारा को उलट नहीं पाते।

को नानामवचसासोम्याय मनायुर्वाभवतिवस्त उस्राः।
कः इन्द्रस्य युज्यं कः सखायं भ्रात्रंवष्टिकवये क ऊती॥

(ऋ० ४-२५-२)

कौन है यहाँ जो उसके समीप चलने की आकांक्षा करता है? गद्‌गद्‌वाणी में उस सोम्य के लिये अपना सोम, अपनी प्रगति अपना भक्तिभाव, अर्पित करना चाहता है? जो उसको समझने की इच्छा करता है, उसकी ज्ञान-किरणों से अपने को आच्छादित करना चाहता है? कौन है जो उसकी संगति में, मैत्री में भ्रातृभाव में रहने के लिये लालायित है? उस कवि के लिये, सर्वज्ञ परम देव के लिये किसकी प्रीति, किसकी भक्ति उमड़ रही है, उठ रही है, इतनी अदम्य उमंग के साथ कि जो अपने आवेश में ही उसका स्पर्श करने लगे?

समेतविश्वेवचसापतिं दिवः एको विभूरतिथिर्जनानाम्।
स पूर्व्योनूतनमाविवासत् तं वर्तनिः अनुवावृत एकमित् पुरु॥

(अथर्व ७-२१-१)

दैवी सम्पदा के प्रेमियो ! भक्ति-मात्र के धनी महानुभावो ! आओ, अपनी समवेत वाणियों से, भक्ति-भरित वचनों से उस अमृतानन्दी भगवान का यशः कीर्तन करें। वह द्यौ का पति है, एक है, सर्वव्यापक है, हम सबका अतिथि है। अतिथि की सेवा, परिचर्या, सम्मान सर्वोपरि है। यह अतिथि आज का नहीं, पूर्व का है, पहले का है, पुरातन है, पर यह जो नितनूतन, क्षण-क्षण में अभिनवरूप धारण करने वाला जगत है, आणविक परिवर्तन, योनि-संक्रमण, प्राणि-प्रवृत्ति, ऋतु-रामणीयकता, उषा, संध्या, किसलय, पुष्प, फल आदि का नव-नव आगमन इस विविधरूपा नूतनता में वह प्रजापति बनकर समाया हुआ है, अजायमान होकर भी नाना रूपों में प्रतिबिम्बित, प्रतिमान हो रहा है। वह एक है, केन्द्र है, पर हमारी, परिधि में फैले हुए नाना रेखा-बिन्दुओं की स्थिति के कारण अनेक मार्गों द्वारा प्राप्तव्य है। वर्तनि, वाट, पद्धति, प्रणाली, प्रणीति एक नहीं, बहुत हैं और वे सब अन्त में आकर उसी एक केन्द्र में समा जाती हैं।

स दर्शतश्रीरतिथिर्गृहेगृहे वनेवने शिश्रिये तक्वीरिव।
जनं जनं जन्यो नातिमन्यते विशआक्षेति विश्यो विशम् विशम्॥
(ऋ० १०-९१-२)

आओ, अतिथि देव ! तुम कैसे दर्शनीय हो। तुम्हारी श्री, तुम्हारी शोभा, तुम्हारी सुन्दरता अनुपम है। ऐसी कान्ति अन्य किसके पास है ? पर तुम कैसे अन्तर्गूढ़ हो ! जैसे चोर वन-वन का आश्रय लेता है, अग्नि अरणी में, काष्ठ में छिपी बैठी रहती है, वैसे ही तुम पिण्ड-पिण्ड में, गृह-गृह में व्याप्त हो रहे हो। तुम जन्य हो—जनजन के हितकारी हो। जन की सत्ता, विद्यमानता, एकमात्र तुम्हारे कारण है। तुम भूः हो, स्वयं सत्तावान हो और अन्य सत्ताओं के हेतु हो। तुम विश्य हो, जनसमूहों के हितसाधक हो, एक-एक विश, प्रजासमूह, जनसमुदाय के अन्दर निवास कर रहे हो। तुम किसी का तिरस्कार नहीं करते। हमारी अवहेलना करने तथा कराने वाले हमारे पाप हैं।

अतिथि देव ! जब तुम विराजमान हो, तो तुम्हारी सन्निधि में अशुचि, मल, पाप अपनी स्थिति कैसे रख सकता है ?

> विशम् विशम् मघवा पर्यशायत जनानां धेना अवचाकशद्वृषा ।
> यस्याह शक्रः सवनेषु रण्यति स तीव्रैः सोमैः सहते पृतन्यतः ॥
> (ऋ० १०-४३-६)

भगवान ऐश्वर्य के भाण्डार हैं, भक्तों की अभिलाषाओं को पूर्ण करने वाले हैं और मनोकामनाओं के अभिवर्षक हैं। वे सब के अन्दर परिव्याप्त होकर जन-जन की बुद्धियों को चमका रहे हैं। हम जो सवन करते हैं, यज्ञ या पुण्य कर्म करते हैं, उनमें यदि सर्वसमर्थ परमेश्वर रमण करने लगे, आनन्द लेने लगे, उन्हें हमारे सवन प्रिय प्रतीत होने लगे, तो उनके प्रीतिपात्र बनकर हम अपने तीव्र सोमों से, उत्कट भक्ति-भावों से, समस्त प्रतिरोधकों, पृतन्याओं, शत्रु-सेनाओं के वार सह सकेंगे। उनके कारण हम विचलित न होंगे। हमारी सहनशक्ति इतनी प्रबल हो जायगी कि हम नहीं, हमारा शत्रुदल टूट जायगा और विजयश्री हमारा चरण-चुम्बन करेगी। प्रभु के रमण में ही उनका वरण भी छिपा हुआ है।

> प्र वो महे मन्दमानाय अन्धसो अर्चा विश्वानराय विश्वाभुवे ।
> इन्द्रस्य यस्य सुमखं सहो महि श्रवो नृम्णं च रोदसी सपर्यतः ॥
> (ऋ० १०-५०-१)

प्रभु महान हैं, मन्दमान हैं, आनन्द के धाम हैं। नित्यानन्द ही उनका स्वरूप है। विश्व में जहां कहीं अन्धस है, सोम है, अन्न और भोग है और उस भोग से उत्पन्न सुख है, वह सब उसके आनन्द रूप की ही किरण-मात्र है। प्रभु विश्वानर है। समस्त नरत्व, नायकत्व उसी से संभूत हुआ है। यहां जितने नर हैं, सब उसी में आश्रित हैं। वह विश्वाभुव है, विश्व को अस्तित्व में लाने वाला, स्थिति का कारण तथा विश्व व्याप्त है। हम सबको उसी की अर्चना करनी चाहिये। परमैश्वर्यनिधान देवाधिदेव भगवान का सहः

महान है, पूज्य है, उनका मख, यज्ञविधान सुन्दर है, उनका यश और बल वन्दनीय है। ये द्यावा और पृथ्वी उन्हीं का पूजन कर रहे हैं। उन्हीं के गुण-गान में लीन हैं।

सुदक्षो दक्षैः क्रतुनासि सुक्रतुः अग्ने कविः काव्येना सि विश्ववित्।
वसुर्वसूनां क्षयसि त्वमेक इत् द्यावा च यानि पृथिवी च पुष्यतः॥
(ऋ०-१०-९१-३)

विश्व में कर्म या श्रम शक्ति, वसु या धन शक्ति, दक्ष या बल शक्ति और काव्य अर्थात् ज्ञान-भक्ति की समन्वित शक्ति—यही चार शक्तियाँ प्रधान हैं। इन्हीं के आधार पर मानव-जाति के चार भाग किये गये हैं। श्रम तथा धन को कभी-कभी एक में ही सम्मिलित करके विश नाम दे दिया जाता है। यजुर्वेद ३८-१४ के प्रारम्भ में इष, ऊर्ज, ब्रह्म तथा अन्त में ब्रह्म, क्षत्र और विश के पोषण तथा धारण का ही आदेश दिया गया है। विश प्रजा है, मानव का सामान्य रूप है, प्रमुखता ब्रह्म तथा क्षत्र की ही है। समाज के पथ-प्रदर्शन तथा रक्षण का भार क्रमशः इन्हीं दो पर है। हमारी चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था में चारों वर्णों को महत्व प्राप्त है। ब्रह्म तथा क्षत्र की प्रधानता का कुछ भी अर्थ नहीं होगा, यदि विश-प्रजा के दो रूप वैश्य तथा शूद्र न हों। ब्रह्म और क्षत्र इन दोनों के अभाव में जीवित भी नहीं रह सकते। अतः चारों वर्ण आवश्यक हैं। ऊपर उद्धृत मंत्र में दक्ष या बल क्षत्रिय का द्योतक है, कवि ब्राह्मण है, क्रतु या कर्म शूद्र है और वसु वैश्य है। द्यावा से लेकर पृथ्वी पर्यन्त यह चार प्रकार की विशेषता-रूप सम्पदा भरी पड़ी है। द्यावा और पृथ्वी इनका पोषण करते हैं, पर एक सत्ता ऐसी भी है जो अकेली ही इन समस्त धनों को अपने अन्दर बसाये हुये है। यह सत्ता पर तत्त्व है, प्रभु है, ईश्वर है, भगवान है। वही वस्तुतः भगवान है, ऐश्वर्य और शक्ति रखता है। अन्यों के पास उसी का दिया हुआ ऐश्वर्य और उसी की दी हुई शक्ति है। वह शोभन बल वाला है, शोभनकर्मा है, विश्ववित् कवि है, ज्ञानी है, सर्वज्ञ है

और वसुओं का वसु है। उस जैसा न हुआ, न है और न होगा। ये जात, पैदा हुए और जायमान, पैदा होने वाले उसको पूर्णतया हृदयंगम नहीं कर सकते। उसके कर्म, उसका ऐश्वर्य, उसका बल और उसका ज्ञान अग्राह्य, अज्ञेय तथा अवर्ण्य हैं।

बृहदारण्यक उपनिषद, प्रथम अध्याय के चतुर्थ ब्राह्मण में सामाजिक क्षेत्र के चार वर्णों की समानता आधिदैविक क्षेत्र के देवताओं से की गई है। इस संदर्भ में प्रथम एक ब्रह्म का वर्णन है। वह अकेला था, अतः वैभव-सम्पन्न नहीं था। अपने को विभवयुक्त करने की इच्छा से उसने क्षत्ररूप की रचना की। देवताओं में इन्द्र, वरुण, सोम, रुद्र, मेघ, यम, मृत्यु और ईशानादि क्षत्रिय रूप हैं। ये उत्पन्न हुए। क्षत्रिय से उत्कृष्ट कोई नहीं है। राजसूय यज्ञ में क्षत्रिय सिंहासन पर तथा ब्राह्मण उसके नीचे बैठता है। इस समय ब्राह्मण मानो अपने यश को क्षत्रिय में स्थापित करता है। ब्राह्मण क्षत्रिय की योनि है। अतः उत्कृष्टता को प्राप्त क्षत्रिय अन्त में अपनी योनि ब्राह्मण का ही आश्रय लेता है। जो क्षत्रिय ब्राह्मण की हिंसा करता है, वह अपनी योनि का ही विनाश करता है। श्रेष्ठ की हिंसा करना पाप है।

क्षत्रिय की उत्पत्ति से भी ब्रह्म का विभव पूर्ण न हुआ, तो उसने वैश्य की रचना की। देवगणों में जो वसु, आदित्य, विश्वेदेव और मरुत आदि हैं वे वैश्य रूप हैं। ये उत्पन्न हुए। फिर भी विभव अपूर्ण रहा। अतः उसने शूद्र वर्ण को उत्पन्न किया। पूषा शूद्रवर्ण है। यह पृथ्वी ही पूषा है, क्योंकि यहां जो कुछ है, सबका यही पोषण करती है।

मन्त्र में जिस ग्रावा का उल्लेख है, वही ब्राह्मण है, विश्वजित कवि है। आधिदैविक जगत में अग्नि तेज ही ब्राह्मण है। मंत्रोक्त पृथिवी शूद्र है। इन दोनों के बीच में आने वाले इन्द्र (सूर्य), वरुण (विद्युत) आदि क्षत्रिय तथा अन्तरिक्षस्थ मरुत, विश्वेदेव आदि वैश्य हैं। मंत्र में इन सब के आश्रय-

दाता परमतत्व की मूर्धन्यता अथवा मूलता पर प्रकाश डाला गया है। मूल तत्व ही हम सब का उपास्य है। वेद के शब्दों में :—

> माचिदन्यद् विशंसत सखायो मा रिषण्यत।
> इन्द्रमित्स्तोता वृषणं सचा सुते मुहुरुक्थ्या च शंसत॥
> (ऋ० ८-१-१)

मित्रो! एक इसी परमदेव की प्रशंसा करो, इसी के स्तुति-गान गाओ, यज्ञ में एकत्र होकर अपनी वाणी द्वारा बार-बार इसी का कीर्तन करो। यही वृषण है, बलवान है, अभिलाषाओं की पूर्ति करने वाला है। अन्य की प्रशंसा तो विनाश करने वाली है। प्राकृत जन का गुणगान वाग्देवी सरस्वती का अपमान है। अतः एक प्रभु की ही उपासना करनी चाहिये।



हमारा वायुमण्डल

हमारी पृथ्वी सौर जगत का एक महत्वपूर्ण अङ्ग है। न भी हो, तो भी, इस पर हमारे निवास ने इसे महत्व दे रखा है। 'हमारे' शब्द में मानव ही नहीं, चर-अचर सभी सम्मिलित हैं। मानवों के चिर साथी, गो, वृषभ, महिष, अज, अवि, मृग, अश्व, गज आदि के साथ चावल, जौ, गेहूँ, चना, बाजरा, मक्का आदि ओषधि तथा आम्र, जामुन, वट, अश्वत्थ, नीबू, अमरूद, सेब, अंगूर आदि वनस्पति को कौन विस्मृत कर सकता है? पर्वत, सिन्धु, सरोवर सरितायें, वापी, कूप आदि प्राकृतिक तथा मानव निर्मित पदार्थ भी इस पृथ्वी के चिर सङ्गी हैं। इनके अतिरिक्त एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष पर फुदकते हुए कपोत, गिलहरी, वानर, मयूर तथा आकाश में मंडराते हुये गृध्र, श्येन, काक, गरुड, कंक आदि न जाने कब से हमारे वातावरण के अंग बने हुए हैं।

सूर्य से हमारा अस्तित्व ही है। वह न होता, तो यहाँ कुछ न होता। उसी की ऊष्मा, प्रकाश एवं प्राण-शक्ति पृथ्वी-मण्डल को और उसके निवासियों को सत्ता प्रदान करती है। सूर्य की किरणों के साथ जो जीवनधारा प्रवाहित होती हुई आती है, उससे हम सभी प्राणवान बनते हैं। वृक्षों में जो हरीतिमा की आशाभरित द्युति है, उसके मूल में सूर्य की किरणें हैं। पृथ्वी का मिट्टी भाग तथा जल जड़ों द्वारा वृक्ष का भोजन बनता है, वायु में जो पोषक अंश हैं उन्हें वृक्ष की पत्तियां खींच लेती हैं, पर यह सब होता सूर्य की प्राणशक्ति के कारण ही है। सूर्य की किरणें पृथ्वी के गर्भ में प्रवेश कर जाती हैं। सूर्य का एक रूप अग्नि वहां पहले से भी विद्यमान है, यद्यपि उसका प्रदीपन सूर्य-किरणों के सतत सम्पर्क से ही होता है। सूर्य और अग्नि की यह ऊष्मा ही पृथ्वी के गर्भ में पड़े कोटि-कोटि बीजों को ओषधि एवं वनस्पतियों के रूप में उपर ले आती है। मिट्टी के काले रंग तथा सूर्य-किरणों के पीले रंग के सम्मिश्रण से वृक्ष-वनस्पति-लता आदि के पत्तों में हरा रङ्ग उत्पन्न होता रहता

है। जब पत्ते जल-मिट्टी आदि के आहार को प्राप्त करना बन्द कर देते हैं, तो सूर्य की किरणों के प्रभाव में पीले पड़ जाते हैं और परिणामतः झड़ कर गिर जाते हैं।

सूर्य के पश्चात अन्तरिक्ष की विद्युत भी चिरकाल से हमारा साथ दे रही है। अन्तरिक्ष में वाष्पमंडलों की पारस्परिक रगड़ से बादलों की गड़गड़ाहट के समय तो इसकी कौंध, लपलपाहट, चक्राकार, भयावह रूप और विध्वंसकारी ताण्डव नृत्य दिखाई दे ही जाता है, भूमि पर भी जहां-जहां जल-समूह परस्पर संघर्ष में आते हैं, वहां भी इसका गर्जन-तर्जन सुनाई पड़ने लगता है। वैज्ञानिकों के आविष्कारों तथा सृजनात्मक मस्तिष्क ने ऐसे भयंकर विनाशकारी तत्व को पालतू बना दिया है और अब प्रलय के स्थान पर यह निर्माणकारी कार्यों में सहयोग दे रही है। विद्युत से चक्की चलती है, पंखा चलता है प्रकाश होता है, भोजन बनता है तथा अपने रोगों का इलाज होता है। विद्युत प्राकृतिक तो थी ही, अब मानव की कृति भी कहलाने लगी है और उसकी वशवर्तिनी भी। यह युग ही विद्युत का युग है, जहां देखो, वहीं विद्युत प्रयोग में लायी जाती है। मानव-हाथों में इसने बड़ी भारी शक्ति दे दी है, जो निर्माण तथा संहार दोनों रूपों में प्रयुक्त होती है। किसी पहाड़ को उखाड़कर, तोड़कर मार्ग बनाना है तो विद्युत आपकी सहायता करती है, आकाश में उड़ना है तो विद्युत आपकी सेविका है, स्थल पर रेलें चलानी हैं तो विद्युत सेवा में हाथ बांधे खड़ी है। मानव के सभी कार्य आज विद्युत की सहायता से हो रहे हैं।

जो विद्युत बाहर है, वह मानव के अन्दर भी है। जैसे बाहर से विद्युत की करेंट मारती है वैसे ही अन्दर से भी। यह मन की विद्युत है। कोई विचार या भाव मन से निकल कर आपको झकझोर देता है और आप अपने आपे से वैसे ही बाहर हो जाते हैं, जैसा बाहर की बिजली लगने पर अनुभव करते हैं। विचार या भाव का तनाव कभी-कभी इतना अधिक बढ़ जाता है कि सारा शरीर सुन्न पड़ जाता है। इसे 'काठ सा मार गया' कहा जाता है। काठ सूखी

लकड़ी है। जैसे यह रस-रहित है, हिलती-डुलती नहीं, वैसा ही शरीर हो जाता है। जिस पदार्थ या शरीर-अवयव पर बिजली पड़ती है, उसकी भी हालत सूखे काठ की सी हो जाती है।

अन्तरिक्ष में पृथ्वी का साथी चन्द्रमा है। इसका काम ही है, सेवक के समान अपनी स्वामिनी पृथ्वी के चारों ओर चक्कर काटना और निरन्तर उसकी सेवा में लगे रहना। भूमिस्थ ओषधियों में रस चन्द्र के कारण ही उत्पन्न होता है। इसी हेतु इसका नाम ओषधिपति पड़ गया है। अपने शान्त, सरस एवं आप्यायक स्वभाव के कारण इसे सोम भी कहते हैं। चन्द्र का अर्थ भी आह्लादक है। इसके चतुर्दिक आपोमण्डल रहता है। वही इसकी सरसता का प्रमुख हेतु है। दिन की उष्णता के पश्चात विशेषतः ग्रीष्म एवं शरद के दिनों में, चन्द्र की ज्योत्स्ना अतीव सुखद प्रतीत होती है। विद्युत से तो अनेक कार्य साधे गये हैं, पर चन्द्र की किरणों का प्रयोग अभी तक उसी पैमाने पर नहीं किया गया। प्राचीन काल में चन्द्रकान्तमणि द्वारा अनेक कार्यों की सिद्धि की जाती थी। भोग-विलासी उससे उपभोग के उपकरण तैयार करते थे, तो वैद्य विविध रसायनों के निर्माण में लगते थे। कलाकारों तथा कवियों के लिये तो चन्द्र कल्पना-मौक्तिकों का उर्वर आकर ही रहा है। वेद के निम्नांकित मन्त्र में हमारे इस वातावरण की विशेषताओं का वर्णन किया गया है :—

> शन्न इन्द्राग्नीभवतामवोभिः शन्न इन्द्रा वरुणा रातहव्या।
> शमिन्द्रा सोमा सुविताय शंयोः शन्न इन्द्रापूषणा वाजसातौ॥
> (ऋ० ७-३५-१, अथर्व १९-१०-१, यजु० ३६-११)

मन्त्र में इन्द्र शब्द का प्रयोग, अग्नि, वरुण, सोम तथा पूषण चार शक्तियों के साथ किया गया है। इन शक्तियों का उल्लेख-क्रम भी ध्यान देने योग्य है। इन्द्र शब्द का प्रयोग चारों के साथ है, अतः उसकी महत्ता भी निःसन्देह स्पष्ट है। इन शक्तियों में से एक-एक पर विचार करें। इन्द्र का अर्थ इस मन्त्र में सूर्य है। यह सूर्य अग्नि के रूप में पृथ्वी पर विशेष रूप से

सक्रिय दिखाई देता है। निरुक्तकार यास्क ने अग्नि, विद्युत तथा सूर्य तीन ज्योतियों को एक ही ज्योति के तीन रूप कहा है जो तीन भिन्न-भिन्न स्थानों में कार्य करते हैं। पृथ्वी पर अग्नि द्वारा कार्य लिया जाता है। अग्नि पृथ्वी-स्थानीय देव है। मानव अपने स्तोपयोगी सभी कार्य अग्नि द्वारा सिद्ध करता है। सृष्टि के प्रारम्भिक युगों में जब आणवशक्ति का ज्ञान न था, विद्युत के प्रयोग का भी पता न था, तब मानव ने वन की दावानल को दो बांसों के संघर्ष से उत्पन्न होते देख कर और शमी वृक्ष की अग्नि-गर्भता का अनुभव करके दो अरणियों से अग्नि उत्पन्न की होगी। अरणी शमी या अश्वत्थ वृक्ष की बनायी जाती है। दोनों में ही आग्नेय अंशों की प्रचुरता है। अग्नि का ज्ञान हो गया तो वह कभी बुझने न पावे, यह ज्ञान होना तो सहज ही था। अब तो चारों ओर विद्युत का प्रयोग होने लगा है, पर वह विशेषतः नगरों तक सीमित है और नगरों में भी दियासलाई का प्रयोग कम नहीं हुआ है। ग्रामों तक बिजली अभी नहीं पहुँची, दियासलाई बहुत दिनों से चल रही है। जब दियासलाई न थी, तब घर-घर में अग्नि प्रज्वलित रहती थी। आर्यों के वंशधर ईरानी भी अग्नि को सतत प्रज्वलित रखते हैं। भौतिक तथा मानसिक दोनों रूपों में अग्नि प्रदीप्त रहनी चाहिए, यह आर्य ही क्यों, मानव मात्र के लिये आवश्यक था, है और रहेगा।

भौतिक रूप में शेर, व्याघ्र, वृक आदि से सुरक्षित रहने के लिये अग्नि सहायक थी। मानव के पास प्रज्वलित अग्नि को देख कर हिंस्र पशु भी भयभीत रहते थे और आक्रमण करने का साहस नहीं कर सकते थे। अग्नि की सुरक्षा-शक्ति को देख कर चक्रबाण, मशाल आदि का निर्माण हुआ। आग्नेयास्त्रों के विविध रूप आर्यों की वैज्ञानिक उत्पादिका शक्ति का भी परिचय देते हैं। दवाइयों को फूँक कर भस्म या रसायन बनाने में भी अग्नि का प्रयोग करना पड़ता था। भोजन बनाने में तो अग्नि काम आती ही थी। अग्नि की भेदक शक्ति को अनुभव करके आर्यों ने अग्निहोत्र द्वारा अनेक रोगों के शमन की की विधि निकाली थी। रोगों का शमन ही क्यों, अग्निहोत्र द्वारा शरीर में

तो सूर्य है ही; वरुण को जल का देवता कहा जाता है। यह जल पृथ्वी पर भी है, पर इसका अधिकांश भाग सूर्य की उष्ण किरणों द्वारा वाष्प बन कर ग्रीष्म ऋतु में ऊपर चला जाता है। यही भाप मेघ का रूप धारण करती है। वर्षा ऋतु में आकाश से जो मूसलाधार वर्षा होती है, और संतप्त पृथ्वी की प्यास को तृप्त कर देती है, वह यही वाष्प-जनित मेघ का बरसना है। इससे सूखे काठ हरिया जाते हैं। धान, कपास, बाजरा, मक्का, जुवरी, मूंग, माष, मौठ आदि हव्य जिसे पाकर अग्निदेव की बुभुक्षा शान्त होती है, इसी इन्द्रा-वरुणी कृपा का फल है। सूर्य और वरुण दोनों ही मिलकर इस धान्य या हव्य को उत्पन्न करते हैं। हव्य की देन में इन्हीं दोनों का प्रमुख हाथ है।

वसुन्धरा के गर्भ में अनेक बीज निहित हैं। वे प्रकृति के यज्ञ-चक्र के कारण उगते, अन्न पैदा करते और पुनः बीज बनकर गर्भ में पहुंचते रहते हैं। इस प्राकृतिक हव्योत्पत्ति के अतिरिक्त मानव ने अन्नोत्पादन की विधि में संस्कार करके कृषि कर्म द्वारा अधिक से अधिक और श्रेष्ठ से श्रेष्ठ हव्य या धान्य को उत्पन्न करने का मार्ग निकाला है। जो स्थल, कृषि रूपी यज्ञ को करने के अयोग्य था, उसे भी योग्य बना लिया है और वैज्ञानिक आविष्कारों का सहारा लेकर वे साधन भी प्रस्तुत कर लिये हैं जो कृषि के लिये उपयोगी हैं। काश्मीर में नदियों तथा नहरों के ऊपर घर बने हैं, चौरस तख्तों पर मिट्टी के ढूहों में धान लहरा रहे हैं। पहाड़ काटकर समतल भूमि बना ली गई है और वहां खेती होने लगी है, पर यह सब सूर्य और वरुण देव के आश्रय पर फलती और फूलती है। ये दो न हों, तो हव्य-प्रदात्री कृषि का कर्म सफल नहीं हो सकता। प्रत्येक पौधे को पानी और प्रकाश की आवश्यकता रहती है। अकेला पानी नहीं, पानी और उष्णता दोनों ही फसल को तैयार करते हैं। उष्णता के अभाव में केवल पानी पीकर पेड़ ठिठुर जाते हैं और केवल उष्णता में पानी न मिलने पर वे मुरझा जाते हैं। अतः दोनों तत्वों के सहयोग की अपेक्षा रहती है। वायु तो दोनों के साथ रहता ही है। वही दोनों तत्वों को मिलाने वाला और दोनों का वाहक है।

निम्नांकित ऋचा में वर्षा के मूल कारण का वर्णन मिलता है:—

तमिन्द्रं वाजयामसि महे वृत्राय हन्तवे।
स वृषा वृषभो भुवत् (ऋ० ८।९३।७ अथर्व २०।४७।१,
२०।१३७।१२ साम ११९-१२२२)

ईश्वर ने इन्द्र या सूर्य को उस वाज या बल से संयुक्त किया है जिससे वह महान् वृत्र या मेघ को खंड-खंड करता है। वही बलवान सूर्य वृषभ, सिंचक या वर्षा का कारण बनता है। निरुक्तकार यास्क ने इसी अर्थ का समर्थन करते हुए लिखा है:—

तत्र को वृत्रः? मेघ इति नैरुक्ताः। अपाञ्च ज्योतिषश्च मिश्रीभाव कर्मणो वर्षं कर्म जायते। (२-५-१६-२)

मेघानां विकर्तनेन मेघानामुदकं जायते। (२-६-२२-५)

वृत्र मेघ है। मेघ के विकर्तन, खण्ड-खण्ड करने से मेघों का जल बरसता है, नीचे पृथ्वी पर आता है। जल और ज्योति, वरुण और सूर्य दोनों के मिश्रीभाव कर्म से वर्षा होती है।

रक्षण और हव्य के अतिरिक्त मनुष्य को सुवित, शोभन परिस्थिति, चाहिये। सौन्दर्य, कला, लालित्य, सौभाग्य मन को रमाने के अचूक साधन हैं। शरीर के साथ मन को भी रक्षण और हव्य की आवश्यकता है। मन की रक्षा और मन का आहार सुवित पर, सौन्दर्य-प्रसाधन पर अवलम्बित है। इन्द्र और सोम मिलकर इस लालित्य को जन्म देते हैं, इस सुवित की, शोभन संपदा की सृष्टि करते हैं।

सौन्दर्य भाव-जगत का तत्व है। सोम का सम्बन्ध भी भाव से है। सोम तत्व जहां-जहां है, वहीं आवेश, शीघ्र भभक उठना, प्रज्वलित हो जाना भी प्राप्त होगा। कर्पूर, कपास, तुलसी, देवदारु, चन्दन आदि में सोम तत्व है, अतः वे शीघ्र प्रज्वलित हो जाते हैं। भृगु तत्व भी सोम-प्रधान है। भृगुवंशी परशुराम का सहज भावापन्न हो जाना सभी इतिहासवेत्ताओं को स्वीकार

है। भाव का सम्बन्ध हृदय से भी जोड़ा गया है और मन, यजु० ३४-६ के अनुसार, हृत्प्रतिष्ठ है।

सोम आपः तत्त्व का सूक्ष्मतम रूप है। जिस चन्द्रमा को सोम संज्ञा प्राप्त है, वह आपोमय मण्डल से घिरा हुआ है। यह मण्डल सूर्य से नीचे और हमारी पृथ्वी के समीप है। चन्द्र इस आपोमण्डल के साथ हमारी पृथ्वी की परिक्रमा करता है और पृथ्वी के साथ सूर्य की भी। चन्द्र में जो चांदनी है, शीतल ज्योत्स्ना है, उसका कारण सूर्य का प्रकाश तथा यह आपोमण्डल है। इस ज्योत्स्ना में मन को रमाने की अद्भुत शक्ति है। कैसा ही अनमना, उद्विग्न एवं श्रान्त व्यक्ति हो, चन्द्र की इस चांदनी में स्नान करके स्वस्थ हो जाता है। चन्द्रमा वैसे भी परम पुरुष के मन से उत्पन्न हुआ है।[1] सन्तति अपने जनक को सुखी एवं आनन्दित करती है—पुन्नाम नरकात् त्रायते इति पुत्र'—पुत्र चन्द्रमा भी अपने पिता मन को दुरूह परिस्थिति से पार कर सुखित में, शोभन परिस्थिति में, सौन्दर्य की गोद में पहुँचा देता है। चन्द्र का अर्थ ही आह्लाद-कारक है।[2] जो मन को आह्लादित करे, प्रसाद से परिपूर्ण करे, वही चन्द्र है। चन्द्र की किरणों में अमृत है, पीयूष है, अतः उसे सुधाकर या सुधांशु भी कहा जाता है। इस पीयूष या अमृत का स्रोत इन्द्र अर्थात् सूर्य और आपो-मण्डल के अन्तर्गत है। दोनों से सम्बद्ध होकर चन्द्रमा इसे प्राप्त करता है।

एक आपोमय मण्डल सूर्य के ऊपर भी है जो महः तथा जनः लोकों से सम्बन्धित है। जहां सूर्य चन्द्र को ज्योत्स्ना प्रदान करता है, वहां आपोमय मण्डल में भरा हुआ सोम सूर्य को प्रभा-दान की शक्ति देता है। यह सोम निरन्तर सूर्य में आहुत होता रहता है और उसके प्रज्ज्वलन को समाप्त नहीं होने देता। सूर्य से निकल कर उष्णता चारों ओर अपने ब्रह्माण्ड की परिधि तक फैलती है। इस निष्कासन से जो उष्णता में कमी आती है, उसकी पूर्ति

[1] चन्द्रमा मनसो जातः (पुरुष सूक्त)

[2] चन्द्र शब्द चदि आह्लादने धातु से बनता है।

सोम की निरन्तर पड़ती हुई आहुतियां करती रहती हैं। वेद की निम्नांकित ऋचा में इस भाव को इस प्रकार व्यक्त किया गया है :—

तत्सूर्यस्य देवत्वं तन्महित्वं मध्या कर्तोर्विततं संजभार।
यदेदयुक्त हरितः सधस्था दाद्रात्री वासस्तनुते सिमस्मै॥
(ऋ० १।११५।४ अथर्व २०।१२३।१ यजु० ३३।३७)

सूर्य का यही देवत्व है, यही महत्त्व है कि द्यो लोकों के मध्य में जो[1] (कर्तृत्व शक्ति से सम्पन्न सोम) फैला हुआ है उसे संहृत या ग्रहण करके यह अपना भरण-पोषण करता है और अपनी अग्निपुंजता से मध्य भाग का भरण-पोषण किया करता है। दूसरे शब्दों में अग्नि सोम में और सोम अग्नि में परिणत होता रहता है। यही यज्ञ से यज्ञ करना है। जब सामने इसकी किरणें अयुक्त हो जाती हैं, तो रात्रि सबके विश्राम के लिये अपने वस्त्र बिछा देती है—अपने शरीर रूपी वस्त्र का विस्तार कर देती है। इस रात्रि को रमणीयता चन्द्र द्वारा प्राप्त होती है।

मन्त्र में जिस मध्य शब्द का प्रयोग है, वह सूर्य तथा पृथ्वी के मध्यस्थानीय चन्द्र तथा सूर्य और द्युलोक के मध्यस्थानीय चन्द्र दोनों का द्योतक है। अपने चन्द्र से हम परिचित हैं, पर दूसरे चन्द्र से नहीं। वेद ने 'दिवि सोमो अधिश्रितः' कह कर इस दूसरे चन्द्र की ओर भी संकेत किया है। हमारा चन्द्र तो पृथिवी स्थानीय है, द्यौ स्थानीय नहीं है, पर दूसरा चन्द्र स्वर्लोक से ऊपर महः लोक से सम्बन्ध रखता है और द्यौ स्थानीय है। ऐतरेय उपनिषद् के प्रारम्भ में ही 'महः इति चन्द्रमा' इन शब्दों द्वारा इस द्वितीय चन्द्र की ओर

[1] म्यूनिच (जर्मनी) के डा० लुडविग भी ग्रहों एवं नक्षत्रों के मध्य खाली जगह में एलेक्ट्रोन से युक्त तरल पदार्थ भरा रहता है—ऐसा मानते हैं। आपोमय मण्डल का सोम तरल ही तो है। वीर्य रूप में यही प्राणी को पुरुषार्थ, कर्तृत्व शक्ति, से सम्पन्न करता है। पुरुष सूक्त, यजु० ३१-१७ में इसी हेतु रसात् का विशेषण विश्वकर्मणः दिया हुआ है।

संकेत किया गया है। वेद की निम्नांकित ऋचा भी इसी तथ्य पर प्रकाश विकीर्ण करती है :—

> तव द्यौरिन्द्र पौंस्यं पृथिवी वर्धतिश्रवः।
> त्वामापः पर्वतासश्च हिन्विरे।
> (ऋ० ८।१५।८ अथर्व २०।१०६।२ साम १६४६)

हे इन्द्र ! हे सूर्य ! तुम्हारा पुरुषार्थ या बल द्यौ के कारण है। पृथ्वी तुम्हारे बल और यश को बढ़ाती है। आपोमण्डल तथा पर्वत तुम्हारा वर्धन करते हैं।

जैसा हम अभी लिख चुके हैं, आपोमण्डल सूर्य के नीचे तथा ऊपर दोनों ओर है और चन्द्र भी दोनों मण्डलों से सम्बन्धित हो है। आप एक को चन्द्र तो दूसरे को सूक्ष्म होने के कारण सोम कह लीजिये। दोनों ही सूर्य को बल देते हैं। द्यौस्थानीय चन्द्र सूर्य के पौंस्य का कारण है तो पृथ्वी स्थानीय चन्द्र उसके यश को बढ़ाता है। इस प्रकार सूर्य प्रकाश देकर चन्द्र को तथा चंद्र पौंस्य एवं यश देकर सूर्य को उपकृत करते रहते हैं। दोनों का अन्योन्य उपकार करना मानव के लिये सुवित्त का सम्पादक है, उसकी सुभगता, सौन्दर्य, लालित्य एवं शोभन परिस्थिति का जनक है।

रक्षण, हव्य एवं सुवित के साथ मानव को ज्ञान का बल भी चाहिये। चातुर्वर्ण्य व्यवस्था की ओर देखें तो शूद्रत्व को रक्षण, वैश्यत्व को धन-धान्य रूपी हव्य, क्षत्रिय को भावावेश (शौर्य के साथ शृंगार अथवा संगीत और वीर काव्य) तथा ब्राह्मण को ज्ञान का बल चाहिये। मन्त्र के चतुर्थ भाग में वाज-साति, ज्ञान रूपी बल की प्राप्ति के लिये प्रार्थना की गई है। इन्द्र के साथ पूषण इस ज्ञान की प्राप्ति में सहायक होते हैं।

कठोपनिषद् ने ज्ञान को छायातप की भांति सत्य एवं असत्य का विभाजक बताया है। सूर्य भी दोनों का विभाजक है। पूषण का सम्बन्ध अग्नि के साथ है। अग्नि सूर्य का ही स्थानीय है। अतः सूर्य का एक नाम पूषा भी है। प्रेरक शक्ति को सूर्य और पोषण देने वाली शक्ति को पूषा कहा जाता है।

शरीर का पोषण धान्य या द्रव्य से होता है, परन्तु बुद्धि का पोषण ज्ञान से होता है। ज्ञान ही शक्ति है। अन्य शक्तियां उसी के आधीन हैं। अतः सर्वोत्तम शक्ति ज्ञान की ही है। ज्ञान का बल तप है। ज्ञान तप से पुष्ट होता है। शरीर अन्न से पुष्ट होता है तो बुद्धि एवं ज्ञान तप से। ब्राह्मण का धन तप एवं संयम है। इसके अभाव में उसकी ज्ञान-सम्पदा सुरक्षित नहीं रहती। शूद्रत्व से लेकर क्षत्रियत्व तक भी तप चलता है, क्योंकि उसके बिना अस्तित्व ही स्थिर नहीं रह सकता, पर भोगवाद इनमें प्रधान है। तप की मात्रा नीचे के ऊपर तक बढ़ते-बढ़ते ब्राह्मणत्व में पराकाष्ठा को प्राप्त कर गयी है। 'ब्राह्मणस्यतु देहोऽयं क्षुद्रकामाय नेष्यते। इह कृच्छ्राय तपसे प्रेत्यानन्त फलाय च।' ब्राह्मण का शरीर क्षुद्र कामनाओं, भोगों के लिए तो है ही नहीं, वह साधारण तप के लिये भी नहीं, कृच्छ्र तपः साधना के लिये है। साधारण तप के बिना तो क्षत्रिय वैश्यादि भी जीवित नहीं रह सकते, फिर ब्राह्मणत्व कैसे टिक सकता है? अतः उसके लिये तो कठोर तप की आवश्यकता है। वैखानस सम्प्रदाय में अतीव कठोर तपों की योजना दृष्टिगोचर होती है। 'भक्ति का विकास' ग्रन्थ में हमने इन तपों का विवरण लिखा है। वेद की निम्नांकित ऋचा भी तप की महिमा का वर्णन कर रही है:—'तपसा ये अनाधृष्यास्तपसा ये स्वर्ययुः। तपो ये चक्रिरे महः तांश्चिदेवापि गच्छतात्।' ऋ० १०।१५४।२ अथर्व १८।२।१६ तपोबल के कारण जिनका कोई धर्षण नहीं कर सकता, जो अनाधृष्य हैं, अदम्य हैं, तप के कारण जिन्होंने स्वर्ग लोक प्राप्त किया है तथा जिन्होंने महान् से महान् कठोर तप की साधना की है, उन्हीं को मेरा आत्मा प्राप्त करे। मन्त्र में ब्राह्मण की आकांक्षा अभिव्यक्त हुयी है। वह कठोर से कठोर तप करने वालों का साथी बनना चाहता है। भोग तो निरय की ओर ले जाने वाले हैं। वह ऊर्ध्वलोकों का अभिलाषी है जो तप के बिना उपलब्ध नहीं हो सकते। अतः तप ही ब्राह्मण का धन है। वही उसे वाज या ज्ञान की प्राप्ति करा सकता है। विज्ञान विस्तार का विवेचन करता है तो ज्ञान केन्द्र की ओर ले जाता है। ब्राह्मणत्व केन्द्रोन्मुख होता है। केन्द्र ही उसका चरम लक्ष्य, उसकी अन्तिम उपलब्धि है। सूर्य की प्रेरणा

शक्ति एवं पोषण शक्ति दोनों ही उसकी सहायता करती हैं। गायत्री द्विजमात्र की माता है। वह बुद्धि को प्रेरित करने वाली तथा भर्ग या तेज को धारण करने वाली है। उसमें एक ओर प्रेरणा है तो दूसरी ओर धारण अर्थात् पोषण भी है। इन्द्रापूषणा की द्विविध मांगलिक धारणायें उसके साथ हैं। ब्राह्मण वरदायिनी वेद माता की स्तुति करता है, तो वेद की सारभूत गायत्री के जाप द्वारा पोषण तथा प्रेरणा को भी अपने अन्दर जागृत करता है। गायत्री की ये दो सन्तानें उसके रक्षण, द्रव्य, सुमिन, एवं ज्ञान सबकी साधिकायें हैं। इन्द्राग्नी, इन्द्रावरुणा, इन्द्रासोमा तथा इन्द्रा पूषणा हमारे वायुमण्डल के प्राकृतिक तत्व होते हुए भी उसके लिये मूर्तिमान देव बने हुए हैं। यही उसके शान्ति-सम्पादक हैं। इन्हीं की सहायता से मानव अपने उद्देश्यों में सफलता लाभ करते हैं। शान्ति प्रकरण का यह प्रथम मन्त्र हमें सुख एवं शान्ति की ओर ले चले। मानव मात्र सुपथ का पथिक बने और दुख से दूर होकर सुख को प्राप्त करे। यही वेदादेश है। यही आर्ष सन्देश है। यही आत्मा की पुकार है।



तीन और सात

वैदिक भाषा किसी समय विश्व की भाषा थी, ऐसा अनेक भाषा वैज्ञानिकों का अभिमत है। कतिपय विद्वान इस भाषा को तो नहीं प्रत्युत इससे साम्य रखती हुई तथा लैटिन, ग्रीक आदि भाषाओं की ध्वनियों को भी अपने अञ्चल में समाविष्ट करती हुई किसी अज्ञात भाषा को भारोपीय परिवार की मूल भाषा स्वीकार करते हैं। हम किसी अज्ञात भाषा के अभाव में जेन्दावस्था की भाषा से तथा लैटिन और ग्रीक भाषाओं से भी प्राचीनतर वैदिक भाषा को ही मूल भाषा मानकर कुछ ऐसी स्थापनायें प्रस्तुत करना चाहते हैं जो हमें इस भाषा की विशिष्टताओं से सम्बद्ध,जान पड़ती हैं। भाषा विज्ञान का प्रत्येक विद्यार्थी इस तथ्य से परिचित है कि वैदिक भाषा में उदात्त, अनुदात्त एवं स्वरित, तीन स्वरों के आधार पर शब्दों के उच्चारण एवं अर्थ, दोनों में ही अन्तर पड़ जाता है। संज्ञा शब्द यदि उदात्त-संवलित है तो अनुदात्त हो जाने पर वह अर्थ की विपरीत दिशा का द्योतन करेगा। अनुदात्त के उच्चारण में जहां गंभीरता होगी वहां उदात्त उच्च स्वर की ओर ले जायगा। यदि कर्मकारक के बहु वचन के उपरान्त कोई स्वर आता है तो उसके अन्त का 'आन्' 'आँ' हो जायगा और एक, दो या तीन का अंक लगाने पर उच्चारण की मन्दता अथवा तीव्रता से भी संयुक्त बनेगा। इसी प्रकार अन्य वेदों में तो नहीं, किन्तु यजुर्वेद में, जिसे कर्मकाण्ड का वेद कहा जाता है, 'अं' के उपरान्त यदि श, ष, स, र एवं ह आ गये तो उसका उच्चारण ँ (ग्वम्) के रूप में होगा। स्वरों की ये विशेषतायें भारतीय ऐतिह्य में ब्राह्मण काल तक जीवित रही हैं। ग्रीक भाषा में भी ये स्वर-सम्बन्धी विशेषताएं पाई जाती हैं और जो उच्चारण एवं अर्थ दोनों पर वहाँ भी प्रभाव डालती हैं। इन स्वरों को acute, grave and circumflex कहा जाता है। Accent या स्वराघात अंग्रेजी भाषा में भी

पाया जाता है। यदि यह शब्द के प्रारम्भ में है तो शब्द संज्ञा है और यदि अन्त में है तो शब्द क्रिया माना जाता है।

वैदिक भाषा की स्वर तथा व्यञ्जन-सम्पदा सभी भाषाओं से विपुलतर है। उसके शब्द भी उच्चारण की दृष्टि से अपनी ध्वनियों के सर्वाधिक निकट हैं। उनके अवयवों में कहीं भी स्खलन, आधिक्य अथवा च्युति दोष नहीं है। वे जैसे हैं, वैसे ही उच्चरित होते हैं। स्वर एवं व्यंजन दोनों के उच्चारण नियत हैं। यह व्यवस्था अन्य भाषाओं में परिलक्षित नहीं होती। वैदिक भाषा की अर्थ-सम्बन्धी एक प्रमुख विशेषता प्राचीन आचार्यों ने प्रकट की है। महर्षि यास्क के शब्दों में यह विशेषता शब्दों की कम से कम तीन अर्थगत दिशाओं से सम्बन्ध रखती है :—आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक। इन तीन अर्थ-दिशाओं के भी कई अवान्तर विभाग हैं, पर अपने मूल के साथ सभी संसक्त हैं। उदाहरण के लिए हम यहां 'गो' शब्द पर विचार करते हैं। 'गो' शब्द गाय-पशु, भूमि, सूर्य-किरण तथा इन्द्रिय का वाचक है। इस अनेकार्थता के कारण वेद की भाषा को गणित की भाषा भी कह दिया जाता है। त्रिकोण-मिति में जैसे 'अ' कई संख्याओं का वाचक है, वैसे ही वेद में गो, अग्नि, इन्द्र, वायु, सोम आदि शब्द कई अर्थों के वाचक हैं। इन अर्थों के क्षेत्र भिन्न-भिन्न हैं, परन्तु उनकी दिशायें एवं क्रियाएं घनिष्ट रूप से एक दूसरे में अनुस्यूत हैं। सूर्य की किरणें सूर्य से चलकर सभी दिशाओं में फैलती हैं। इसी प्रकार आत्म-शक्तियां इन्द्रिय-रूपों में समस्त दिशाओं का अवगाहन करती हैं। 'गम्' धातु का अर्थ 'गति' दोनों स्थानों पर है। इन्द्रियां विषयों में विचरण करती है, सूर्य की किरणें अन्तरिक्ष में, गो-पशु वन में और भूमि अपने कक्षावृत्त में। आध्यात्मिक क्षेत्र में जो इन्द्रिय शक्ति है, वही, आधिदैविक क्षेत्र में सूर्य की किरण है और आधिभौतिक क्षेत्र में भूमि है।

आध्यात्मिक क्षेत्र में इन्द्रियाँ दो प्रकार की हैं—इन्हें करण भी कहा जाता है। करण क्रिया का साधन है। अन्तःकरण तथा बाह्यकरण हमारे कर्मों के लिये सहायक साधन हैं। एक से हम बाहर जाकर उपलब्धि करते हैं, दूसरे

से उस उपलब्धि का समेकन तथा आत्मान्वयन। एक हमें बाहर की ओर ले जाता है तो दूसरा हमें अन्दर की ओर लौटाता है। एक में प्रगति है तो दूसरे में परागति है। यही तथ्य सूर्य की किरणों के साथ भी वैज्ञानिकों ने अनुभव किया है। सूर्य की किरणें किसी फलक पर प्रतिबिम्बित होकर लौट जाती हैं। पृथ्वी भी अपने अक्ष पर घूमती हुई सूर्य के चतुर्दिक चक्र लगाती है। जैसी उपलब्धि इन्द्रियों द्वारा शरीर को होती है, वैसी ही भूमि को, वैसी ही गाय को और वैसी ही किरण को।

इन्द्र इन्द्रियों का अधिपति आत्मा है। किरणों के अधिपति के रूप में उसी को सूर्य कहते हैं। प्रजाओं के अधिपति के रूप में वही राजा है और राजाओं के भी राजा के रूप में वही परमेश्वर है।

वाक् अध्यात्म में वाणी है, अधिदैव में अग्नि है, समाज में ब्राह्मण (कवि) है। इसी प्रकार वाचस्पति ब्राह्मण है, बृहस्पति है, ब्रह्मा है और परमात्मा है। वाणी अपने मूल परा रूप से हटकर पश्यन्ती आदि त्रिविध रूप धारण करती है। कल्याणी वेद वाणी भी ऋक्–यजु–साम की त्रयी बनाती है। वैखरी वाणी का मूल ओंकार त्रिमात्रिक है ही और उसकी तीन मात्राओं का सम्बन्ध वेदत्रयी, त्रिलोकी तथा देवत्रय से प्रख्यात है। वैदिक छन्द भी मुख्यतः तीन ही हैं :—गायत्री, त्रिष्टुप और जगती। प्रकृति के भी तीन गुण हैं : सत्, रज तथा तम। महाव्याहृतियाँ भी तीन ही हैं : भूः, भुवः और स्वः। विश्व की निर्मिति में भी परमात्मा, आत्मा तथा प्रकृति तीन ही तत्त्व कारण बनते हैं। परमात्मा विश्व का निमित्त कारण है, प्रकृति उपादान कारण है और जीवात्मा साधारण कारण है। संसार के व्यवहारों को समझने के लिये उसके अनन्त प्रकार के पदार्थों [illegible] सर्वोत्तम वर्गीकरण इन त्रिविध विभागों में सुगमता से हो जाता है। वैज्ञ[illegible] ऐतिह्ना भी यही है कि विभाग या वर्गीकरण के न्यूनतम आधार हों जिन [illegible] विशक भवनों का निर्माण हो सके। ये आधार पर्याप्त और आवश्यक हों, [illegible] बना हो चाहिये। दर्शन भी कुछ मौलिक नियमों की खोज करता है जो सत्ता के विविध विभागों पर लागू हो सकें।

छान्दोग्य उपनिषद् के छठे प्रपाठक के छठे खण्ड में उद्दालक ने सत्ता के ऐसे ही तीन मौलिक विभागों का वर्णन किया है। ये विभाग हैं तेज, जल और अन्न। मनुष्य के शरीर में इनके सूक्ष्मतम भाग वाणी, प्राण और मन हैं। जैसे दही बिलोने पर उसके अन्दर निहित मक्खन के कण ऊपर आ जाते हैं, उसी प्रकार अन्न के खाने पर उसके सूक्ष्म अंश ऊपर को उठते हैं और मन का निर्माण करते हैं। इसी प्रकार जल के सूक्ष्म अंशों से प्राण और तेज के सूक्ष्म अंशों से वाणी का रूप बनता है।

बृहदारण्यक उपनिषद् के प्रथम अध्याय के पंचम ब्राह्मण में भी मन, वाणी तथा प्राण की त्रयी का वर्णन आता है। वहाँ आत्मा को वाङ्मय, मनोमय तथा प्राणमय कहा गया है। तीन लोक भी इन्हीं तीनों के साथ सम्बद्ध हैं। वाणी यह लोक है, मन अन्तरिक्षलोक है, प्राण वह (द्यौ) लोक है। वैदिक क्षेत्र में वाणी ऋग्वेद है, मन यजुर्वेद है, प्राण सामवेद है। योनियों में वाणी देव योनि है, मन पितर है तथा प्राण मनुष्य हैं। संततिक्रम में वाणी माता है, मन पिता है और प्राण प्रजा है। ज्ञान के क्षेत्र में विज्ञात वाणी का रूप है, विजिज्ञास्य मन का और अविज्ञात प्राण का रूप है। पृथिवी वाणी का शरीर है, ज्योति उसका रूप है और यह अग्नि उसकी आग्नेयता है। जितनी वाणी है, उतनी ही पृथिवी है और उतनी ही यह अग्नि है। मन का द्यौ शरीर है, ज्योति रूप है और वह आदित्य है। जितना मन है, उतना ही द्यौ है और उतना ही आदित्य है। प्राण का आप (जल) शरीर है, ज्योतिरूप है और वह चन्द्रमा है। जितना प्राण है, उतना ही जल है और उतना ही वह चन्द्र है।

तीन लोक हैं: मनुष्य लोक, पितृलोक तथा देवलोक। मनुष्य लोक पुत्र से, पितृलोक कर्म से और देवलोक विद्या से जीता जाता है। लोकों में नाम, रूप तथा कर्म का त्रैत है। वाणी से नाम, चक्षु से रूप और आत्मा से कर्म का सम्बन्ध है। त्रैत का यह विभाजन ही पारस्परिक मिश्रण द्वारा सात विभागों का रूप धारण कर लेता है। सूर्य किरणों के तीन रंग जैसे इन्द्रधनुषी

सात रंगों में परिणत हो जाते हैं, वैसे ही उपर्युक्त त्रयी सात रूपों में परिणत हो जाती है। बृहदारण्यक के इस स्थल के प्रारम्भ में ही सात अन्नों का उल्लेख है। एक अन्न साधारण है, दो अन्न देवों के, तीन आत्मा के और एक पशुओं के लिये है। साधारण अन्न वह है जो खाया जाता है। हुत और प्रहुत देवों के अन्न हैं। मन, वाणी और प्राण आत्मा के अन्न हैं। दूध पशुओं का अन्न है। मनुष्य तथा पशु दोनों ही प्रारम्भ में दूध पर जीवित रहते हैं। हुत तथा प्रहुत दर्श एवं पूर्णमास यज्ञ की विशिष्ट आहुतियां हैं। जैसे तीन विभागों के मिश्रण द्वारा सात विभाग बनते हैं, वैसे ही चक्र-प्रणाली में सात पुनः तीन भागों में विभक्त हो सकते हैं। लोक तीन ही हैं : भूः, भुवः, तथा स्वः, पर यही सात बन जाते हैं :-भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः तथा सत्यम्। इन्हीं सातों को हम पुनः तीन भागों में विभक्त करते हैं :—भूर्भुवः स्वः, स्वः महः जनः, जनः तपः सत्यम्। वेद इन्हें क्रमशः रोदसी, क्रन्दसी तथा संयती नाम देता है। वेद के तीन प्रमुख छन्द[1] गायत्री, त्रिष्टुप तथा जगती भी इसी प्रकार सात छन्दों में परिणत हो जाते हैं। स्वर तीन हैं : उदात्त, अनुदात्त एवं स्वरित, परन्तु मिश्रण से ये षड्ज, ऋषभ, गांधार, मध्यम, पंचम, धैवत एवं निषाद रूप में सात बन जाते हैं। सात छन्दों—गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप तथा जगती का भी सम्बन्ध क्रमशः इन सात स्वरों के साथ है। इन्हीं से सम्बन्धित सात ऋषि और सात देवता भी हैं। ऋषियों में आग्निवेश्य, काश्यप, गौतम, आंगिरस, भार्गव, कौशिक तथा वसिष्ठ की गणना है। देवों में अग्नि, सविता, सोम, बृहस्पति, मित्रावरुण, इन्द्र तथा विश्वेदेव आते हैं। सात रंगों का सम्बन्ध भी छन्दों एवं स्वरों से जोड़ा जाता है। ये रंग क्रमशः सित, सारंग, पिशंग, कृष्ण, नील, लोहित और गौर हैं। सात छन्द पुनः सात-सात भागों में विभाजित हैं। इन विभागों के नाम हैं। आर्षी, दैवी, आसुरी, प्राजापत्य, याजुषी, साम्नी, आर्ची तथा ब्राह्मी।

---

[1] त्रीणिच्छन्दांसि कवयोवियेतिरे पुरुरूपं दर्शतं विश्वचक्षणम्।
अथर्व १८-१-१७

अक्षरों में स्वर, व्यंजन तथा अर्धस्वरव्यंजन तीन भेद हैं, पर वे स्थान के कारण कण्ठ्य, तालव्य, मूर्धन्य, दन्त्य, ओष्ठ्य, आनुनासिक तथा ऊष्म नाम के सात वर्गों में विभक्त हो जा जाते हैं। शरीर में सात धातुएं हैं, पर ये वात, पित्त तथा कफ तीन वर्गों के अन्तर्गत आ जाती हैं। रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा तथा शुक्र भी तीन-तीन प्रकार के हैं। समाज में ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य तीन भेद प्रमुख हैं। शूद्र तथा वैश्य दोनों का समावेश श्रम-प्रधानता तथा कलाकौशल्य के कारण एक विश में ही कर लिया जाता है। प्राचीन यूनान में भी मानवों के यही तीन विभाग थे: Philosophers (दार्शनिक), Warriors (योद्धा), तथा Artisans (शिल्पी)। ये तीन आगे चलकर सात जातियों में परिणत हो गये। परमाणु तीन प्रकार के हैं: सत, रज तथा तम, पर यही विकास क्रम में महत्तत्व, अहंकार तथा पञ्च-तन्मात्राओं के रूप में सात रूप धारण कर लेते हैं। महत्तत्व में सत् की, अहंकार में रज की तथा पञ्चतन्मात्राओं में तम की प्रधानता है।

काल को तीन भागों—भूत, वर्तमान तथा भविष्य—में विभक्त किया जाता है, परन्तु तीन प्रकार का भूत (पूर्णभूत, अनद्यतन तथा सामान्य), तीन प्रकार का भविष्य (सामान्य, संभाव्य तथा अनद्यतन) और एक प्रकार का वर्तमान मिलकर वह सात प्रकार का हो जाता है। शब्द तीन प्रकार के हैं:—संज्ञा, अव्यय और क्रिया। इन तीनों के भी सात सात भेद हैं। विभागों में तीन, चार तथा पांच के भेद भी पाये जाते हैं। शब्द के तीन भेदों में नाम संज्ञा है, आख्यात क्रिया है, उपसर्ग अव्यय है और निपात अनियमित शब्द-निर्माण को कहते हैं। इसी प्रकार चार वर्णों के साथ पंचम निषाद वर्ण भी माना जाता है। प्राण पंच प्रकार का है। पञ्चतन्मात्रायें तथा पंचमहाभूत प्रसिद्ध ही हैं।

सामान्यतः तीन और सात के भेद व्यापक हैं। सात पदार्थों के यदि तीन-तीन भेद किये जायं तो इक्कीस भेद हो जाते हैं, पर इनके भी परस्पर

हीन-सम-अधिक मात्रा में सम्मिलित होने से तथा चार और पाँच के वर्गों में विभक्त हो जाने से नाना रूप बन जाते हैं।

अथर्व वेद के निम्नांकित प्रथम मंत्र में इन्हीं तीन तथा सात अथवा ३ × ७ = २१ इस प्रकार के बलों को प्राप्त करने की प्रार्थना की गई है :

ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वारूपाणि बिभ्रतः।
वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वो अद्य दधातु मे॥

मन्त्र का ऋषि अथर्वा तथा देवता वाचस्पति है। सूक्त का नाम मेधाजनन है। वाचस्पति से प्रार्थना है कि वह तीन प्रकार के, सात प्रकार के अथवा इक्कीस प्रकार के बलों को, जो नानारूप धारण किये हुए चतुर्दिक भ्रमण कर रहे हैं, मेरे शरीर में स्थापित करे।

तीन प्रकार के बल स्थूल, मध्यम तथा सूक्ष्म हैं जिन्हें शारीरिक, प्राण-सम्बन्धी तथा मानसिक बल कहा जा सकता है। इन्हीं को तमोगुण-प्रधान आद्र्य का बल, रजो गुण प्रधान प्राण-क्रिया का बल तथा मनन-चिन्तन-प्रधान चेतना या विज्ञान का बल भी कह सकते हैं। इन्द्रियों में ज्ञान के प्रतिनिधि सप्तर्षियों की प्रतिष्ठा है। दो कानों में गोतम तथा भरद्वाज हैं। दो आंखों में विश्वामित्र और जमदग्नि हैं। दो नासिका रन्ध्रों में वसिष्ठ तथा कश्यप हैं। वाणी ही अत्रि ऋषि है।

इन्द्रियां भी अन्तः तथा बाह्य रूप से तीन प्रकार की है : कर्मेन्द्रियां ज्ञानेन्द्रियां तथा मन (अन्तःकरण)। इनके भी सात-सात प्रवाह हैं :

सप्तऋषयः प्रतिहिताः शरीरे सप्तरक्षन्ति सदमप्रमादम्।
सप्तापः स्वपतोलोकमीयुः तत्र जागृतो अस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ॥
(यजु० ३४-५५)

सात ऋषि ज्ञानेन्द्रियां हैं जिनका वर्णन ऊपर हो चुका है। सात कर्मेन्द्रियां दो हाथ, दो पैर, एक शिश्न, एक गुदा तथा एक जिह्वा या वाणी हैं। सात शीर्षण्य प्राण भी रक्षा का कार्य करते हैं, पर ये सोते नहीं। इन्द्रियों के प्रवाह

जब सुषुप्ति में रुक जाते या विश्राम करते हैं, तब प्राण तथा चैतन्यात्मा दोनों जगते रहते हैं। अथवा प्राण और अपान दो पहरेदार शरीर के द्वार पर बैठे रक्षा किया करते हैं।

अथर्व १९–५३–२ में सप्त चक्र तथा सप्त नाभि; २०-४७-२०, १३-२-८, १३-२-२१, ९-९-२ तथा १३-२-१८ (ऋ० १-१६४-२ तथा १-५०-८) में सूर्य-रथ के सप्त हरिताश्व, १५-१५-२ में सप्त प्राण तथा सप्त अपान, ५-१-६ (ऋ० १०-५-६) में कवियों द्वारा निर्मित सप्त मर्यादा, ८-९-१८ में सप्त होम तथा समिधा; १९-६-१५ (ऋ० १०-९०-१५ तथा यजु० ३१-१५) में सप्त परिधि, ९-९-६ में सप्त तन्तु; ऋग्वेद ९-११४-३ में सप्त दिशा, ऋ० १०-१२२-३ में सप्त धाम, १०-७२-९ में अदिति के सप्त पुत्र, ५-५२-१७ में सप्त सामर्थ्य, १०-२७-१५ में सप्तवीर, ९-८६-३६ तथा १०-५-५ में सप्त स्वसा, ८-६०-१६ (यजु० ३४-४) में सप्त होता, ३-४-५ में सप्त होत्र, १०-१०४-८ में सप्त दिव्य आपः (जल या प्रवाह) और ६-६१-१२ में सप्त धातु का उल्लेख आता है। इसी प्रकार त्रिकद्रुक, त्रिपाद, तीन पवित्र, तीन धाम, तीन मूर्धा, तीन अन्तरिक्ष, तीन अश्वी, तीन देव, तीन रयि, तीन प्रकार के बन्धुर; तीन सभ या सद्, तीन पुर, तीन सर, तीन आयु, तीन अग्रक, तीन अर्यमा आदि का उल्लेख भी वेद में हुआ है। तीन और सात का एक साथ उल्लेख भी कई बार हुआ है। ऋग्वेद १-१९१-१४ में त्रिः सप्त मयूरी, १-७२-६ में त्रिःसप्त गुह्य पद, १-१९१-१२ में त्रिः सप्त विष्पुलिंगक तथा १०-६४-८ में त्रिःसप्त ससस्रा नदियां वर्णित हैं।

अथर्व वेद का जो प्रथम मंत्र हमने पूर्व उद्धृत किया है उसमें बलों का वर्णन है। तीन प्रकार की वाणी और उसके तीन प्रकार के बल सामाजिक, मानसिक तथा आत्मिक हैं। शब्दों में बड़ा बल होता है। जहां वे अर्थ-सिद्धि करते हैं, वहां अनर्थ के भी जनक हैं। शब्द ही क्यों, सभी प्रकार के बल अपने उचित-अनुचित उपयोग में कल्याण-कारक एवं क्लेशकारक बन जाते

हैं। बल जहां पर त्राण करता है, वहां पर-पीड़न भी। मानवता बल के उचित प्रयोग में है।

शरीर में प्राण, मन और आत्मा का बल प्रमुख है। सात बलों में महत्तत्व या बुद्धि, अहंकार तथा पंचभूतों का बल आता है। यदि तीन सात के गुणा द्वारा इक्कीस बलों को लिया जाय तो उनमें पांच कर्मेन्द्रियां, पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच प्राण, अन्तःकरण चतुष्टय, श्रद्धा तथा वीर्य की गणना की जानी चाहिये। जीवात्मा इन्हीं २१ प्रकार के बलों द्वारा अपने समस्त व्यवहारों को सिद्ध करता है।

बलों का अनुभव और उनका प्रयोग सब के वश की बात नहीं है। सामान्य स्तर पर अपनी अनेक शक्तियों की अनुभूति तक मानव को नहीं होती। अनुभूति के अभाव में प्रयोग का प्रश्न ही नहीं उठता। सामान्य स्तर से ऊपर उठे हुए प्राणी जितना अधिक विकास की ओर उन्मुख होते जाते हैं, उतना ही अधिक वे शक्तियों से परिचित होकर उनका प्रयोग करने में समर्थ एवं कुशल बन जाते हैं। शक्ति-प्रयोग से पूर्व शक्ति-बोध का हो जाना अनेक दोषों को दूर कर सकता है।

छान्दोग्य उपनिषद् के सप्तम प्रपाठक या अध्याय के प्रारम्भ में नारद और सनत्कुमार का संवाद आता है जिसमें नाम (शब्दमात्र), वाणी (शब्दार्थज्ञान), मन (मननपूर्वक तात्पर्य ज्ञान), संकल्प (दृढ़ निश्चय), चित्त (चिन्तन), ध्यान (एकाग्र विवेचन), विज्ञान (स्पष्ट बोध), बल (ज्ञान को कर्म में परिणत करने का सामर्थ्य), बल के पांच स्रोतः अन्न, जल, तेज, वायु[1] तथा आकाश, स्मृति (विगत अनुभव-भण्डार), आशा (भावी उपलब्धियों में विश्वास), प्राण (क्रियाशक्ति को अभिनव रूप देने वाला तत्व), मति (समग्र, सत्य ज्ञान को प्राप्त करने का साधन), श्रद्धा (परसत्ता में पूज्य बुद्धि), निष्ठा (गन्तव्य, लक्ष्य या केन्द्र में एकान्तस्थित हो जाना), भूमा (अखण्डता या समग्रता की अनुभूति) और आत्मदर्शन का अन्योन्य

[1] उपनिषद में नहीं है, परन्तु होना चाहिये।

अपेक्षया उत्कर्ष वर्णित हुआ है। एक से दूसरा बलवत्तर है या महान है। इनसे मानव महत्ता बढ़ती है। इन महत्तावर्धकों की संख्या भी इक्कीस है। ये भी निश्चित रूप से बल हैं जिनके प्रयोग द्वारा आत्मोत्थान या आत्मोपलब्धि जैसी सिद्धियां हस्तगत होती हैं।

मन्त्र में इन बलों को धारण करने की जो याचना है, वह मंत्र के ऋषि अथर्वा की भी विशिष्टता कही जा सकती है। बलवान व्यक्ति ही अथर्वा बन सकता है। निर्बल व्यक्ति तो पद-पद पर कांपता है। निष्कम्प अविचल, निर्भय, क्षोभ-रहित, निर्मोह, अशोक अवस्था बलवान व्यक्ति को ही प्राप्त होती है। सूक्त के प्रारम्भ में मेधाजनन शीर्षक दिया हुआ है। मेधा बुद्धि का वह उच्च स्तर है जो मनन किये हुए को पचा देता है, अपना बना देता है, संगी और साथी कर देता है। यदि बल पच गये, मेरा अंग बन गये, तो वे मेरे हैं, मेरे साथ अभिन्न हैं। बलों की यह अभिन्नता भी अविचलता की सूचक है। जो पराया है, वह भागा-भागा फिरता है, मेरे साथ एक नहीं हो पाता। जो मेरा है, वह मेरे साथ है, मुझसे सम्बद्ध है, मेरे साथ एक है। आत्मा की मूलावस्था भी ऐकात्म्य में ही है। विचलन, थर्वन, कम्पन मूल स्वरूप से हटने पर उत्पन्न होते हैं। जो केन्द्रस्थ हो गया, मूल में समा गया, आत्मा के साथ एक हो गया, वही बलवान है, वही शक्तिशाली है। बल और बलवान, शक्ति और शक्तिमान, अङ्ग और अङ्गी मूलतः एक हैं। बल जब शरीर में भिद गये तो शरीर वज्र बन गया। इस अवस्था में बलों को भी स्थान प्राप्त हुआ और बली को अपना स्वत्व मिल गया।

बल चारों ओर भ्रमण कर रहे हैं। आवश्यकता है उनको आहूत करने, बुलाने की। आह्वान की यह योग्यता जहां है, वहीं बल उपस्थित हो जाते हैं। ये बल तीन प्रकार के हैं, सात प्रकार के हैं, इक्कीस प्रकार के हैं और विविध रूप वाले हैं—अनन्त हैं। प्रभु अनन्त हैं। वे अपने अनन्त सामर्थ्यों से हमें भी अनन्त शक्तिशाली बनावें। यही याचना है, यही अभ्यर्थना है।



है, अवरोधक है, अपनयन करने वाला है। जीवन में मित्र प्राण है तो वरुण अपान है। एक शक्ति का आधायक है तो दूसरा दोषों को दूर करने वाला। मित्र और वरुण, प्राण और अपान दोनों मिलकर जीवनचर्या को सुखद बनाते हैं। दोनों में से एक का भी अभाव हो गया, तो जीवन किरकिरा हो जायगा। उसमें आपको कोई रुचि न रहेगी। दोष बढ़ते गये, मल इकट्ठा होता गया, तो बड़े से बड़ा प्राणवान व्यक्ति भी सहसा मृत्यु की आखेट बन जायगा। वह जीवन की अवधि को लम्बा करने के स्थान पर घटा लेगा। दोष निकलते रहें, कूड़ा-करकट छूटता रहे, जीवन के बाधक वारित होते रहें, तो जीवन-अवधि सामान्य परिस्थितियों में भी दीर्घ बनाई जा सकती है, परिस्थितियाँ पोषक हों, तब तो कहना ही क्या है?

यात्रा की सफलता के लिये मंत्र में जिस तीसरे सम्बल का उल्लेख हुआ है, वह पोषक सामग्री से ही सम्बन्ध रखता है। यह सामग्री है पथ्य = पथ के योग्य, रेवति = धन। धन अनेक प्रकार के हैं, पर जो धन पथ्य या हितकारी हो, जिसके सेवन द्वारा पथ की यात्रा करने में सुविधा एवं सुगमता का अनुभव हो, जो शरीर का पोषण करे और यात्रा को सुखद बनावे, वही धन पथ्य, हितकर तथा रमणीय है। धनों में से हमें ऐसे ही धन को चुनकर अपने साथ रखना और उसका उपयोग करना है। पापीयान् धन पथ से ही च्युत कर देता है। अतः चुनाव तो पवित्र लक्ष्मी का ही करना है और लक्ष्मी ऐसी भी हो जो निरन्तर प्रयोग में आती रहे। जो धन गाँठ में ही बंधा रह जाता है, जिसका उपयोग नहीं हो पाता, वह प्रवाह-हीन जल की भाँति सड़ांद पैदा करने लगता है। ऐसा धन जहाँ आवश्यक हो, उपयोगी प्रयोग में लगा दिया जाय, तो श्रेयस्कर होता है। अपनी यात्रा के लिये जो धन उपयोगी एवं आवश्यक है, उसी को अपने साथ रखना चाहिये। स्वस्तिमती सम्पदा पथ्य है। शेष सब अपथ्य है। यज्ञिय धन ही हमारा कल्याण करता है।

मंत्र में चौथी बात इन्द्र के कल्याणकारी स्वरूप की है। इन्द्रियां इन्द्र की

शक्ति हैं, इन्द्र मन है। फिर वाह्यकरण तथा अन्तःकरण इन्द्र के करण हैं, इन्द्र आत्मा है। यहां इन्द्र से तात्पर्य जीवन-यात्रा के समर्थ-साधन से है। यात्री तो आत्मा ही है। उसका साधन मन तथा इन्द्रियां ही हैं। ये साधन कल्याणोन्मुख हों। मन अपनी प्रजा इन्द्रियों में यज्ञ है, पूजनीय है। वह शिव स्वरूप हुआ, तो इन्द्रियां भी शिवत्व की साधिका बन जायंगी। इसके संकल्प अशिव हुए, तो इन्द्रियां भी विपथगामिनी बनकर आत्मा को लक्ष्य से भ्रष्ट कर देंगी। कठोपनिषद् में रूपक द्वारा आत्मा को रथी, शरीर को रथ, बुद्धि को सारथी, मन को प्रग्रह अर्थात् लगाम और और इन्द्रियों को अश्व माना गया है। आत्मा का लक्ष्य है अभ्युदय तथा निःश्रेयस का सम्पादन। अभ्युदय का अर्थ है यहां विषय-वासना की तमिस्रा से जागरण और निःश्रेयस का अर्थ है परमात्म-प्राप्ति रूपी कल्याण की उपलब्धि। आत्मा इस यात्रा में सोने या प्रमाद में पड़ने के लिये नहीं आया है। उसे जागरूक रहना है, नभ में अभ्युदय करना है। आत्मा सो गया, तो यात्रा का अन्त कहां ? 'उदीर्ष्व जीवो' वेद कहता है, 'जीवात्मा उठ'। 'सुपर्णोऽसि' तू सुन्दर पंखों वाला है। उदित होकर अपने प्राणापान तथा ज्ञानकर्म के पंखों द्वारा उड़। तू हंस है। पंखों को फड़फड़ाता हुआ अपनी यात्रा पर चल दे। तुझे स्वर्ग जाना है। प्रभु ने तुझे साधन दिये हैं। इन साधनों का सदुपयोग कर। शरीर रूपी रथ में तू बैठा हुआ है। बुद्धि रूपी सारथी तेरे पास है। इस सारथी के हाथ में मन रूपी लगाम है जिसमें इन्द्रियां अश्व के समान न थी। इन्हें विषयों की ओर मन जाने दे। विषय तो पतयालु हैं, तुझे उत्थान करना है। सारथी ने यदि लगाम ढीली कर दी, मन स्वतंत्र या उच्छृङ्खल हो गया, तो इन्द्रियां भी गड्ढे में गिरेंगी और उनके साथ रथ तथा तू भी। अतः अपने साधनों का उचित उपयोग करना चाहिये। यजुर्वेद के ३४ वें अध्याय में मन को सारथी का ही रूप दिया गया है। मन वस्तुतः माध्यम है जिसके बल पर इन्द्रियां अपने अपने कार्यों में निरत होती हैं। हमारी बुद्धि पाप से पृथक रहे, मन शिव संकल्पशील बने, तो इन्द्रियां सत्पथ पर प्रयाण अवश्य करेंगी। अतः यात्रा

की सफलता इन साधनों की पवित्रता पर ही अवलम्बित है। इन्द्र की शक्ति यदि शुद्ध है, उसकी शची पतिव्रता है, तो स्वस्तिमती सिद्धि भी हाथ बांधे आगे खड़ी रहेगी।

पांचवां साधन आग्नेयता अथवा प्राणवत्ता है। अग्नि का अर्थ है अग्रेनयति—आगे ले जाने वाला तत्व। इन्द्रियों में प्राण ही श्रेष्ठ है, ऐसा उपनिषदों में कई बार कहा गया है। प्राण ही अग्नि है। यही आगे ले जाता है। 'प्राणो वा उत्थम्' प्राण ही उत्थान करने वाला है। जब सब सो जाते हैं—इन्द्रियों के कर्म तथा ज्ञान-साधन के कार्य बन्द हो जाते हैं, मन तथा बुद्धि भी सुषुप्ति में निष्क्रिय पड़े रहते हैं, तब प्राण ही अकेला जागता है। वही पहरेदार बना हुआ समस्त शरीर-संभार की देखभाल तथा रक्षा करता है। यह आग्नेयता, यह प्राणवत्ता, यह निःस्वार्थ सेवाभावना जिस यात्री के पास है, वह सौभाग्यशाली है। अग्नि या प्राण के रहते सब देव शरीर में रहते हैं, उसके निकलते ही सब निकल जाते हैं। देवों के इस गोष्ठ को क्रियाशीलता प्राण के कारण ही प्राप्त होती है। प्राण ही देवों को उनका आहार देता है। शारीरिक अङ्गों का संचालन प्राण पर ही आश्रित है। रस-रक्त का संशोधन यही करता है। ऐसा सेवक आत्मा को प्राप्त है। आवश्यकता है, इस सेवक से उचित कार्य लेने की। योगी प्राण के संयम द्वारा ही कुण्डलिनी की साधना करते हैं जो सुषुम्ना नाड़ी द्वारा आज्ञा चक्र को पार करती हुई सहस्रार चक्र तक जाती है और आत्मा के नन्दन वन का उद्घाटन करती है। 'मरुद्भिः इन्द्र सख्यं तेऽस्तु'। प्राणों को सखा बना कर आत्मदेव असुरों का पराभव करते हैं तथा दिव्य शक्तियों को विजयिनी बनाकर स्वर्ग की रक्षा करते हैं। वेद इसीलिये कहता है : मेरी अग्नि, मेरा प्राण कल्याणकारी हो।

यात्रा की सफलता के लिये अन्तिम शरण है अदिति माता की गोद, प्रज्ञा का प्रकाश, अखंड ज्योति का नैरन्तर्य। यदि मेरे मित्र और वरुण, प्राण और अपान, मानप्रद और विघ्न-निवारक तत्त्व ठीक काम कर रहे हैं, यदि मेरी हितकारी सम्पदा मेरे कल्याण में प्रयुक्त हो रही है, यदि मेरे मन और प्राण

की अवस्था स्वस्थ है, शिव-संकल्प, विशद विचार एवं भद्र भाव के साथ मेरी प्राणवत्ता प्रबल है, तो अदिति माता की कल्याणकारिणी क्रोड भी प्राप्त हो ही जायगी। इस क्रोड में पहुंचते ही, आश्रय पाते ही, विभक्ति दूर होगी और अभिभवानी प्रसन्न होकर अखंड, अविभाज्य, विशोका एवं मधुमती भूमिका का प्रसाद वरदान के रूप में प्रदान करेंगी। अदिति की गोद ही पीयूषप्रदायिनी है। बहुत्व में, नानात्व में आत्मा ने जो रमण किया था, वह विषाक्त था। केन्द्रच्युति ही विष है और केन्द्रस्थ होना ही अमृत है। परिधि की ओर चलने में विभक्ति है, विभाजन है, केन्द्रोन्मुख होने में एकत्व है। विभक्ति में मोह और शोक के पाश हैं, आवरण हैं, केन्द्र के एकत्व में मोक्ष है। प्रकृति की विकृति ही तो जगत है और अपनी स्वरूपता से हटना, अनवस्थित होना ही तो संसार है। अब विकृति प्रकृति में परिणत हो गई, तो दिति अदिति बन गई, विभक्ति भक्ति बन गई और अपने स्वरूप में अवस्थित होते ही विभाजन के बहुत्व एवं निरय के नानात्व का अन्त हो गया। प्रज्ञा के पट खुलते ही आत्मवत्ता का दर्शन है, अदिति के अखंड प्रकाश के उदय होते ही स्वस्ति एवं शान्ति की रमणीयता है, केन्द्रस्थ होते ही कल्याण है।

मित्र, वरुण, पथ्यारेवती, इन्द्र, अग्नि और अदिति के छः सोपान जीवनयात्रा के लक्ष्य की सिद्धि कराने वाले हैं। जिसे ये प्राप्त हो गये, उसे मानों सब कुछ प्राप्त हो गया। जैसे सीढ़ियों पर चढ़ कर हम छत पर या अपने उच्च कक्ष में पहुँच जाते हैं, वैसे ही इन छः सोपानों को पार करके हम आत्मोपलब्धि करते हैं। प्रभु आत्मदा हैं, बलदा हैं। वे ही शक्ति देते हैं और वे ही आत्मज्ञान कराते हैं और वे ही मृत्यु से हटा कर अमरत्व में प्रतिष्ठित करते हैं। देव उनकी आज्ञा के अनुवर्ती हैं। हम भी उनकी आज्ञा का पालन करें जिससे उनकी छत्रछाया में जीवन व्यतीत करते हुए उन्हीं के सालोक्य, सामीप्य एवं सायुज्य को प्राप्त कर सकें और अनुभव कर सकें 'त्वम् अस्माकं तवस्मसि ।'



स्वस्ति पन्था

मार्ग तो यहां बहुत हैं : कुछ सीधे हैं, कुछ टेढ़े, कुछ नीचे हैं, कुछ ऊंचे। कुछ मार्ग ऐसे हैं जो शरीर में ही स्थित करने वाले हैं, भौतिकता में ही रमाने वाले हैं, कुछ गृहस्थी से बाहर झाँकने नहीं देते, कुछ प्राणवत्ता या बल का सम्पादन कराने वाले हैं और कुछ ऐसे भी हैं जो ज्ञान-विज्ञान की ओर ले जाते हैं। इनमें स्वस्तिपन्था, कल्याणकारी मार्ग कौन सा है? कौन सा पथ है वह जिस पर चलकर हम स्वस्ति = सु अस्ति = शोभन सत्ता को प्राप्त कर सकते हैं?

निम्नांकित ऋचा में स्वस्तिपथ के पथिक की अन्तःभावना अभिव्यक्त हुई है :—

स्वस्तिपन्था मनुचरेम सूर्याचन्द्रमसाविव ।
पुनर्ददताऽघ्नता जानतासंगमेमहि ॥
(ऋ० ५-५१-१५)

प्रभो! हम स्वस्ति पथ पर चलें, जैसे सूर्य और चन्द्रमा चलते हैं। हम पुनः दानी, अहिंसक तथा ज्ञानी की संगति में रहें। यहां पुनः शब्द ध्यान देने योग्य है। यह सूचित करता है कि हम अपनी वर्तमान स्थिति से पूर्व दानी, अहिंसक तथा ज्ञानी की संगति में रह चुके हैं। वह संगति हमें पुनः प्राप्त हो, क्योंकि आज हम इसे खो बैठे हैं।

दान, अहिंसा तथा ज्ञान में प्रभु से बढ़कर तो यहां अन्य कोई भी नहीं है। प्रत्येक जीवात्मा अपनी मूल दशा में प्रभु की ही संगति में रहने वाला है। प्रभु से वियुक्त होकर ही वह कृपणों, हिंसकों तथा अज्ञानियों का सहवास प्राप्त करता है। संसार में अधिक संख्या ऐसे ही व्यक्तियों की है। इन्हीं की संगति जीवात्मा को दुर्दिन दिखाती है और अपने निकटस्थ, नेदिष्ट प्रभु को वह विस्मृत कर बैठता है। प्रभु के अतिरिक्त यहाँ ऐसे प्राणी भी हैं जो प्रभु

की संगति करने वाले हैं, उसके सामीप्य के अभिलाषी हैं तथा उसी की ओर चले भी जा रहे हैं। प्रभु का संपर्क इन्हें भी दानी, अहिंसक तथा ज्ञानी बना देता है। 'जैसा होवे साथ, वैसा आवे हाथ'—की उक्ति सर्वांशतः सत्य है।

प्रभु की दिया हुआ तो यहां सब है ही, पर इस दान से धनी बनकर जो यहां धन का सदुपयोग करता है, दक्षिणा देता है, अपने को पुष्ट करने के साथ ही जो दीनों को भी तुष्ट करता है, अपने को हृष्ट करने के साथ ही जो विपण्णों को भी प्रसाद की विशिष्टता देता है, जिसकी ओर भेष्ट भी आकृष्ट होते हैं और समीप आते ही भ्रष्ट भी उत्तिष्ठ हो जाते हैं, वह निस्संदेह मंहिष्ठ है, पूजनीय है। वेद कहता है :—दक्षिणावतामिद् इमानि चित्रा दक्षिणावतां दिवि सूर्यासः। दक्षिणावन्तः अमृतं भजन्ते, दक्षिणावन्तः प्रतिरन्त आयुः। (ऋ० १-१२५-६)

दान देने वालों के लिये विश्व की समस्त चित्रमयी अद्भुत सामग्री है, प्रकट एवं अप्रकट धन है। यही नहीं, द्यौ लोक की ज्योतियां, दैवी विभूतियां स्वर्गीय ऐश्वर्य, प्रेरणा और सृष्टि-शक्ति सब उसे प्राप्त होते हैं। दान देने वाले अमृत के भागी बनते हैं। उनकी आयु बढ़ जाती है।

स इद् भोजो यो गृहवे ददाति अन्नकामाय चरते कृशाय।
अरमस्मै भवति यामहूता उतापरीषु कृणुते सखायम्॥
(ऋ० १०-११७-३)

भोज या धन उसी का सार्थक है जो अन्न की कामना से घूमते हुए कृश भिक्षुक को दान देता है। ऐसा दानी व्यक्ति समय पड़ने पर जिसका आह्वान करता है उसकी उपस्थिति दानी को अलंकृत कर देती है अर्थात् उसका यह लोक तो बनता ही है, परलोक में भी वह अपने सहायक मित्रों को प्राप्त कर लेता है। विश्वहित में दान करने वाले व्यक्ति को धन का अभाव कभी नहीं खटकता। प्रभु उसे मालामाल करते रहते हैं :—सुन्वानाय इन्द्रो

ददाति आयुवं रयिं-ददाति आयुवम्। ऋ १-१२३-७ अथ० २०-६७-१ नवा-उद्वेवा—उतारयिः पृणतो नोपदस्यति। ऋ० १०-११७।

अहिंसा का अर्थ वैर त्याग है। मैं किसी की हिंसा न करूं, किसी से द्वेष न करूं, मेरे अन्दर से द्वेषभाव सबका सब समाप्त हो जाय—ऐसी प्रार्थना वेद में अनेक बार आती है। यथा—भिन्धि विश्वा अप द्विषः। (ऋ० ८-४५-४० अथ २०-४३-१)। सनः पर्षदति द्विषः। (ऋ० १०-१८७-१ से ५ तक अ० ६-३४-१ से ५ तक)। 'स सुत्रामा स्ववाँ इन्द्रो अस्मे आराच्चिद् द्वेषः सनुतर्युयोतु।'[1] (ऋ० ६-४७-१३, १०-१३१-७, अथर्व ७-९२-१, २०-१२५-७ यजु० २०।५२)। माऽ अहं द्विषते रधम्। (ऋ० १-५०-१३)। विश्वा द्वेषांसि प्रमुमुग्ध्यस्मद्। (ऋ० ४-१-४ यजु० २१।३)। आरे देवा द्वेषोऽस्मद्। (ऋ० १०-६३-१२)। प्रभु ! आप ही सुत्रामा हैं, त्राण करने वाले हैं, फिर *मैं अपने त्राण के लिये हिंसा या द्वेष का सहारा क्यों लूं ? आप मेरे अन्दर से* द्वेष को निकालकर बहुत दूर फेंक दीजिये। मैं किसी द्वेषी के वशीभूत न बनूं। द्वेषी का वार मेरे ऊपर तभी सफल हो पाता है जब द्वेष के बदले में मैं भी उससे द्वेष करने लगूं। यदि क्रिया की प्रतिक्रिया मेरे अन्दर नहीं होगी, तो मैं सुरक्षित रहूँगा, द्वेष के अधीन न बनूंगा। और यदि किसी के द्वेष का उत्तर मैं द्वेष से ही देता हूँ, अपनी ओर से तो मैं किसी से द्वेष नहीं करता, किन्तु प्रतिशोध रूप में यदि मैं भी द्वेषी से द्वेष करने लगता हूँ, तो प्रभो ! आप ही सम्हालिये, मेरा द्वेष उस द्वेषी के कारण है, अतः उस द्वेषी को मैं आपके न्याय रूपी दंष्ट्राओं में रखता हूँ'। मेरे अन्दर निहित द्वेषभावना मुझसे दूर हो जाये। 'इदमित् श्रेयो अवसानमागां शिवे मे द्यावा पृथिवी अभूताम्। असपत्ना प्रदिशो मे भवन्तु न वै त्वा द्विष्मोऽभयं नो अस्तु। (अथर्व १९-१४-१) अच्छा तो यही है कि मैं किसी से द्वेष न करूं और यदि द्वेष का आरम्भ प्रतिक्रिया या अन्य किसी कारण से हो गया है, तो मैं उसे आरम्भ होते ही समाप्त कर दूँ। ऐसा होने पर द्यौ तथा पृथ्वी मेरे लिये कल्याणस्वरूप हो सकेंगे।

---

[1] योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः।

समग्र दिशायें मेरे लिये असपत्न, शत्रुभावरहित हो जायगीं। मैं द्वेष नहीं करता, अतः सर्वत्र मेरे लिये अभय ही अभय है। अन्य तो मेरी ओर से निर्भय हैं ही।

हिंसा निर्बल का अस्त्र है। उससे हिंसक की अशक्ति प्रकट होती है। जो जितना ही अधिक सबल है, वह उतना ही अधिक अहिंसक है। बलवान से सभी मित्रता करना चाहते हैं। अतः हम यदि बलवान बनें, तो न हमें किसी से द्वेष करना पड़े और न कोई हमसे द्वेष करे। इस सम्बन्ध में भी प्रभु ही हमारे आदर्श हैं। ज्ञानी तो उनके समान कोई है ही नहीं, बलवानों में भी वे शिरोमणि हैं। अतः वे अनुपम अहिंसक भी हैं। अहिंसा में ही उनका चारु स्वरूप प्रकट होता है। जो व्यक्ति अहिंसक है, उसके अन्दर भी प्रभु के सौन्दर्य अथवा चारुत्व की झलक आ जाती है।

सुपथ के लिये तीसरी बात ज्ञान की है। ज्ञानियों की संगति करने से प्रकाश प्राप्त होता है जो पथ को प्रशस्त बनाता है। पथ का ज्ञान और पथ पर प्रयाण दोनों ही ज्ञानी के सत्संग का फल हैं।

तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम्॥
तद्विप्रासोविपन्यवो जागृवांसः समिन्धते। विष्णोर्यत् परमं पदम्॥
(ऋ० १-२२-२०,२१। साम १६७२,७३)

ज्ञानी भक्त सर्वव्यापक प्रभु के परम पद का दर्शन करते हैं उसी रूप में जिस रूप में सूर्य द्यौ लोक में प्रकाशित हो रहा है। जागरूक बने हुए, प्रभु की स्तुति में लीन ज्ञानी प्रभु के परम पद को प्राप्त करते हैं। जो प्रभु का निकटवर्ती है, उसका सत्संग ज्ञान की किरणें प्रदीप्त करेगा जिससे प्रकाशित होकर अन्तःकरण निर्मल बनेगा और हम भी दैवी ज्योति में स्नात होने का अवसर प्राप्त करेंगे। 'त आदित्या अभयं शर्मयच्छत'—ज्ञान-निधान आदित्य देवों की कृपा से हम निर्भय बनेंगे तथा हमें सुख प्राप्त होगा।

देवों के इस सत्संग में दान, अहिंसा, निर्भयता, सुख तथा ज्ञान का जो

प्रसाद प्राप्त होगा, उससे श्रद्धा एवं चरित्रनिष्ठा की उत्पत्ति होगी। दीक्षित और व्रती बनकर हम पुण्य पथ पर उसी प्रकार चलने लगेंगे जिस प्रकार सूर्य और चन्द्र चल रहे हैं। जिस कक्षा वृत्त पर ये भ्रमण करते हैं, वह निश्चित है। हमारा पथ भी प्रभु के प्रदीप में निर्दिष्ट हो जायगा। फिर न संसार का राग रहेगा, न रोग। अघ के स्थान पर पुण्य का उदय होगा जो अभीष्ट की प्राप्ति को निकट खींच लायगा।

अरिष्टः स मर्तो विश्व एधते प्र प्रजाभिर्जायते धर्मणस्परि।
यमादित्यासोनयथा सुनीतिभिरति विश्वानि दुरिता स्वस्तये॥
(ऋ० १०-६३-१३)

ज्ञानी देव जिसे सुपथ पर लगा देते हैं, वह कल्याण का भाजन बन जाता है। वह समस्त दुरितों, पापों को अतिक्रान्त कर जाता है। वह धर्म-परायण बनता है, विश्व में सुख-सम्पदा-समृद्धि से वर्धमान होता है और प्रजाओं से, सन्तति तथा ज्ञान-प्रभवों से, प्रकृष्टतया प्रकट होता है।

यं देवासोऽवथ वाजसातौ यं शूरसाता मरुतो हिते धने।
प्रातर्यावाणं रथमिन्द्र सानसिमरिष्यन्तमा रुहेमा स्वस्तये॥
(ऋ० १०-६३-१४)

वाज, बल और ज्ञान की प्राप्ति में ज्ञानी देव जिसकी सहायता तथा रक्षा करते हैं और हितकारी धन की प्राप्ति में वीरों के साथी मरुत देव जिसका साथ देते हैं, वह कभी नष्ट न होने वाले उस रथ पर जा बैठता है जो इन्द्र के ऐश्वर्य को प्राप्त कराने वाला है और जो जीवन में नवीन प्रभात ले आता है।

विश्वं तद् भद्रं यदवन्ति देवाः। बृहद्वदेम विदथे सुवीराः॥
(ऋ० २-२३-१९, २-२४-१६ यजु० ३४-५८)

देव जिसकी रक्षा करते हैं, जिस पर अपना वरद हस्त रखते हैं, वह समस्त कल्याणों का भाजन बन जाता है। हम सुवीर, सुन्दर सन्तति एवं कृति

से युक्त बनकर इन देवों के यश का, ज्ञान यज्ञ तथा कर्मयज्ञ में, बहुत बहुत गान करें।

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठान्ते नम उक्तिं विधेम॥
(ऋ० १-१८९-१ यजु ५।३६,७।४३,४०।१६)

हे प्रकाशस्वरूप प्रभो! हमें उसी सुपथ से ले चलो, जिससे सर्वश्रेष्ठ ऐश्वर्य, मोक्ष की प्राप्ति हमको हो। आप समस्त कर्मों के ज्ञाता हैं, सबके अध्यक्ष और साक्षी हैं। हमें सरल, सुगम, प्रशस्त पथ पर लगा दो। जो कुछ कुटिलता रूप पाप अवशिष्ट हो, उसे हमारे अन्दर से निकाल दो। ऐसी कृपा करो कि हम आपकी शरण ग्रहण कर सकें, भक्तिभाव पूर्वक आपके सम्मुख प्रणत हों। हमारे अनेकशः भावगद्‌गद, श्रद्धाभरित प्रणाम आपको प्राप्त हों। 'सुगानः कर्त सुपथा स्वस्तये।' कल्याण के लिये हमारे सुपथ को सुगम बना दो। 'मा प्रगाम पथोवयं मा यज्ञादिन्द्र सोमिनः। मान्तःस्थुर्नो अरातयः।' (ऋ० १०-५७-१ अथर्व १३-१-५९) इस पुनीत पथ से हम कभी विचलित न हों। हम सदैव सोम का सवन करते रहें, भक्ति पूर्वक आपके चरणों में प्रणत होते रहें और यज्ञ का परित्याग न करें। आपकी पूजा, संगतिकरण तथा भजन करते हुए, त्यागभाव से जीवन-यापन करते हुए, अन्तःकरण में अरातियों, अ-दान-वृत्तियों रूप शत्रुओं के स्थान पर वरणीय दिव्यता का वरण करते हुए हम आपके समीप बने रहें। 'अदीनाः स्याम शरदः शतम्—आपके सान्निध्य से ही हमारे अन्दर अदीनता, निर्भयता का संचार हो सकेगा। दीनता कर्तव्यपथ से पृथक करने वाली है, अदीनता से अच्युत भाव का जागरण होता है। आपकी छाया, आपकी शरण हमें अदीन बनावे।

स्वस्ति पंथा दान का, अहिंसा का, ज्ञान का पथ है, भक्तिभावना पूर्वक प्रभु के समीप पहुँचने का पथ है, निर्भयतापूर्वक काम, क्रोधादि अन्तः शत्रुओं के निष्कासन का पथ है, कुटिलता के निराकरण तथा सरलता के वरण का

पथ है, प्रभु के संदर्शन में जीवन व्यतीत करने का पथ है, अपनी बुद्धि को ईश्वर के चरणों में समर्पित करने का पथ है, ईश्वर की प्रसन्नता में प्रसन्न रहने का पथ है। यह पथ दिव्य रथ है, यज्ञिय नौका है जिस पर पैर रखते ही निश्चिन्तता का साम्राज्य छा जाता है। फिर हृदय की गांठ खुल जाती है, कष्टों की कसक और क्रन्दनों की कराह निकल भागती है, संशय छिन्नभिन्न हो जाते हैं तथा कर्म-कलाप अपने कुत्सित विपाक को समाप्त कर देते हैं।

प्रभो! इस राह पर मुझे भी लगा दो, इस सुपथ पर मुझे भी खड़ा कर दो, इस दिव्यरथ पर मुझे भी चढ़ा लो, इस यज्ञिय नौका में मुझे भी स्थान देदो। आपका प्रश्रय पाकर मैं भी सुखी हो सकूंगा। जन्म जन्मान्तरों में निर्ऋति के घोर कष्टों को भोगता हुआ आज तुम्हारी शरण आया हूँ। आपकी शरण चरम शर्म की प्रदात्री है। वह विशद वर्म है जिस पर किसी शत्रु का आघात असर नहीं कर सकता। आपकी यह विशाल शरण मुझे भी प्राप्त हो जो स्वस्ति, स्ववंत, ज्योति एवं अभय का दान देने वाली है। विघ्नव्यूह इसके आगे वैसे ही फट जाता है जैसे सूर्य के आगे मेघमाला। ऐसी आनन्दप्रद शरण को छोड़ कर मैं और कहां जाऊं? हे, तेजस्विन्, प्रतीपपथ पर चलते चलते, पथभ्रष्ट होते होते बहुत दिन हो गये। अब अपने स्वस्ति पंथ का आश्रय दो। मुझ दीन के नाथ, मुझ पतित के उद्धारकर्त्ता, मुझ कुपथी के सुपथ, मुझ निर्बल के बल, मुझ च्युत को अच्युत बनाने वाले, एक मात्र आप हैं। आप ही वरेण्य शरण्य हैं। प्रभो, शरण दो। इसके अतिरिक्त और कोई सुपन्थ नहीं है। इस सुपथ में अन्य समस्त सुपथों का समावेश है। आप ही, आप ही, आप ही। प्रभुवर, आपही, एक मात्र आप ही।



स्वस्ति तथा शान्ति

यहां संघर्ष है, पग-पग पर पल-पल में संघर्ष है। व्यक्ति-व्यक्ति में संघर्ष है, वर्ग-वर्ग में संघर्ष है, समाज-समाज में संघर्ष है, राष्ट्र-राष्ट्र में संघर्ष है, संघर्ष की आशंका राष्ट्रों के गुट निर्माण कर रही है, पर यह संघर्ष प्राणी-वर्ग तक ही सीमित है, प्राकृतिक क्षेत्र में यह संघर्ष दिखाई नहीं देता। वहां द्यौ शान्त है, अन्तरिक्ष शान्त है, पृथिवी शान्त है, जल शान्त है, ओषधि-वनस्पतियां शान्त हैं, विश्वेदेव शान्त हैं, ब्रह्मशान्त है—अशान्त है तो यही एक प्राणी-वर्ग। प्राणियों में मनुष्य ही नहीं, पशु-पक्षी तक अशान्त हैं। इस अशान्ति में स्वार्थों का संघर्ष निहित है। कहावत है :—'बांभन कुत्ता नाऊ-जाति देखि गुर्राऊ'—जिसका प्रमुख आधार स्वार्थ है। एक कवि को दूसरे कवि के पास डेढ़ सेर सोना देख कर ईर्ष्या हो उठी। राजस्थान में त्याग का धन (विवाह समय की दक्षिणा) लेते समय चारणों की जो दशा होती है, उसने त्याग न लेने के लिये चारण-सभा से प्रस्ताव पास कराया। एक श्वान दूसरे श्वान को पत्तल चाटते देखता है, तो भौंकता हुआ उस पर जोर से झपटता है। एक नापित भी अपने यजमान के पास दूसरे नापित को जाते देख शंकाकुल हो जाता है। यह सब होता है—चंद ठीकरों के लिये, केवल दो रोटियों के लिये। मुझे खाने को मिले, दूसरे को मिले चाहे न मिले—इस वृत्ति ने ब्राह्मण आदि को ही नहीं, समग्र मानवों को और मानव ही नहीं, समग्र प्राणियों को संघर्ष-रत कर दिया है, एक दूसरे का जानी-दुश्मन बना दिया है। आज जिधर देखो उधर ही समग्र विश्व पर इस प्रवृत्ति का प्रहार हो रहा है।

राष्ट्रीय धरातल पर देखिये तो सबल राष्ट्र निर्बल राष्ट्रों को अपने प्रभाव में रखना चाहते हैं। द्वेष रखते हैं सबल राष्ट्र, पर उनके साथ पीसे जाते हैं

निर्बल राष्ट्र। रोटी का संघर्ष अपना रूप बढ़ा कर यहाँ प्रभाव-संघर्ष बन जाता है। एक चाहता है, मेरी बात रहे, मेरा प्रभाव रहे, मेरी पद्धति चले, दूसरा स्वभावतः इसका विरोध करता है। अमरीका, अफ्रीका, औस्ट्रेलिया आदि में यूरोपीय जातियों ने पहले तो वहाँ के मूल निवासियों को अपने लिये भूमि प्राप्त करने के लिये मारा, फिर आपस में भी झगड़ने लगे। इस रक्तपात के पीछे भौतिक समृद्धि की छीना-झपटी ही तो थी। यद्यपि इस समृद्धि के रूप भिन्न-भिन्न हैं—धन, भूमि, व्यापार, प्रभाव आदि, तथापि वे मानव को एक समान हिंस्रवृत्ति से ओतप्रोत कर देते हैं। मानवता का अंचल इससे कितना मलिन, कितना कलंकित हो चुका है और अभी कितना और दूषित होगा, कौन जाने। पहले युद्ध होते थे, मानवता को उज्ज्वल रखने के लिये, सदाचार संरक्षण के लिये, पतितोत्थान के लिये, नारी-संत्राण के लिये, दस्युता के दमन तथा दिव्यता की प्रतिष्ठा के लिये। अब युद्ध होते हैं स्वार्थ—सिद्धि के लिये, प्रभाव की वृद्धि के लिये। किसी की भूमि हड़प लो, किसी का व्यापार बन्द कर दो, किसी का बल नष्ट कर दो—इसी प्रकार के उद्देश्य आजकल के युद्ध-पिपासुओं के सम्मुख रहते हैं। मानव शान्ति पूर्वक सहयोग के साथ रहे, एक दूसरे के क्लेश को दूर करे, विज्ञान एवं कलाकौशल का विकास हो, नीति एवं संयम का पालन हो, प्रजा सुख-समृद्धि का अनुभव करे, उसके कल्याण-पथ में आने वाली विघ्न-बाधायें दूर हों, सभी आध्यात्मिक उन्नति करें—इन पवित्र भावनाओं को कोई सामने नहीं रखता। ऐसा प्रतीत हो रहा है जैसे मानव हिंस्र पशु बन गया हो और स्वस्ति को, मंगल एवं भद्र को, शान्ति एवं सुव्यवस्था को संसार से हटा देने के लिए कटिबद्ध हो।

कुछ विद्वान कहते हैं कि संघर्ष प्राणियों में ही नहीं, प्रकृति में भी हो रहा है। आकाश में तारे टूटते हैं, बिजलियां कौंधती हैं, पुच्छलतारे निकलते हैं, पृथ्वी पर आंधी चलती है, नदियों में बाढ़ आती है, समुद्र में ज्वार भाटा आता है, वन में दावानल तो समुद्र में बड़वानल भड़कता है, दीवाल के समान समुद्र में उठती हुई लहरें जलयानों को पलक मारते निगल जाती हैं, ज्वाल

जैसा फण फैलाये हुए उत्तुंग तरंगे तट-बेला का विध्वंस कर देती हैं, जलप्लावन तथा प्रलयंकर तूफान अनुर्वर को उर्वर, सरसा को नीरसा, समुद्र को पर्वत तथा पर्वत को समुद्र में परिणत करते रहते हैं। आप कह सकते हैं कि प्रकृति का ऐसा ही विधान है। प्रकृति के ये परिवर्तन सृष्टि की सफाई करने के लिये हैं, उसके मल को निकाल कर निर्मल बनाने के लिये हैं, जीर्णता हटा कर उसे अभिनव यौवन देने के लिये हैं। ऐसा न हो तो सृष्टि का कर्दम उसे नष्ट-भ्रष्ट कर दे। पतझड़ वसन्त के अभ्युदय का सूचक है, उसी प्रकार ये झंझा-बाड़-दावा आदि सृष्टि के भावी सुन्दर रूप के संदेश वाहक हैं। जो प्रणाली प्रकृति में चलती है, वही प्राणी-समुदाय में। प्राणियों के संघर्ष भी प्राचीनता के स्थान पर नवीनता का सर्जन करते हैं, रूढ़ियों को हटाकर मानवता को अभिनव आदर्शों से सुसज्जित करते हैं और सड़े-सड़ाये घिसे-पिटे सिद्धान्तों से बचाकर उसे सुरभि-प्रदायक नूतन विचारराशि देते हैं जिससे मानव का भविष्य विकसित होता है।

यदि इस विचार-सरणि को स्वीकार किया जाय तो जड़ जगत की भांति मानव की भी स्वतंत्र सत्ता नहीं रहती। जब प्राकृतिक विधान जैसा ही प्राणी-विधान है तो मानव पुरुषार्थ क्यों करे? स्वतंत्र-चेता, कर्मनिष्ठ मानव को इस विचार से ठेस लगती है। इतिहास भी अपने पृष्ठों में ऐसे महान पुरुषों के पुरुषार्थ को अंकित करता है जो संघर्ष के विनाश के स्थान पर मानवता के मूल्यों की प्रतिष्ठा कर गये हैं। धर्मशास्त्रों में अहिंसा, संयम, शौच, संतोष, तप आदि के उपदेश हिंसा से विरत होने तथा साम्यभाव में रहने के लिये हो दिये गये हैं जिससे मानव स्वार्थ पर आधारित संघर्ष से बचे और प्रेमपूर्वक दूसरे मनुष्यों के साथ सहयोग करते हुए जीवन व्यतीत कर सके।

वेद कहता है: यह संसार पत्थरों से भरी सरिता है। अतः सब मिल कर इसे पार कर जाने का प्रयत्न करो। अपने-अपने राग-द्वेष के बोझ को उतार कर रख दो। तभी उस पार का कल्याण हाथ लग सकेगा।

एक चना भाड़ को नहीं फोड़ सकता। सभी मानव जब सहयोग करेंगे, एक दूसरे के कंधे से कंधा मिलाकर चलेंगे, तभी कष्टों की सरिता को पार कर सकेंगे। हम सब का समान उद्देश्य है–विपत्तियों से संत्राण। अतः सबको, इस समान शत्रु पर, मिलकर विजय प्राप्त करनी चाहिए। इसके लिए समान मंत्र, समान मन, समान चित्त, समान संकल्प, समान हृदय, समान प्रयत्न, समान संगति आदि साधनों का प्रयोग करना होगा। दुर्भग से हट कर सौभाग की प्राप्ति सम्मिलित प्रयत्न द्वारा सुगमता से हो सकेगी।

इस सम्मिलन के लिये, संघर्ष से हट कर सहयोग की स्थापना के लिये संघर्ष अवश्य करना पड़ता है। यह संघर्ष बाह्य संघर्ष की अपेक्षा कठिन भी है। इसमें किसी दूसरे से नहीं, अपने आप से ही युद्ध करना पड़ता है। अपने अन्तः शत्रु–काम क्रोधादि पर विजय प्राप्त करनी पड़ती है। जो जितना ही अधिक इस आन्तरिक संघर्ष में विजयी होता है, वह उतना ही अधिक दूसरों के मेल में आ जाता है, अन्यों को अपना ही बन्धु समझने लगता है। आत्मौ-पम्येन सर्वत्र व्यवहार करने लगता है। जो अपने लिये चाहता है, वही अन्यों के लिये। जो वस्तु अपने लिये प्रतिकूल है, उसका आचरण वह दूसरों के लिये कभी नहीं करेगा। आत्मवत् सर्व भूतों में भावना करना, वैसा ही देखना, वैसा ही आचरण करना संघर्ष को ही समाप्त नहीं करता, मानव अभ्युदय को भी सिद्ध करता है।

आर्यों के याज्ञिक अनुष्ठानों के प्रारम्भ में जो स्वस्तिवाचन तथा शान्ति परक मंत्रों का पाठ होता है, वह मानव मात्र के कल्याण की सूचना देता है। यह स्वस्ति तथा शान्ति मे या मम अर्थात् एक वचन में, एक व्यक्ति के लिये नहीं प्रत्युत नः अर्थात् बहुवचन में है और हम सब, मानव मात्र, के कुशलक्षेम का मार्ग निर्देश करती है। मन्त्रों में मानव ही नहीं, प्राणीमात्र की हित-कामना निहित है। यही उदार दृष्टिकोण हमें सुख एवं सौभाग्य की ओर ले जा सकता है। निम्नांकित मंत्रों पर विचार कीजिये :—

इन्द्रोविश्वस्य राजति । शन्नोऽस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे ।
(यजु० ३६-८)

परमैश्वर्य-सम्पन्न प्रभु का राज्य विश्वभर पर है। वे सब के ऊपर विराजमान हो रहे हैं। वे कृपा करें जिससे मनुष्यादि द्विपद तथा पशु आदि चतुष्पद—हम सभी को शान्ति प्राप्त हो। हम सब शान्त, निरुपद्रव वातावरण में रहें।

प्रशान्त परिस्थिति में ही ज्ञान, विज्ञान, साहित्य, कला, उद्योग आदि का विकास संभव होता है। संघर्ष तो इन सबका विघातक है। कलह, बेचैनी, उपद्रव, अशान्त परिस्थिति सभी चिन्ताकुल बनाते हैं। जब चारों ओर भय की, निराशा की, व्याकुलता की भावना वर्तमान हो, मानव निश्चिन्त न हो, तब वह विध्वंस की विकराल वेला की ही प्रतीक्षा करेगा, निर्माण का कार्य नहीं कर सकेगा। इसीलिये सुधी पुरुष कह गये हैं: 'सुरक्षित राष्ट्र में ही शास्त्र-चिन्तन की प्रवृत्ति हो सकती है।' मानवता का विकास चिन्ता में नहीं, सुस्थित चित्त की दशा में होता है।

सनः पवस्व शं गवे शंजनाय शमर्वते । शं राजन्नोषधीभ्यः ॥
(ऋ० ९।११।३ साम ९५३)

प्रभु पवमान हैं, परम पवित्र हैं और हम सबको पवित्र करने वाले हैं। वे हम सब पर द्रवित हों, दया करें जिससे हमारी गोसम्पत्ति, अश्वसम्पत्ति, जन-सम्पदा तथा ओषधियां शान्त, निरुपद्रव स्थिति में रहें।

गौ से हमें शरीर-पुष्टिकारक दूध मिलता है और बुद्धिवर्धक घृत। अश्व हमें एक देश से दूसरे देश में ले जाता है और शत्रुओं से बचाता है। ओषधियां हमें नीरोग बनाती हैं, स्वस्थ रखती हैं। जनों के मध्य में ही हम रहते हैं। वे ही हमारे सहायक हैं, दुःख-सुख में साथ देने वाले हैं। यदि स्वस्ति एवं शान्ति का अभाव हो तो न शरीर पुष्ट होगा, न मस्तिष्क का विकास होगा, न आवागमन होगा और न नीरोगता ही रहेगी। यह स्थिति अवांछनीय है। इसमें मानव का दम घुटता है। वह रह नहीं सकता। विचारशीलता चली

जाती है। मनुष्य का मनुष्यत्व, मननशक्ति, ही क्रियाशील न रहे, तो उसका अस्तित्व ही समाप्त है। अतः सभी सभ्य देश शान्त वातावरण के निर्माण करने का प्रयत्न करते हैं। जो असभ्य देश हैं, वे ही कलह की ओर मुड़ते हैं और अशान्ति का केन्द्र बनते हैं। इन्हीं को दस्युदेश की संज्ञा भी प्राप्त होती है। जो उपक्षय करने वाला है, वही दस्यु है। वह मानवता का शत्रु है। ऐसे शत्रु का ही युद्ध द्वारा पराभव करना चाहिये। संघर्ष की, युद्ध की आवश्यकता केवल ऐसे ही व्यक्तियों, कबीलों, समाजों और देशों के लिये पड़ती है। विध्वंसकों को विध्वंस कर देने से ही मानवता सुरक्षित रह सकती है और मानवता के सुरक्षित रहने पर ही दिव्यता का आविर्भाव संभव है। अतः पतयालु, विघटनकारी, शोषक तत्वों का उन्मूलन मानवता के उन्नयन के लिये आवश्यक हो जाता है।

उरु शर्म, विस्तृत सुख, मानव-मानव तक पहुँचने वाला अभ्युदय कैसे सम्पादित हो सकता है, इसका विवरण-विवेचन निम्नांकित मंत्र में पाया जाता है :—

अपामीवामप विश्वा मनाहुतिमपारातिं दुर्विदत्रामघायतः।
आरे देवा द्वेषोऽस्मद्युयोतनोरुणः शर्म यच्छता स्वस्तये॥
(ऋ० १०।६३।१२)

हम रोगों से दूर हों, सभी प्रकार की अनाहुतियों से पृथक रहें, अराति, अज्ञान, शत्रु आदि से बच कर चलें, पाप की ओर प्रवृत्त करने वाले दुष्ट धन को पास न रखें और द्वेष को दूर भगा दें। सभी उस व्यापक सुख की स्थिति हमें प्राप्त हो सकेगी जो स्वस्ति की ओर ले जाता है, कल्याण के लिये समर्थ होता है।

जो व्यक्ति या जाति रोगी है, उसके पास सुख है ही नहीं। सुखी जीवन के लिये नीरोग बनना पड़ेगा। रोगरहित काया ही सुख का अनुभव कर सकती है। जो रोगों का अड्डा बना हुआ है, वह न खा-पी सकता है, न चल-

फिर सकता है। उसके दिन दुख में व्यतीत होते हैं। ऐसा व्यक्ति अपना निर्माण कर ही क्या सकता है? नीरोग होकर ही वह निर्माण के यज्ञ में कुछ आहुतियां डाल सकेगा। फिर स्वस्थ होकर भी जो आहुति नहीं डालता—सामाजिक, नैतिक, पारिवारिक, धार्मिक, आभ्युदयिक, आमुष्मिक आदि यज्ञों में जो कुछ भी भाग नहीं लेता, सभी प्रकार से अनाहुत जीवन व्यतीत करता है, वह विकास-पथ पर प्रयाण ही नहीं कर रहा है। रोगरहित होना ही आवश्यक नहीं है, नीरोग होकर निर्माण के कार्यों में भी जुटना चाहिये, यज्ञ आयोजनों में भी अपना भाग देना चाहिये। जो इन आहुतियों से बचता है वह याजक नहीं है, यज्ञिय पथ का पथिक नहीं है, वह अपना कुछ बना नहीं रहा। स्वस्थ व्यक्ति पथ पर चल सकता है, पर जो चल ही नहीं रहा, किसी भी दिशा में पैर ही आगे नहीं बढ़ाता, किसी यज्ञ में उत्साहित होकर भाग ही नहीं लेता, वह स्वस्थ होकर भी अविकसित तथा अनुन्नत ही पड़ा रहेगा।

अब स्वस्थ होकर यदि यज्ञ-पथ पर चल पड़े, निर्माण की किसी दिशा में अग्रसर हो गये, अनाहुतियों से बच गये, तो अराति को भी हटा दो, अदान-भाव का परित्याग करो। ब्रह्मचर्य नीरोग या स्वस्थ बनने की अवस्था है, तो गृहस्थ यज्ञिय बनने का आश्रम है। अर्जन करने में आहुत होना पड़ता है। अर्जन के साथ दान भी चलना चाहिये। सम्पत्ति अन्त में प्रभु की ही है—उसे दांतों से बांधकर मत रखो। जहां, जिस क्षेत्र में, जिस व्यक्ति के लिये भी आवश्यक समझो, उसका दान करो। अपने लिये तो कमाई का उपयोग सभी करते हैं, पर जो दूसरों के लिए भी करता है, उचित पात्र को देखकर जो हाथ पीछे नहीं सिकोड लेता, आगे बढ़ाकर अपने सामर्थ्य के अनुकूल देता है, वही वस्तुतः सात्विक यज्ञ कर रहा है, अपना विकास कर रहा है, स्वस्ति या कल्याण का भाजन बन रहा है। धन या शक्ति रहते भी जो परोपकार या पर-संत्राण नहीं करता, उसके धन या शक्ति मित्र नहीं शत्रु हो जाते हैं। विकासशील मानव को ऐसे शत्रु से दूर रहना चाहिए।

जो धन न अपने उपयोग में आ रहा है, न मित्रों की सहायता में लग रहा है और न उससे कोई सामाजिक यज्ञिय कार्य ही निष्पन्न हो रहा है, वह पड़ा-पड़ा या तो सड़ेगा, या धनी को पाप की ओर प्रवृत्त करेगा। वेद कहता है, पाप की ओर ले जाने वाले ऐसे धन से भी दूर रहना चाहिए। एक अन्य स्थान पर कहा है : या मा लक्ष्मीःपतयालूरजुष्टा अभिचस्कन्द वन्दनेव वृक्षम्। अन्यत्रास्मत् सवितस्ता मितोधाः। (अथर्व ७-११५-२) जो लक्ष्मी अजुष्ट है, असेवित है, वह पतन की ओर ले जाने वाली है। वह वृक्ष पर अमरबेल की भांति मुझसे चिपक कर बैठ गई है—मेरा रक्त चूस रही है। भगवान ऐसी लक्ष्मी को मुझ से दूर कर दें। यह वास्तव में लक्ष्मी नहीं, दुर्विदग्ध है, दुष्ट धन है जो अघायतः अघ के, पाप के पाश में आबद्ध करने वाला है। इससे दूर रहने में ही साधक का कल्याण है।

नीरोग होकर अर्जन किया, दान किया और पाप से भी बचे अर्थात् न दुष्टधन कमाया और न उसे अपने पास रखा, तो अब एक पग और आगे बढ़ना है। वह पग अद्वेष की अवस्था प्राप्तकरना है। वानप्रस्थ में इसकी तैयारी हो जाती है और सन्यास इसके व्यापक व्यवहार का क्षेत्र है, पर सामान्यतः सभी गृहस्थों के कर्त्तव्यों में भी इसका पुनीत स्थान है। द्वेष हमसे दूर रहे, हम सब मिलकर मैत्री भाव से जीवन-यापन करते हुए विकास-पथ पर बढ़े चलें—यही वांछनीय है, श्रेयस्कर है। द्वेष का लवलेश भी शेष रहा तो विकास-पथ अवरुद्ध हो जायगा, सुख के स्थान पर दुख अड्डा जमा लेगा, स्वस्ति नहीं, दुरस्ति, दुर्भवन (Ill-becoming) अपना आयतन बनावेगा और शान्ति नहीं, अशान्ति जीवन में व्याप्त हो जायगी।

द्वेष मेरा ध्यान मुझसे हटाकर द्वेष्य पर केन्द्रित कर देता है। दिन-रात मैं उसी के अपकार की बातें सोचता हूँ, उसे शाप देता हूँ, कोसता हूँ, ऐसा मार्ग अपनाता हूँ जिससे उसकी हानि हो। उसकी हानि होगी या नहीं, अपनी हानि तो मैं कर ही रहा हूँ। द्वेष की अग्नि द्वेष्य को नहीं, प्रथम तो मुझे ही जलाती है। साधारण मानव ही नहीं, बड़े-बड़े साधक भी इसकी लपटों से

झुलसते देखे गये हैं। द्वेष अहंकार का ही पुत्र है। इससे बचना विरले वीरों का ही काम है। एक याजक दूसरे याजक से द्वेष करता है। एक दानी दूसरे दानी को प्रतिस्पर्धा एवं ईर्ष्या से देखता है। एक आदर्शवादी अपने सिद्धान्त को मान देता हुआ दूसरे के सिद्धान्त को हेय सिद्ध करता है। पूँजीवाद साम्यवाद पर और साम्यवाद पूंजीवाद पर आरोपों की झड़ी लगा देता है। द्वेष के विविध रूपों की यह बौछार मानवको कहीं का नहीं रहने देती। उसकी समग्र-साधन-सफलता पर पानी फिर जाता है। द्वेष का यह विकटरूप द्वेष को जन्म देते समय साधक के ध्यान में भी नहीं था। इस द्वेष की समाप्ति पर ही सुख का उदय हो सकता है। यही सुख शर्म है, वास्तविक ब्राह्मणों, शर्माओं, में निहित सुख है। इसी से स्वस्ति प्राप्त होती है।

मंत्र में स्वस्ति की सिद्धि के लिये जिस साधन-क्रम का उल्लेख हुआ है, वह मूल्यवान है और ध्यान देने के योग्य है।

इस सम्बन्ध में आश्रमों की ओर हम संकेत कर चुके हैं। शर्म या सुख-शान्ति के मार्ग में वैसे भी रोग, अदान, शत्रुवर्ग, अयज्ञियता, पापप्रवृत्ति तथा द्वेषभाव विघ्नरूप हैं। इनसे हटकर ही मानव वस्तुतः सुखी हो सकता है। विशुद्ध वर्ण दृष्टि से विचार करें तो अनमीवता आरोग्य तथा लम्बी आयु का प्रतीक है। शूद्र अर्थात् सामान्य स्तर के मानव को लम्बी आयु अच्छी लगती है, पर तभी जब काया नीरोग रहे। इसे सुख की आधार-भूमि कहा जा सकता है। अदान से दूर रहना अर्थात् दान, आहुति या त्याग की प्रवृत्ति उत्पन्न करना तभी संभव है जब आपके पास देने के लिए धन हो। वर्णों में धनार्जन की वृत्ति वैश्य की है। शत्रुवर्ग को दूर करने के लिये क्षत्रिय वर्ण की आवश्यकता है। अयज्ञियता तथा पाप-प्रवृत्ति से हटना तीनों क्या चारों वर्णों के लिये आवश्यक है। द्वेषभाव से ब्राह्मण वर्ण को विशेष रूप से पृथक रहना है। अन्य तीन वर्ण इससे बच नहीं सकते, पर ब्राह्मी वृत्ति तो इसको दूर किये बिना सम्पादित हो ही नहीं सकती। अतः शर्म तक, ब्राह्मणत्व तक, पहुँचने के लिये भी उल्लिखित साधन-क्रम अतीव मूल्यवान है।

इसी विषय के नीचे दो मंत्र और दिये जाते हैं :—

स्वस्ति नः पथ्यासु धन्वसु स्वस्त्यप्सु वृजने स्वर्वति ।
स्वस्ति नः पुत्र कृथेषु योनिषु स्वस्ति राये मरुतोदधातन ॥
स्वस्तिरिद्धि प्रपथे श्रेष्ठा रेक्णस्वत्यभि या वाममेति ।
सा नो अमासो अरणे निपातु स्वावेशा भवतु देवगोपा ॥
(ऋ० १०-६३-१५,१६)

हे मरुतो, तुम मर्त्यमानव की रक्षा करने वाले हो, उसके सहायक हो। यह मानव अपनी जीवन यात्रा में कभी निर्जन, वीरान, जलविहीन मरुभूमि में भटकता है और कभी आपोमय समुद्रों की सैर करता है। इसे कभी वर्जित, भीषण, कण्टकाकीर्ण वृजनों के दुखदायी दृश्य देखने पड़ते हैं, तो कभी स्वर्ग के दिव्य एवं दर्शनीय, मधुभरित, अमृत आवास भी सामने आ जाते हैं। ये सब मानव की अपनी रचना हैं, उसी के किये हुए सुकृत एवं दुष्कृत का परिणाम हैं, अपना ही कर्म-विपाक हैं। कुछ ऐसी भी योनियाँ हैं, भुवन हैं जो उसकी संतति द्वारा निर्मित हैं। इन सभी भुवनों में तुम हमारा कल्याण करो जिससे हमें ऐश्वर्य प्राप्त हो, ऐश्वर्य की सबसे बड़ी निधि मोक्ष प्राप्त हो।

हमें स्वस्ति मिले, पथ में, प्रपथ में श्रेष्ठ, रेक्णस्वती, धनवती, ऐश्वर्यवती स्वस्ति ही प्राप्त हो—ऐसी स्वस्ति जो हमें वननीय, भजनीय, सेवनीय उत्तम सुखावस्था को प्राप्त करा दे। हम चाहे घर में हों, चाहे अरण्य में, वह सुन्दर आवेशों वाली, प्रेरणा-प्रदायिनी, भाव-भरिता, देवगोपा, दिव्यता की रक्षिका स्वस्ति ही हमारा सब प्रकार से पालन और रक्षण करे। वह हमारी अ = मा, अनैश्वर्य, दरिद्रता को अरण में, कान्तर में गिरा दे और हमारे अन्दर प्रविष्ट होकर, अपना आवेश बनाकर, हमारे देवत्व को गोपन-संरक्षण दे। देवत्व में ही समरसता है, संघर्ष से सुरक्षा है। स्वस्ति-वाचन तथा शान्ति-पाठ इसी के उद्‌बोधन, जागरण एवं समावर्तन के लिये किया जाता है।

शान्ति का धाम

शब्द ब्रह्म और परब्रह्म की जब चर्चा की जाती है, तब एक से पुरन्धि से रायः पर्यन्त अथवा महत्तत्व से पाञ्चभौतिक सामग्री तक का अभिप्राय लिया जाता है और द्वितीय से परात्पर शक्ति का। पुरुषसूक्त ने प्रथम को एक पाद और द्वितीय को त्रिपाद की संज्ञा दी है। एकपाद के दो भेद हैं। कोई इन्हें चेतन और जड़ कहते हैं, कोई जगत और तस्थुष, कोई प्राण और रयि, कोई आकृति और सामग्री, कोई मस्तिष्क या बुद्धि और रायः अथवा धन। एक पाद द्विविध हैं—ऐसा पग-पग पर अनुभूत होता रहता है। मेरे अन्दर ही शरीर है और शरीर का संचालक है। निरा शरीर मिट्टी है, सामग्री मात्र है। संचालक की स्थिति इसे सजीव बना रही है और हाथ में लेखनी पकड़ा कर लेख लिखा रही है। जड़ और चेतन के इस युग्म-एकपाद् के ऊपर त्रिपाद है, पर ब्रह्म है जो युग्म में से एक का आत्मा तथा दूसरे का प्रेरक है, एक का धारक तथा दूसरे का शासक है, एक को बहुधा करने वाला तथा अपर की कामनाओं को पूर्ण करने वाला है, एक का जनिता तो दूसरे के कर्मों का अध्यक्ष है।

सामग्री को विशिष्ट आकृतियां देना चेतन का काम है। इस सामग्री के प्रथम तीन भेद होते हैं:—महत्तत्व, अहंकार और पंचतन्मात्र। महत्तत्व से बुद्धि तथा अहंकार से मन उत्पन्न होता है। पञ्चतन्मात्र से पांच ज्ञानेन्द्रियाँ, पांच कर्मेन्द्रियां और पांच महाभूत उत्पन्न होते हैं। यही सामग्री है जिससे ब्रह्माण्ड की रचना होती है। इस सामग्री के परम तथा अवम अथवा श्रेष्ठ और कनिष्ठ दो रूप हैं। बुद्धि श्रेष्ठ है, चर्म कनिष्ट है। वीर्य श्रेष्ठ है, परम है, अन्न कनिष्ठ है, अवम है। चेतन के हाथ में पड़ कर यह सामग्री पवित्र तथा अपवित्र बनती रहती है। अन्न शुद्ध तथा अशुद्ध और पवित्र तथा अपवित्र है तो बुद्धि भी पापमयी, प्रमादमयी तथा पुण्यवती एवं प्रेरणा-

वती कही जाती है। सामग्री तो कुछ कहती नहीं, चेतन ही कहता और क्रिया करता है।

उच्च कोटि की सामग्री भग कहलाती है। भग का अर्थ है भजनीय अथवा सेवनीय। इसे साधकों ने छः भागों में विभाजित किया है: समग्र ऐश्वर्य, वीर्य,[1] यश, श्री, ज्ञान तथा वैराग्य। प्रथम चार विशुद्ध सामग्री के अन्तर्गत हैं, ज्ञान गुण है तथा वैराग्य भाव है। भाव, गुण तथा उपलब्ध सामग्री का श्रेष्ठ रूप भग है। निम्नांकित मंत्र में भग के इस स्वरूप को प्रकट किया गया है :—

भगप्रणेतर्भग सत्यराधो भगेमां धियमुदवाददन्नः।
भग प्रणो जनयगोभिरश्वैः भग प्र नृभिर्नृवन्तः स्याम॥
(ऋ० ७-४१-३ अथर्व ३-१६-३ यजु० ३४।३६)

भग आगे ले जानेवाली है, सत्य की सिद्धि या सफलता देने वाली है, बुद्धि-प्रदात्री है, उद् = ऊपर से, अवा = रक्षण करने वाली है अथवा ऊर्ध्व दिशा का द्वार उन्मुक्त करती है, गौओं (इन्द्रियशक्ति), अश्वों (प्राणशक्ति) तथा नरों (नेतृत्व शक्ति) से संयुक्त करके हमें नृवन्त बनाती है। आगे ले जाना वीर्य का काम है, सफलता यश है, धी में ज्ञान है, ऊर्ध्व दिशा के उन्मुक्त होने में वैराग्य है, गो तथा अश्व में ऐश्वर्य है और नरत्व में श्री है।

निम्नांकित मंत्र पर भी ध्यान दीजिये :—
भगएव भगवां अस्तु देवास्तेन वयं भगवन्तः स्याम।
तं त्वा भग सर्व इज्जोहवीति स नो भग पुर एता भवेह॥
(ऋ० ७-४१-५ अथर्व ३-१६-५ यजु० ३४-३८)

---

[1] कहीं कहीं वीर्य के स्थान पर धर्म है। जीवन में दोनों ही प्रेरक तत्व हैं। इसकी विशेष व्याख्या हमने 'वैदिकनिबन्धावली' के षडगुणसम्पत्ति शीर्षक निबन्ध में की है।

भग से ही मनुष्य भगवान बनता है, हम भी इससे भगवान बनें। हे भग! सब कोई तुम्हारा ही आह्वान करते हैं। अतः तुम मेरे आगे यहां उपस्थित रहो।

भग अदिति के पुत्र आदित्य देव को धारण करने वाली है। दिव्यता में भग है। मानव को देवपद प्राप्त करने के लिये भग का ही आश्रय लेना पड़ता है। ऊर्ध्व गति इसी के द्वारा सम्पन्न होती है। इसीहेतु भग को श्रेष्ठ सामग्री कहा गया है।

यह भग हमें शान्ति की ओर ले चले। यह श्रेष्ठ सामग्री हमारे जीवन में विक्षोभ उत्पन्न न करे। यदि हम इसे पाकर विचलित, उत्तेजित या क्षुब्ध हो उठे, तो इसके आधीन हो गये। इसने हमें दबा लिया। हमारी स्वतन्त्रता छिन गई। स्वाधीन न रहना, दूसरे के दबाव में आ जाना, दुख का कारण है। 'पराधीन सपनेउ सुख नाहीं'—'सर्वं परवशं दुःखम्'। आत्मवशता, स्वाधीनता, स्व में स्थित रहना ही सुख है, आनन्द है। भग आवे, पर हमें पराधीन न बना दे। इससे हम दिव्यता की ओर प्रयाण करें, प्रकाश में विचरण करने के योग्य बनें, विक्षोभ से हट कर प्रशान्त अवस्था की ओर चलें, इसी में कल्याण है।

उद्वेग उद्विग्न करने वाले हैं। स्पिनोजा इसीलिए उद्वेगों के आधीन हो जाने को दुखद स्थिति का नाम देता है। भग, जीवन की सर्वश्रेष्ठ सामग्री, उद्वेगों को दूर करती हुई, दिव्यता का, प्रकाश का, पोषण करती है। यह प्रकाश हमें शान्ति की ओर ले जाता है। जहां भग हमारे लिये शान्तिदायक हो, वहां उसका शंसन, कथन, स्तुति, व्यावहारिक प्रयोग भी शान्ति दायक होना चाहिये। भग का प्रभाव हम तक ही सीमित है, पर उसका शंसन दूसरों को भी प्रभावित करता है। अन्य मानव भी भग के महत्त्व को हृदयंगम करें और उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करें, मैं भी शान्त बनूं और अपने शंसन तथा व्यवहार द्वारा दूसरों को भी इस पथ का पथिक बना दूं, यही इस शंसन या स्तुति का रहस्य है। समाज में रहना है तो 'संगच्छध्वं' सिद्धान्त का

पालन करना चाहिये। समाज का यदि एक घटक शान्त है, दूसरे घटक अशान्त एवं उपद्रवी हैं, तो एक घटक की शान्ति भी स्थिर नहीं रह सकती। सामाजिकता का भाव ही सहकार और सहयोग है। शंसन में इसी सहयोग का अन्तर्भाव है। पर यह शंसन शान्ति की ओर ले चले। ऐसा न हो कि शंसन दर्प या अभिमान से संयुक्त होकर कहने तथा सुनने वाले दोनों ही के लिए अहितकर सिद्ध हो; दोनों को शान्ति से हटा दे, पतित कर दें। हमारी श्रेष्ठ सामग्री हमें श्रेष्ठ बनावे और उसका प्रयोग भी हमें श्रेष्ठता की ओर ले चले। हमारी श्रेष्ठता दम्भ में परिणत न हो, दूसरों की ईर्ष्या का कारण न बने। श्रेष्ठता श्रेष्ठता ही रहे—अपने स्वरूप में भी और शंसन में भी, उपलब्धि में भी और प्रयोग में भी, स्वहित अर्थात् वैयक्तिक रूप में भी और व्यवहार में भी—तभी सामुदायिक भद्र की संभावना है। वेद एक के ही नहीं, सब के कल्याण का इच्छुक है। उसकी पदावली में 'मैं' भी है, पर 'नः' की अधिकता है। गायत्री मंत्र जो वेदमाता का सर्वश्रेष्ठ मन्त्र है, 'धियो योनः प्रचोदयात्' कहता है। मेधाम्मेवरुणोददातु में 'मैं' भी है, पर अन्यत्र बाहुल्य 'नः' का ही है। स्वस्तिवाचन तथा शान्ति प्रकरण के मन्त्र इस विषय में ध्यान देने योग्य हैं।

भग और उसके शंसन के उपरान्त प्राण शक्ति आती है। यही दोनों के प्रयोग तथा उचित व्यवहार की साधिका है। इसके अभाव में न श्रेष्ठ से श्रेष्ठ सामग्री का कोई उपयोग है और न उसके शंसन या कथन का। प्राण आत्मा की शक्ति है। आत्मप्रकाश के साथ ही इसका विकिरण होता है। शरीर को यही धारण करती है। अतः इसे पुरन्धि भी कहा जाता है। शरीर पुर है। इसका आधार प्राण है। पुरन्धि शरीर रूपी पुर की धारिका है। प्राण शक्ति है तो शरीर भी टिका है। प्राण है तो सामग्री का उपयोग भी हो रहा है। प्राण है तो मुख से वचन भी निकल रहे हैं, प्राण है तो प्राणी का समाज से भी सम्बन्ध है। प्राण नहीं है, तो उन्नयन, दिव्यता की ओर प्रयाण तो जहां तहां, शरीर रूपी साधन ही व्यर्थ हो जायगा। प्राण

के रहते ही साधन का प्रयोग हो सकता है, प्रयत्न किया जा सकता है, उत्थान की ओर बढ़ा जा सकता है। प्राण शक्ति प्राणी का सर्वस्व है। यह प्राण शक्ति भी, पुरन्धि भी, हमारे लिये शान्ति का हेतु बने।

प्राणवान व्यक्ति चाहे तो अपने बल से अत्याचारों की आँधी खड़ी कर दे और चाहे तो दीन दुखियों का त्राण करता हुआ समाज में मंगल की वर्षा कर दे। शक्ति का प्रयोग पर-पीडन और आर्तरक्षण दोनों रूपों में हो सकता है। पहले रूप में वह प्रयोक्ता तथा प्रयोज्य दोनों के लिये हानिकारक है, दोनों को ही दुःख में डुबोने वाला है। दूसरे रूप में उससे दोनों ही सुखी होते हैं, दोनों का हितसाधन होता है। जिससे प्रयोक्ता का यह लोक तथा परलोक दोनों सिद्ध होते हैं, उसे छोड़ कर वह शक्ति के दूषित प्रयोग की ओर क्यों अग्रसर होता है? वह कल्याण के स्थान पर अकल्याण का भाजन क्यों बनता है? वह क्यों अपने ही पैरों में कुल्हाड़ी मारता है? क्यों दूसरों को व्यथित करता है? उसे अपना तथा दूसरों का भला क्यों दिखाई नहीं देता? श्रुति कहती है—'उतापृणन् मर्डितारं न विन्दते'—जो दूसरों को दुखी करता है, वह स्वयं भी सुखी नहीं रह सकता। उसका स्थान वृजन है, नरक है, स्वर्ग नहीं। नारकीय कीड़ा बनना है, तो पुरन्धि का, प्राण शक्ति का दुरुपयोग कर लो। स्वर्ग के दर्शन करने हैं, *दिव्यता के प्रकाश में अमृत का उपभोग करना है*, तब तो प्राणशक्ति को, पीड़न से हटा कर, प्रीणन की ओर प्रवृत्त करना होगा, दर्प से बचा कर नम्रता की ओर मोड़ना होगा, कलह को छोड़ कर शान्ति-प्राप्ति में प्रयुक्त करना होगा।

श्रेष्ठ सामग्री, श्रेष्ठ प्रयोग तथा प्राणशक्ति के अतिरिक्त हमारे चारों ओर सामान्य सामग्री भी भरी पड़ी है। साधारण ही नहीं, उच्च कोटि के प्राणी भी इससे अभिभूत रहते हैं। उच्च कोटि की सामग्री प्रयत्नप्रसूत होती है, पर सामान्य सामग्री तो सहज प्राप्य है। ज्ञान और वैराग्य के लिये, वीर्य और यश के लिये, ऐश्वर्य और श्री के लिये साधना करनी पड़ती है, पर शरीर तो प्रभु ने दे ही दिया है, फल-अन्न-जल प्रभूत मात्रा में इस वसुधा पर बिखरे

पड़े हैं। गंगा-डेन्यूब-मिसीसिपी के साथ, वर्षा सरोवरों को भी जल से भर देती है। मैदान में सर-सरितायें हैं, तो पर्वत पर झरने हैं, कान्तारों में झील तथा सोते हैं, उच्च श्रेणी के फल भी हैं, न हों तो झरबेरियां, कन्द तथा मूल तो हैं ही। यह सब सामान्य सम्पत्ति है, वसुन्धरा विश्वम्भरा भगवती का अनन्त धन है—किसी की तिजोरी में बन्द नहीं, उन्मुक्त आकाश के नीचे सब के लिये उन्मुक्त, निर्बन्ध, चौके में खुला पड़ा हुआ। पर यह सम्पदा भी मानव के संघर्ष का कारण बन जाती है, उसे शान्त और सुखी नहीं रहने देती। स्वार्थ-लिप्सा उसे आवश्यकता से अधिक सामग्री को स्वायत्त करने के लिये बाध्य कर देती है और परिणामतः मानव स्वार्थ में बाधा पड़ते ही, कठोरता के कन्दुक एवं परस्पर रक्त-पिपासु बन जाते हैं।

शान्ति के इन शत्रुओं से कौन कहे कि जिस सामग्री को तुम्हारे हाथ एकत्र करके घर के अन्दर भर रहे हैं, वह यहीं रह जायगी। मृत्यु के उपरान्त तुम उसे साथ नहीं ले जा सकोगे। जो न तुम्हारे उपयोग में आ सकी और न जिसका तुमने दूसरों को उपयोग करने दिया, न जिससे तुमने स्वयं सुख उठाया और न दूसरों को उठाने दिया, वह तुम्हारी तो बनी नहीं, तुम्हारी थी भी नहीं, फिर यह उत्पीड़न किसलिये? यह संग्रह किसके लिये? यह आपाधापी क्यों? श्रुति कहती है, प्रभु की यह सामग्री, यह सम्पदा, यह धन हमारे लिये शान्तिदायक हो। इसके लिये हम कलह के केन्द्र न बनें, क्रन्दन के कारण न बनें, शान्ति के बाधक न होकर, साधक बनें।

शान्ति के इस वातावरण को जन्म देने के लिये हमें सत्य तथा संयम को अपनाना होगा। जहां हमारी सामग्री सत्य तथा संयम पर आधारित हो, वहां उसका शासन, व्यवहार भी सत्य तथा संयम का साथी बने। न हम असत्य के बल पर ऐश्वर्यशाली होने का उद्योग करें, दूसरों को धोखा देकर, उनका पेट काट कर श्री-सम्पन्न बनें और न असंयमपूर्वक उसका उपभोग ही करें। हमारी प्राणशक्ति भी सत्य तथा संयम का अनुगमन करे। वह असत्य तथा उच्छृङ्खलता से दूर रहे। यदि हमने सत्य तथा संयम का अंचल पकड़ लिया, तो हम सामग्री

का सदुपयोग करते हुए उन्नति-पथ पर निश्चिन्त रूप से आगे बढ़ सकेंगे। सत्य तथा संयम में बल है, असत्य तथा असंयम में ह्रास है, शक्ति का पतन है। निर्बल एवं अशक्त इस संसार के संघर्ष में पिस जाते हैं, बलवान संयमी ही सत्य का आश्रय लेकर यहां बच पाते हैं और विजयी बनते हैं। सत्य और संयम उत्थान की आधार शिला हैं। प्राण भी इन्हीं से प्राणवान बनता है, अपनी शक्ति प्राप्त करता है।

श्रुति हमें यहां भी सावधान करती है। सत्य और संयम आधार शिला हैं, इसमें सन्देह नहीं, पर जैसे धन, प्राण तथा सामग्री हमें पथ-भ्रष्ट कर सकते हैं वैसे ही सत्य और संयम भी। जैसे धन का मद है, बल का नशा है, वैसे ही सत्य और संयम भी सुरा का रूप धारण कर सकते हैं। जब मानव अपने सत्यशंसन पर अभिमान करने लगता है, अपने संयम का बढ़ा चढ़ा कर मूल्यांकन करता तथा दूसरों के समक्ष प्रदर्शन करता है, तब वह वास्तविकता से स्वयं विचलित होता है तथा दूसरों की आखों में खटकने लगता है। यह उसका पतन है, उत्थान नहीं। इससे वह स्वयं तो भ्रष्ट होता ही है, समाज भी उसके गर्व से असहनशील होकर भ्रान्तपथ का अनुसरण कर सकता है। नारद की एक बार अपने ब्रह्मचर्य रूप संयम से इसी प्रकार गर्व हो गया था, युधिष्ठिर भी बड़े सत्यवादी बनते थे, पर दोनों ही छले गये। श्रुति कहती है, सत्य का आश्रय लो, संयम से काम लो, पर उनका शंसन शान्ति का प्रसार करे, कोलाहल का नहीं। ढिंढोरा पीटने से भी शक्ति का क्षय होता है और सत्य तथा संयम का अति-रंजित रूप भी विनाश का कारण बनता है। हमें शान्ति उपलब्ध करनी है, उपद्रव नहीं; समरसता की ओर बढ़ना है, विषमता की ओर नहीं।

यदि मार्ग में पग-पग पर ठोकर लगने का भय है, उच्च कोटि का गुणाधान, प्राण की पुष्टता, सामान्य सपदा की उपलब्धि, सत्य और संयम का शंसन आशंकाओं से आक्रान्त हैं, तो साधक कहां से आश्वासन प्राप्त करे ? क्या वह निराश होकर प्रयत्न करना छोड़ दे ? नहीं, ऐसा नहीं है। आश्वासन का

स्रोत तो साधक के अन्दर ही विद्यमान है। वह निराश हो ही नहीं सकता। वह जानता है, अर्यमा पुरुजात हैं। वे शान्ति प्रदाता हैं। लाख आशंकायें आवें, भय और निराशायें छा जावें, पर मैं पथ पर चल रहा हूँ तो अर्यमा देव मुझे पार लगा ही देंगे। भयावह आशंकाओं के बीच में, कलह और कोलाहल के वातावरण में वे ही मुझे शान्ति देंगे।

अर्यमा अर्य का, श्रेष्ठ का, न्याय्य का समर्थन करने वाले हैं, उसे मान देने वाले हैं। वे पुरुजात हैं, बहुतों में प्रसिद्ध हैं, अनेकों में प्रकट हो चुके हैं। मेरे लिये भी वे प्रकट होंगे, प्रख्यात होंगे। उनका प्रत्याख्यान करने का साहस किसी में भी नहीं है। उनकी न्याय-पद्धति अप्रतर्क्य है। उन जैसा न्याय-कर्ता अन्य कोई नहीं है। वे ही मुझे सत्पथ पर अग्रसर करें, मेरी सामग्री, मेरी प्राणशक्ति, मेरी स्तुति को शान्तिमयी, मंगलमयी, कल्याणमयी बनावें। वे ही मुझे शान्ति दें। वे परम शान्त हैं, समरस हैं, मुझे भी विक्षोभ से बचावें, उद्विग्नता से हटावें और अपनी प्रशान्त गोद में स्थान दें। सत्य और संयम मेरे उपकरणों को पवित्र करें, प्राण को प्रतिष्ठित करें, कथन को निर्मल करें और अर्यमा भगवान मुझे शान्ति धाम में पहुँचा दें। जीवन यात्रा में इसी वरदान की आकांक्षा है।

ऊपर जो कुछ लिखा गया है वह निम्नांकित मंत्र की व्याख्या मात्र है—

> ऊँ शन्नो भगः शमुनः शंसोऽस्तु,
> शन्नः पुरन्धिः शमु सन्तु रायः।
> शन्नः सत्यस्य सुयमस्य शंसः।
> शन्नो अर्यमा पुरुजातोऽस्तु ॥
>
> (ऋ० ७-३५-२ अथ० १९-१०-२)

भगः हमारे लिये शान्ति दायक हो, उनका शंसन, कथन हमारे लिये शान्तिप्रद हो, पुरन्धिः (शरीर को धारण करने वाली प्राणशक्ति) हमारे लिये शान्तिमयी हो, रायः (धन-सम्पदा) हमारे लिये शान्ति का वातावरण प्रस्तुत

करें, सत्य और सुयम (संयम) की प्रशंसा हमें शान्ति की ओर ले चले, पुरुजात अर्यमा (बहुत्व-नानात्व में प्रकट, प्रख्यात न्यायाधीश परमात्मा) हमारे लिए कल्याणकारी हों। ऐहिक तथा आमुष्मिक स्थितियां दोनों ही हमारा कल्याण-साधन करें। शरीर-सम्पदा के साथ जो निर्वाह के साधन हों, वे शान्तिप्रद हों और यहां के कार्यकलाप का जो फल न्यायाधीश प्रभु हमें दें वह भी हमारे लिये शान्तिप्रद हो। शब्द ब्रह्म तथा परब्रह्म उभय क्षेत्रों की शान्ति हमें प्राप्त हो।



ज्ञान

परम प्रभु ज्ञान स्वरूप हैं, प्रकृति सत मात्र है—जड़ है, जीव अल्पज्ञ है। अतः ज्ञान प्राप्त करने का प्रश्न न ईश्वर के सम्बन्ध में उठता है, न प्रकृति के। ज्ञान का प्रश्न केवल अल्पज्ञ जीव के लिये है। वह बीच में है और उसे दोनों का ज्ञान प्राप्त करना है। उसे प्रकृति को भी समझना है और प्रभु को भी। यह ज्ञान ही एक के त्याग तथा दूसरे के ग्रहण में परिणत हो जाता है।

प्रकृति और प्रभु दोनों ही जीव के निकट हैं। एक का आश्रय लेकर वह प्रपंच में पड़ता है, दूसरे का आश्रय लेकर इस प्रपंच से मुक्त होता है। ज्ञान इस मुक्ति का प्रमुख साधक है। किसी वस्तु का सम्यक् ज्ञान ही उस वस्तु के स्वीकार या निषेध का कारण बनता है। जब प्रपंच की निस्सारता जीव के सम्मुख प्रत्यक्ष हो उठती है, तब वह उसे हेय जानकर त्याग देता है। प्रभु वरणीय है, स्वीकरणीय है, उपासनीय है, भजनीय है—ऐसा ज्ञान ही जीव को प्रभु की ओर ले जाता है।

आचार्यों ने ज्ञान तथा विज्ञान में अन्तर किया है। ज्ञान वह है जो जीव को परिधि से हटाकर केन्द्र की ओर ले जाता है। विज्ञान केन्द्र से परिधि की ओर ले जाने वाला है। विज्ञान बहुत्व एवं नानात्व का विश्लेषण है, ज्ञान प्रभु की उपलब्धि है। ज्ञान के साथ वि उपसर्ग का संयोग उसे वैपरीत्य या वैविध्य से संयुक्त कर देता है। संसार में वैपरीत्य तो है ही विविधता भी पर्याप्त मात्रा में है। फिर बहुत्व एवं नानात्व भी है। एक ही श्रेणी की अनेक वस्तुयें हैं और विभिन्न श्रेणियों की वस्तुओं का भी बाहुल्य है। इन सबको जानना और समझना विज्ञान का काम है। वैसे ज्ञान विज्ञान में भी छिपा पड़ा है, पर आचार्यों की विभेदक दृष्टि ने पारिभाषिकता की सुकरता के लिए दोनों के क्षेत्र पृथक-पृथक कर दिये हैं। हम यहां ज्ञान को दोनों ही क्षेत्रों के लिये प्रयुक्त करेंगे।

ज्ञान का प्रारम्भ बाल्यावस्था में घर से ही हो जाता है। विशेष शिक्षण के लिए विद्यालयों में प्राध्यापकों तथा आचार्यों की शरण लेनी पड़ती है। विद्यालयों से पृथक होने पर सब से बड़ा विद्यालय या शिक्षा देने वाला स्थल संसार है, व्यवहार है। जो बात विद्यालय भी नहीं बता सकते, जो ज्ञान आचार्यों से भी नहीं मिल पाता, उसे संसार का व्यवहार सिखा देता है। नीचे लिखे मन्त्र में ज्ञान के उन उपकरणों तथा साधकों की ओर संकेत है जो विद्यालय से सम्बन्ध रखते हैं :—

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषाविश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्ताक्ष्यों अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥

इस मंत्र का देवता विश्वे देवाः है। वैसे तो प्रत्येक मंत्र कई दिशाओं का ज्ञान देता है, पर इस मन्त्र का तो देवता ही विश्व की दिव्य शक्तियों की स्तुति कर रहा है। ज्ञान विश्व की सर्वश्रेष्ठ दिव्य शक्ति है। स्वस्ति की आवश्यकता भी सभी क्षेत्रों को है, पर ज्ञानक्षेत्र-विद्यालयों को तो इसकी महती आवश्यकता है। जहां स्वस्ति नहीं, स्वस्थता नहीं, वहां कोई प्रगति नहीं हो सकती। शिक्षा-क्षेत्रों में स्वस्ति होगी तो विद्यादान तथा विद्याग्रहण का कार्य सुचारु-रूप से सम्पादित हो सकेगा। आज के विद्यालयों का वातावरण दूषित है। विद्यार्थियों की अनुशासनहीनता, प्राध्यापकों की कर्तव्य-विमुखता, प्रबन्धकर्तृ समितियों की अर्थ-लिप्सा तथा समाज की वाणिज्यवृत्ति को देखकर सुधीजन वर्तमान एवं भविष्य दोनों के विषय में शंकालु होने लगे हैं कि हम क्या हो गये हैं और क्या होने जा रहे हैं। अपवाद सभी कालों, सभी देशों तथा सभी क्षेत्रों में होते हैं, ज्ञान के क्षेत्र में भी हैं। सच्चे विद्यार्थी, दायित्व का निर्वाह करने वाले प्राध्यापक तथा पवित्र प्रबन्धकर्ता भी हैं, पर इस समय बाहुल्य अस्वस्ति, अस्वास्थ्य तथा अश्लीलता का ही है।

मंत्र में प्रार्थना है कि वृद्धश्रवाः इन्द्र हमारे लिये स्वस्ति प्रदाता बनें। विश्ववेदा पूषा, अरिष्टनेमि ताक्ष्यं तथा बृहस्पति भी हमारे लिये कल्याण-कारक हों।

इन्द्र कौन है ? इसका विशेषण वृद्धश्रवा संकेत करता है कि यह बहुत श्रवण करने वाला विद्यार्थी है। इन्द्र आत्मा है, इन्द्रियों को संयम में रखने वाला ब्रह्मचारी है जो ब्रह्म अर्थात ज्ञान में विचरण करने वाला है। वैसे तो संस्कृत जीव जन्मजन्मान्तर से श्रवण के अभ्यासी होते हैं, पर विद्यार्थी अवस्था में तो उन्हें विशेष रूप से श्रवण का आश्रय लेना पड़ता है। जो विद्यार्थी जितना ही अधिक और तन्मयता पूर्वक अपने प्राध्यापक को सुनता है या जीवित अथवा स्वर्गीय ज्ञाननिधियों के संपर्क में उनकी कृतियों द्वारा आता है, वह उतना ही अधिक ज्ञानी बनता है। वृद्धश्रवा इन्द्र ही, बहुश्रुत विद्यार्थी ही स्वस्ति का साधक है, अल्पश्रुत नहीं। अल्पश्रुत से तो वेद, ज्ञान भयभीत होता है कि कहीं यह उसे मार न डाले, अस्वस्ति की अवस्था न उत्पन्न कर दे।

आत्मा इन्द्र को अपना विपश्चित रूप सार्थक करना है, तो उसे वृद्धश्रवा बनना पड़ेगा। तभी वह इस मरणशील तथा ज्ञान-रहित शरीर में ज्ञान का प्रकाश तथा जीवन उत्पन्न कर सकेगा और असुन्दर को सुन्दर बना सकेगा। विद्यार्थियों को ज्ञान-द्वेषियों की तो सेवा करनी ही नहीं चाहिये। ज्ञान में वर्धमान तथा विद्या-प्रेमियों की सेवा ही उन्हें विपश्चित बना सकता है। विद्यार्थी के चक्षु, श्रोत्र तथा मन उन्मुक्त हों, किसी पूर्वाग्रह में बद्ध न हों। उसकी वाणी मधुर तथा संयत हो। तभी वह ज्ञान का अर्जन कर सकेगा। विद्यार्थी विद्या का अर्थी है, तनुशुभ्रता का नहीं, शरीर की सजावट का नहीं। उसे सबसे हटकर विद्या की संगति करनी है। प्रभु ने उसे सप्तऋषि दिये हैं जो निरन्तर ज्ञानामृत के सिन्धु में डुबकी मारकर ज्ञान के बिन्दु उसके लिये ला रहे हैं। सारस्वत सिन्धु के ये बिन्दु मन के विक्षोभ, अन्तःकरण के चाञ्चल्य के लिये स्नेहमय मरहम का काम करते हैं। विद्यार्थी ब्रह्मचारी है, ज्ञान में विचरण करने वाला है। उसे ज्ञान की खोज में तपस्वी बनना है। तभी वह तप द्वारा अपने आचार्य और आचार्यों के भी आचार्य प्रभु को तृप्त कर सकेगा। विद्यार्थी को जिज्ञासु तो होना ही है। जिज्ञासा ही उसे ज्ञान-निधियों

के पास ले जायगी। उसे अप्रदर्पित, अहंकारशून्य होकर विनयभाव से अपनी जिज्ञासा उपस्थित करनी चाहिये। अभिमानी ज्ञान के क्षेत्र में ठोकरें खाता है और ज्ञान-प्राप्ति से वञ्चित रह जाता है। ग्रहण तो सब अपने-अपने मानसिक सामर्थ्य के अनुकूल ही करते हैं, पर विनयशीलता से, नम्रता से ग्रहण-शक्ति बढ़ जाती है। उसे सत्य तथा अनृत में विवेक करना चाहिये, सत्य के ग्रहण करने में श्रद्धा रखनी चाहिये और अनृत के छोड़ने में सदैव तत्पर तथा उद्यत रहना चाहिये। सत्य ज्ञान की ज्योति जिसके अन्दर जगने लगती है, उसके शोक और दुःख दूर हो जाते हैं। ज्ञान का कवच पहन कर वह समस्त प्रति-स्पर्धियों, द्वेषियों को मार भगाता है, जीवन-समर में विजयी बनता है और देवताओं का आशीर्वाद प्राप्त करता है। वह वीर्य, इन्द्रियशक्ति तथा सत्य के तेज से मण्डित हो महिमामय लोकों में विचरण करता है।

विद्यार्थी को मधु-मक्षिका बनना है। जैसे मधु-मक्षिका मधु को घेर कर बैठ जाती है, वैसे ही विद्यार्थी को ज्ञान-निधान, विद्या के सागर आचार्यों की तल्लीन होकर सेवा करनी चाहिये। सूखी लकड़ी जैसे अपने आपको अग्नि के सामने समर्पित कर देती है और आग्नेय बन जाती है, वैसे ही आचार्य रूप अग्नि के आगे विद्यार्थी अपने को समर्पित कर दे। तभी वह श्रद्धा तथा मेधा से समन्वित होकर विद्या-प्रकाश से प्रकाशित हो सकेगा। वृद्धश्रवा तथा सच्चा इन्द्र बनने का यही उपाय है।

विद्यार्थी के साथ विद्यालय में दूसरा प्रमुख स्थान प्राध्यापक का है—मंत्र में इसी क्रम से दूसरा स्थान विश्ववेदा पूषा का है। विश्ववेदा का अर्थ है, अपने विषय का विश्व-सम्पूर्ण, वेद-ज्ञान रखने वाला तथा अपने विषय के अतिरिक्त अन्य विषयों का भी ज्ञान रखने वाला। अपने विषय का पूर्ण ज्ञान तो प्राध्यापक को होना ही चाहिये, साथ ही विश्व का सामान्य ज्ञान भी उसे होना चाहिये। एक ही विषय का ज्ञान कूप-मंडूकता की कुख्याति में परिगणित होता है। अन्य विषयों का ज्ञान, अपने विषय के ज्ञान को पोषण भी देता है।

अपने विषय के संपूर्ण ज्ञान से तो प्राध्यापक को पुष्ट होना ही चाहिये। मंत्र में इसीलिये पूपा शब्द भी आया है। ज्ञान प्राध्यापक को तो पुष्ट करता ही है, साथ ही विद्यार्थी का भी पोषण करता है। ज्ञान के साथ आचार भी लगा हुआ है। जहां प्राध्यापक का ज्ञान विद्यार्थी को प्रकाशित करता है, वहां उसका आचार उससे भी अधिक प्रकाश देता है। अंग्रेजी की कहावत है—Example is better than precept—शिक्षा के स्थान पर सदाचार, उपदेश के स्थान पर उदाहरण अधिक प्रभावी होता है। विद्यार्थी जितना प्राध्यापक को सुनकर सीखते हैं, उससे कहीं अधिक उसके आचार से सीखते हैं। यदि ज्ञान के साथ आचार न हो, तो ज्ञान का प्रभाव तो पड़ेगा, परन्तु वह स्थायी नहीं होगा। आचार ज्ञान को स्थायित्व देता है। उससे उपदेश आत्मातक पहुँच कर जीवन में अंकित हो जाता है।

प्राध्यापक विश्ववेदा पूपा है। विश्व-ज्ञान को भी उससे पोषण प्राप्त होता रहता है। यदि प्राध्यापक ज्ञान का अर्जन न करे, अध्ययनशील न हो, तो वह अपने विद्यार्थी को दे ही क्या सकेगा? जो दीपक स्वयं प्रज्वलित नहीं है, वह अन्य दीपकों को प्रज्वलित नहीं कर सकता। जिसे स्वयं अध्ययन में रुचि नहीं है, वह विद्यार्थियों में रुचि कैसे उत्पन्न करेगा? जो अपना, अपने ज्ञान का पोषक नहीं है, वह थोथे ज्ञान द्वारा विद्यार्थियों का क्या पोषण करेगा?

प्राध्यापक को सारस्वत सिन्धु में अवगाहन करना पड़ता है। तभी सरस्वती, विद्या, ज्ञान-मणियों का भास्वर प्रकाश उसके सम्मुख विकीर्ण कर देती है, उसकी बुद्धियों तथा कर्मों को चमका देती है। सुमति का स्फुरण, उद्बोधन सरस्वती की ही कृपा का फल है। सरस्वती ही जीवन को यज्ञिय बनाती है। वाजिनीवती सरस्वती स्वयं पवित्र है तथा अपने उपासक को भी पवित्र करने वाली है। ज्ञान से उपेत होकर साधक सर्वावरणमल से अपेत हो जाता है। दीपित होकर जब विपश्चित की बुद्धि निर्मल हो जाती है तो प्रकाश-स्वरूप प्रभु उसमें व्याप्त हो उठते हैं। ऋत की मेधा को पकड़ कर साधक सूर्य

के समान जाज्वल्यमान हो जाता है और अपने संपर्क में आने वालों के पापों को भस्म कर देता है।

प्राध्यापक को अध्ययन के साथ विचारशील भी होना चाहिये। अपने अन्दर भरे हुये का चिन्तन तथा समागत पर उसे मनन करना चाहिये। ज्ञान इसी क्रिया से दृढ़ता तथा स्थिरता प्राप्त करता है। ज्ञान की जो विश्व-व्याप्त धारा विश्व को धारण कर रही है, वह विचारशील व्यक्ति के मस्तिष्क का स्पर्श करने लगती है और उसे अपने साथ संयुक्त करके, व्यापक रूप देकर, उसे सच्चा विप्र बना देती है। ऐसे ही विप्र अङ्गिरस अभिधान के अधिकारी होते हैं। इनका अङ्ग-अङ्ग रसधारा से आप्लुत रहता है। रसवती सरस्वती स्वयं तो आनन्दवती है ही, अपने उपासकों, विद्यार्थियों के हृदय में भी आनन्द का संचार करने वाली है।

सच्ची विद्या की प्रभा अज्ञान के कोहरे को नष्ट कर देती है, अनृत, व्यर्थ, आडम्बरमयी शब्द-जालिका, बहुभाषिता पर ताला लगा देती है और साधक के मन तथा बुद्धि को व्यापक बुद्धितत्व के साथ एक करके उसे अकेले ही लोक-मंगलकारी ज्ञानों एवं सत्कर्मों के धारण करने योग्य बना देता है। ऐसे विद्याधनी विप्र क्रान्तदर्शी तथा क्रान्तकर्मा होते हैं। वे वितत, पवित्र सहस्रधार में गोते लगाकर अपनी वाणी को पवित्र करते हैं तथा उसे प्रभविष्णु रूप देकर दूर-दूर तक पहुँचा देते हैं जिससे मानवता पवित्र होती है, उसके व्यवहार शुद्ध होते हैं और विश्व-बन्धुता का भाव जाग्रत होता है।

प्राध्यापक की वाणी, मन तथा बुद्धि दिव्य होने चाहिये। सांसारिक राग-द्वेष में भ्रमित बुद्धि उपद्रव एवं अनर्थ का कारण है। दिव्यता ही अनुशासन उत्पन्न करके रचनात्मक कार्यों में लगा सकती है।

राष्ट्र में बल अनुशासन से ही आता है। उद्दण्डता बल को ही नहीं प्रशासन को भी क्षीण कर देती है। अनुशासित व्यक्ति एवं समाज के ज्ञान और कर्म ऊर्ध्व गति करते हुये उसे आगे भी बढ़ाते हैं तथा ऊंचा भी उठाते हैं।

ऐसे समाज एवं व्यक्तित्व से निर्मित राष्ट्र क्षत्रवीर्य, सहस्रायु, सुकृत, ज्ञान-कवच से सुरक्षित तथा अन्य राष्ट्रों के लिये आदर्श स्वरूप होते हैं। इनकी संस्कृति विश्वव्यापिनी बनती है। इनकी मान्यतायें लोहे के बल पर नहीं, हृदय से स्वीकार्य होती हैं।

संयमी, सदाचारी विद्वान प्राध्यापक विश्वतोधार यज्ञ करते हैं—ऐसा यज्ञ जो सबको सब ओर से धारण करता है, किसी को किसी ओर से भी विनष्ट नहीं होने देता। कालचक्र में पड़कर आर्थिक समृद्धि, राजनैतिक प्रभुत्व भले ही तिरोहित हो जाय, पर जिस त्याग-भाव को ये प्रतिष्ठित कर जाते हैं, उसमें पतित को भी चोटी तक चढ़ा देने की शक्ति होती है। गिरी हुई जातियां इसी के बल पर अपने खोये हुए उत्कर्ष को पुनः प्राप्त कर लेती हैं।

राष्ट्र में आदर्शों की स्थापना विश्ववेदा पूषा पद के अधिकारी वरेण्य राष्ट्र-प्राध्यापक ही कर सकते हैं। वे ही राष्ट्रीय कीर्ति के जनक तथा प्रतिष्ठाता हैं। इङ्गलैंड को गर्व है कि उसके हैरो तथा ईटन के विश्वविद्यालयों ने पृथ्वीमण्डल पर ऐसे चक्रवर्ती आंग्ल साम्राज्य की स्थापना की जिसमें सूर्य कभी अस्त नहीं होता था। भारत को भी गर्व है कि उसकी हिम-विन्ध्य-अर्बुद-नीलगिरि पर्वत-मालाओं की कन्दराओं में जो प्रणवध्वनि गूंजी, जाह्नवी-यमुना-सरस्वती-सिन्धु-ब्रह्मपुत्रा-नर्मदा-गोदा-कावेरी के शान्त तटों पर जो पावन संस्कृति और सभ्यता पली-फूली और फली, वह युग-युगों तक, पृथ्वी के संपूर्ण प्रदेशों में छाई रही और आज इतने सुदीर्घ, व्यापी कालातिपात के उपरान्त भी उसके अवशेष जीवन्त रूप में सुरक्षित हैं।

मंत्र में तीसरा स्थान अरिष्टनेमि तार्क्ष्य का है। तार्क्ष्य तृक्ष का पुत्र है, सम्बन्धी है। तृक्ष का अर्थ है–तीन ऋक्षों का समुदाय। ऋक्ष का अर्थ गति में रहने वाला या गति को आश्रय देने वाला है। नक्षत्र तथा राशि भी इसके अर्थों के अन्तर्गत हैं। ज्ञानसत्र के प्रकरण में इसका अर्थ होगा तीन प्रकार की गतियों को सुरक्षित रखने वाला संचालक या प्रबन्धक तथा उससे सम्बन्धित समिति। विद्यालय में तीन गतियां तीन व्यवस्थायें हैं–आर्थिक, सुरक्षा-सम्बन्धी

तथा अध्यापन सम्बन्धी। प्रबन्धक प्रबन्धकर्तृ समिति के सहयोग से इन व्यवस्थाओं को सम्पादित करता है। इस हेतु वह तार्क्ष्य संज्ञा का पात्र है। अरिष्टनेमि का अर्थ है जिसकी नेमि या चक्रपरिधि कभी नष्ट न हो। विद्यालय में विद्यार्थी आते और जाते रहते हैं, प्राध्यापक भी अवकाश ग्रहण करते और आते जाते रहते हैं, पर विद्यालय का ज्ञानसत्र चलता रहता है। उसकी अरिष्टनेमिता अरिष्टनेमि तार्क्ष्यपद के अधिकारी संचालक या प्रबन्धक के कारण है। प्रबन्धकर्तृ समिति के सदस्य अथवा प्रबन्धक भी परिवर्तित होते रहते हैं, पर प्रबन्धकर्ता बना रहता है। विद्यालय का ज्ञानकार्य विद्यार्थी और प्राध्यापक के बीच का है। पुराने विद्यार्थी स्नातक बनकर कर्मक्षेत्र में पदार्पण करते हैं और उनके स्थान पर नवीन विद्यार्थी आ जाते हैं। निर्गत प्राध्यापकों का स्थान नवीन प्राध्यापक ग्रहण करते हैं। पर विद्यालय वही रहता है। ज्ञानदान का कार्य रुकता नहीं, चक्रनेमि की भांति चलता ही जाता है, नष्ट नहीं, अरिष्ट, गतिशील बना रहता है।

जहां ज्ञानी आदित्य कार्य करते हों, वहाँ विनाश कैसा? वह तो अरिष्ट, अविनश्वर, अक्षीण रूप में बराबर आगे बढ़ेगा, प्रजा-समृद्धि से सम्पन्न होगा, विघ्न-बाधाओं पर विजय प्राप्त करेगा। पर यह सब होगा स्वस्ति के वातावरण में। अस्वस्ति का प्रवेश होते ही ज्ञान-भवन धराशायी हो जायगा। विद्यार्थी, प्राध्यापक, प्रबन्धक-समिति यदि उपद्रव करने पर उतारू हो जांय तो विद्यालय एक दिन भी नहीं चल सकेगा। यदि स्वार्थ-पूर्ति का घुन लग गया, तो धीरे-धीरे निखिल निर्माण विध्वंस में परिणत हो जायगा। मंत्र में इसी हेतु स्वस्ति शब्द पढ़ा है। सबको स्वस्थता की, कल्याण की साधना करनी है, गड़पगीता की नहीं। परमार्थभावना, लोक-मंगल-कामना से प्रेरित होकर काम करना है, घृणित स्वार्थ-साधना की पूर्ति करना इष्ट नहीं है।

मंत्र में चौथा पद बृहस्पति का है। बृहस्पति कुलपति है। बृहस्पति का अर्थ है बृहत्, विशाल परिवार का रक्षक। प्राचीन लेखों के आधार पर कहा जाता है कि एक-एक विश्वविद्यालय में दश सहस्र तक विद्यार्थी पढ़ा करते थे।

विद्यार्थियों के अनुपात से ही प्राध्यापकों की संख्या भी रही होगी। प्रबन्धक समिति, कार्यालय के लेखक, गणक, मापक, भंडारी तथा अन्य कर्मचारियों की संख्या भी पर्याप्त रही होगी। इन सबका भरण, पालन, पोषण कुलपति करता था। उसके ऊपर इन सबका भार था। बृहस्पति का अर्थ इससे भी कुछ आगे है। वह कुलपति के रूप में शरीर-पोषण ही नहीं, ज्ञान-पोषण भी करता था। जैसे सूर्य हमारे इस ब्रह्माण्ड का कुलपति है, वह हम सब को प्राण भी देता है और प्रकाश भी, हमारा पालन-पोषण भी करता है और मार्ग-प्रदर्शन भी; उसी प्रकार बृहस्पति पालन तथा रक्षण भी करता था और ज्ञान भी देता था। वह जहाँ चक्षु के छिद्रों को भरता था, दृष्टि-दोषों को दूर करता था, वहाँ हृदय और मन के घावों को भी भरता था। वह सत्ता के सभी पक्षों की देख-भाल करता था।

बृहस्पति वाचस्पति भी है। वह वाणी का परमव्योम है। निखिल वाङ्मय पर उसका अधिकार है। बृहस्पति प्रथम जायमान है। सबका अग्रज है, सब से बड़ा है, सब से ज्येष्ठ एवं वरिष्ठ है। इसीलिये वह महः अर्थात् पूजनीय है और ज्योति का परमधाम है। अन्धकार में तो वह रह ही नहीं सकता, इच्छा भी नहीं कर सकता क्योंकि वह ऊर्ध्व दिशा का अधिपति है और ज्योति में निवास करता है। बृहस्पति सबसे ऊर्ध्व है, मंहिष्ठ है। जहाँ वह पूजनीय है, वहाँ अग्रज होने के नाते सबके लिये त्याग करने वाला भी है। जैसे सूर्य की उष्णता तथा ज्योति अपने लिये नहीं, हम सबके लिये है, ब्रह्माण्ड के सभी ग्रहों के लिये है, वैसे ही बृहस्पति की वाणी, उसकी विद्या, उसकी सम्पदा सब विद्यार्थियों के लिये है। सूर्य अपने अक्ष पर घूमता है, बृहस्पति ब्रह्म की प्रदक्षिणा किया करता है। यह चलना, यह परिक्रमण सत्ता की रक्षा के लिये अनिवार्य है।

बृहस्पति के ज्ञान और कर्म, मन और शरीर परस्पर अनुकूल रहते हैं। उसके विचार, उच्चार तथा आचार में एकता होती है। उसका व्यक्तित्व इसी कारण प्रभावी होता है। जिन गुणों की प्राध्यापक को अपेक्षा है, वे बृहस्पति

कुलपति में विद्यमान होने ही चाहिये। बृहस्पति में एक विशेषता भी होती है। यह है गुरुओं के भी गुरु परमदेव परमेश्वर का अपने अन्तर्यामी रूप में अनुभव। प्रभु उसके प्रत्येक कार्य में वास करते हैं। उनकी व्याप्ति उसके क्रियाकलाप को अर्हता देती है, प्रतिष्ठा और श्रेष्ठता देती है। उसके वचन प्रामाणिक होते हैं। जो आदेश उसके मुख से निकलता है, उसके प्रत्याख्यान करने का साहस न विद्यार्थियों में होता है, न प्राध्यापकों में।

कुलपति का कार्य आजकल राज्यपाल (गवर्नर) करता है, पर वह नाममात्र का कुलपति है। उसका न विद्यार्थियों के शरीर से सम्बन्ध है न मन से। प्रबन्ध का कार्य उसकी ओर से उपकुलपति (वाइस चांसलर) करता है, पर उसका भी छात्रों के मन तथा शरीर से कोई सम्बन्ध नहीं है। प्राध्यापक पढ़ाते हैं। विद्यार्थी के मन के साथ उनका कुछ देर के लिये सम्बन्ध हो जाता है। शरीर की चिन्ता वे भी नहीं करते। शरीर की चिन्ता तो दूर, बेचारा छात्र प्रवेश-शुल्क, अध्ययन-शुल्क, क्रीड़ा-शुल्क, भवन-निर्माण-शुल्क, पत्रिका-शुल्क, कालेज-भोज-शुल्क, पुस्तकालय-शुल्क आदि के भार के नीचे इतनी बुरी तरह दबा रहता है कि वह निश्चिंत होकर पढ़ने में मन भी नहीं लगा पाता। ज्ञान-क्षेत्र का संपूर्ण ढांचा आज विकृत है। ऐसी अवस्था में स्वस्ति की आशा करना भी व्यर्थ है। आज का छात्र छात्र नहीं, प्राध्यापक प्राध्यापक नहीं, प्रबन्धक प्रबन्धक नहीं, कुलपति कुलपति नहीं। जब राष्ट्र की भावी पीढ़ी का निर्माण ही नहीं हो रहा, तो देश का भविष्य कैसे बनेगा? पुरातन आदर्श नष्ट हो रहे हैं, नवीन आदर्श उनका स्थान नहीं ले रहे कंटकाकीर्ण विप्लव-काल में से हम सब निकल रहे हैं। कदाचित् यह विप्लव ही हमें सही रास्ते पर ले आवे।



ज्ञानसूक्त

वाणी में ज्ञान तथा ज्ञान में वाणी ओत-प्रोत है। वाणी को ज्ञान के बिना तथा ज्ञान को वाणी के बिना समझा नहीं जा सकता। अपने मूल रूप में दोनों ही मूक हैं, पर जैसे-जैसे बाहर आते हैं, वैसे ही वैसे बुद्धि, मन तथा मुख के क्षेत्र में मुखर से मुखरत्तर होते जाते हैं। वैखरी वाणी विभागमयी है, परावाणी में एकत्व है। मानव वाणी अतीव प्रभाववती एवं समर्थ है। इसने मानव जाति की प्रारम्भ से लेकर अब तक की ज्ञानधारा को सुरक्षित रखा है।

तैत्तिरीय उपनिषद्, शिक्षा वल्ली के नवम अनुवाक में स्वाध्याय तथा प्रवचन को ऋत, सत्य, तप आदि सभी के साथ संयुक्त किया गया है। स्वाध्याय तथा प्रवचन दोनों वाणी और ज्ञान से संबद्ध हैं। तप क्या है? इस विषय पर बोलते हुए सत्यवचा राथीतर ने सत्य को ही तप कहा। पौरुशिष्टि तपोनित्य ने तप को ही तप कहा। नाक मौद्गल्य ने यह पद स्वाध्याय और प्रवचन को दिया। उसकी दृष्टि में ज्ञान ही तप है। यही तप है। यही तप है। ज्ञान तप है। ज्ञान शक्ति है।

वेद भी 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यते अयनाय', 'तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योः', 'यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति' आदि पदों द्वारा ज्ञान की महत्ता पर प्रकाश डालता है। भगवद्गीता भी 'ज्ञानाग्निः सर्व कर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन', 'नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्र मिह विद्यते', 'बहूनाम् जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते', 'ज्ञानं लब्ध्वा परांशान्तिमचिरेणाधिगच्छति' आदि पदों में ज्ञान की प्रशंसा करती है। वेद का अर्थ ज्ञान है। ज्ञान की इस ख्याति से महाभारत को भी वेद कहा जाने लगा। कतिपय अन्य ग्रन्थों के सम्बन्ध में भी यही हुआ; यथा—आयुर्वेद, धनुर्वेद, गांधर्ववेद, नाट्यवेद आदि। चारों वेदों में भी वेद शब्द का प्रयोग अनेक बार हुआ है, पर वहाँ सर्वत्र ज्ञान का ही अर्थ नहीं है, धन, प्राप्ति आदि का भी है।

वेदत्रयी में ऋग्वेद को ज्ञानकाण्ड का वेद कहते हैं। इसके दशम मण्डल के ७१ वें सूक्त का देवता ज्ञान है। ऋषि हैं आङ्गिरस बृहस्पति। बृहस्पति का ज्ञान से अटूट सम्बन्ध है, ऐसा हम पीछे लिख चुके हैं। बृहस्पति अङ्गिरा ऋषि के वंश में उत्पन्न हुये थे। इसलिए उन्हें आंगिरस कहा जाता है। नीचे हम इसी सूक्त का अध्ययन प्रस्तुत करेंगे।

बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत्प्रैरत नामधेयं दधानाः।
यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत् प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः ॥ १ ॥

हे बृहस्पति ! विशाल ब्रह्माण्डों के स्वामी ! सर्वप्रथम जब आपने नामों को धारण करने वाली वाणियों को आगे प्रेरित किया तब इनमें जो श्रेष्ठ तथा निर्दोष ज्ञान पराशक्ति की गुहा में निहित था, वह इस प्रजाओं के प्रेम से गुहारूप बुद्धि में आविर्भूत हो गया।

वाणी के चार रूपों में जो प्रथम परा रूप है, वह अचिन्त्य है, उसमें समस्त ज्ञान है, समस्त नाम हैं। प्रभु की प्रेरणा से वह रचना के रूपों में अग्रसर होता है। रचना का प्रथम आविर्भूत रूप महत्तत्व या व्यापक बुद्धि तत्त्व है। इसे गुहा या ज्येष्ठ ब्रह्म या हिरण्यगर्भ भी कहते हैं। जैसे गुहा में कोई वस्तु छिपी हो, तो वह दिखलाई नहीं देती, वैसे ही यह विविधरूपा सृष्टि इस महत्तत्व के गर्भ में छिपी रहती है। पर महत्तत्व का, व्यापक बुद्धि तत्त्वरूपी गुहा का, प्रकृति से आविर्भाव तो होता ही है। वाणी का परा रूप भी इस बुद्धिरूपी गुहा के साथ पश्यन्ती रूप में प्रकट हो जाता है। प्रकृति के गुण भी बुद्धि तत्व के साथ ही प्रकट हो जाते हैं। बुद्धि तत्त्व में सत्त्व गुण की मात्रा का आधिक्य रहता है, रज तथा तम की मात्रा कम। आगे अहंकार में रज का आधिक्य हो जाता है, सत तथा तम कम रहते हैं। पञ्चतन्मात्राओं में तम की प्रधानता हो जाती है। बुद्धि तत्त्व में वाणी के जिस रूप का आविर्भाव होता है, वह भी सत्त्व-प्रधान है। मंत्र में इसीलिये उसे श्रेष्ठ तथा निर्दोष नाम दिया है। परा रूप में तो उसका एकान्त श्रेष्ठ रूप है ही।

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत ।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मी र्निहिताधिवाचि ॥ २ ॥

व्यापक बुद्धि तत्त्व के पश्चात अहंकार से मन की उत्पत्ति होती है। व्यष्टि बुद्धि तथा व्यष्टि मन इन्हीं व्यापक बुद्धि तथा मन के अंश हैं। अहंकार भी व्यापक अहंकार का ही भाग है। रचना में बुद्धि तत्त्व के उपरान्त ही विभिन्नता प्रकट होने लगती है। पञ्चतन्मात्राओं में वह स्पष्ट हो उठती है। पर यहां तक सगुणता ही रहती है। पांचमहाभूतों के साथ स्थूलता तथा आकार का प्रारम्भ होता है और साकार सृष्टि का रूप दिखाई देने लगता है।

मंत्र के अनुसार बुद्धि में आविर्भूत परावाणी के पश्यन्ती रूप के पश्चात मन में उसका मध्यमा रूप प्रकट हुआ। बुद्धि के समय दर्शन था। अब मन के साथ विश्लेषण चलने लगा। चलनी या सूप से जैसे सत्तू को साफ किया जाता है, उसके छिल्के या भूसी को हटा दिया जाता है, वैसे ही धीर पुरुष मन में वाणी को परिष्कृत करते हैं, मन अहंकार से उत्पन्न हुआ है। अहंकार रजःप्रधान है, सदोष है, अतः वाणी के मध्यमा रूप में भी रज का अंश विद्यमान है। मनीषी विद्वान मनन द्वारा इस मध्यमा वाणी के दोष को दूर करके उसका प्रयोग करते हैं। वाणी के सखा यहीं वाणी की मैत्री को पहिचान पाते हैं। इनकी वाणी में भद्रा लक्ष्मी निहित रहती है। लक्ष्मी लक्षित करने वाली है। मध्यमा वाणी में अर्थ लक्षित होने लगते हैं। पश्यन्ती वाणी में उनका दर्शन रूप था, सूक्ष्म मध्यमा में अर्थों में पार्थक्य लक्षित होने लगा। वाणी का भी रूप तो आत्मा के साथ परा रूप में था। पश्यन्ती में उसका आविर्भाव हुआ और मध्यमा में वह पृथक-पृथक रूप से लक्षित या संकेतित या इङ्गित होने लगा। पश्यन्ती रूप में सखा-भाव भी नहीं था। मैत्री तो तभी होगी जब कोई वस्तु या व्यक्ति अपने से पृथक खड़ा दिखाई दे, लक्षित होने लगे। पश्यन्ती की सगुणता के उपरान्त मध्यमा के वैभिन्य में ही इसका भान होता है। सखा— समान इन्द्रियभाव—इसी क्षेत्र की उपज है।

अब तीसरे मंत्र में वैखरी वाणी का वर्णन किया जाता है :—

यज्ञेन वाचः पदवीयमायन् तामन्वविन्दन् ऋषिषु प्रविष्टाम् ।
तामाभृत्या व्यदधुः पुरुत्रा तां सप्तरेभा अभि सं नवन्ते ॥ ३ ॥

जब तक वाणी मन में है, मध्यमा रूप में है, तब तक वह छिपी है । मुख के बाहर नहीं आई । मन ने लक्षित तो की, पर अब भी वह प्रविष्ट है । बुद्धि की पश्यन्ती के साथ देवयज्ञ चला था । मन की मध्यमा के साथ ऋषि भी यज्ञ करने लगे । अभी मंत्रोच्चारण-पूर्वक भौतिक यज्ञ करने का समय नहीं आया । मानसिक यज्ञ चल रहा है । वेद मंत्र परम व्योम से उतर कर महत्तत्व में होते हुए मन तक आ गये हैं । अभी उनको वैखरी वाणी का रूप प्राप्त नहीं हुआ है । यह रूप कैसे प्राप्त हो ? मंगलमयी वेद वाणी छन्दों के परिधान में पृथक-पृथक शब्दों द्वारा, स्वरों द्वारा कैसे गृहीत हो, इसके लिये यज्ञ ही सुलभ साधन था । यज्ञ द्वारा वाणी की इस पदवी को, भूमि को, स्थान को खोजा गया और उसे ऋषियों की मनोभूमि में प्रविष्ट हुआ पाया गया । उस पुनीत वेद वाणी को, ज्ञानगर्भ-गिरा को आभृत्य, सब ओर से भरकर, चारों ओर से ग्रहण करके, पुरुत्रा-बहुत रूपों में, व्यदधुः—विभक्त कर दिया । शब्द-शब्द अलग हो गये । जो संहित थी, वह विभाजित हो गई । जो एक था, वह चतुर्धा हो गया । बुद्धि में दिखाई दिखायी नहीं पड़ा था, मन में दिखाई देने लगा, अब जिह्वा द्वारा, कण्ठ और मुख द्वारा वह उच्चरित होने लगा और श्रवण द्वारा सुनाई पड़ने लगा । ये सप्त रेभा, सात छंद उसी पुनीत वाणी की स्तुति कर रहे हैं ।

वेद मंत्र उच्चरित हो रहे हैं, सुनाई भी पड़ रहे हैं, पर क्या वे वस्तुतः दिखाई देते हैं ? वस्तुतः सुनाई देते हैं ? हां, पर सबको नहीं—

उतत्वः पश्यन् न ददर्श वाचमुतत्वः शृण्वन् न शृणो त्येनाम् ।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्ये उशती सुवासाः ॥ ४ ॥

कुछ लोग देखते हैं, मंत्रोच्चारण हो रहा है या मंत्र पुस्तक में लिखे हुए

हैं, पर देखते हुए भी वे इस वाणी को देख नहीं पाते। कुछ लोग सुनते हैं पर सुनते हुए भी वे इस वाणी को सुन नहीं पाते। उनके लिये वेद मंत्र वैसे ही हैं, जैसे 'भैंस के आगे बीन बाजे, भैंस खड़ी पगुराय। पर कुछ ऐसे भी हैं, जिन्हें वेद मंत्र दिखाई देते हैं, सुनाई देते हैं, जिन्हें वे समझते हैं, हृदयंगम करते हैं और फिर तदनुकूल आचरण करते हैं। इनके लिये वाणी अपने रूप को वैसे ही खोलकर रख देती है, जैसे सुवासिनी, कामयमाना प्रिया अपने प्रिय के आगे अपने शरीर को प्रकाशित कर देती है। अब वाणी-व्यवहार के सम्बन्ध में कहते हैं :—

उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुः नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु।
अधेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवाँ अफलाम पुष्पाम् ॥ ५ ॥

कुछ व्यक्ति ऐसे हैं जिनको वाणी की मित्रता में स्थिरपीत कहा जाता है। इनको बड़े-बड़े समारोहों या समरों में भी नहीं छोड़ा जा सकता। इनके अन्दर वाणी की मैत्री पी ली गई है और स्थिरतापूर्वक आसन जमाकर बैठ गई है। ऐसे सच्चे मित्रों को भला कोई कैसे छोड़ सकता है? पर जिन्होंने अफला और अपुष्पा अर्थात निस्सार वाणी को सुना है, उनके सामने यह मायाविनी झूठी धेनु के समान आचरण करती है। अथवा ऐसे व्यक्ति ही मिथ्या मायामयी अधेनु हैं। इनसे जनता का कोई लाभ नहीं होता। जनता इन्हें पूछती भी नहीं। वाणी के सुन्दर प्रयोक्ता को, वाणी के मान्य मित्र को सब शिर आँखों पर लेते हैं, सम्मान देते हैं, निस्सार वाणी बोलने वाले अपमानित होते हैं।

यस्तित्याज सचिविदं सखायं न तस्य वाच्यपि भागो अस्ति।
यदीं शृणोत्यलकं शृणोति न हि प्रवेद सुकृतस्य पन्थाम् ॥६॥

जो सत्य ज्ञान रखने वाले सखा को छोड़ देता है अथवा सत्य ज्ञानमयी वेदवाणी रूप मित्र का परित्याग कर देता है, उसकी वाणी में से सेवनीय अंश निकल जाता है। वह जो कुछ सुनता है, वेद के अतिरिक्त अन्य वागियों, पौरुषेय ग्रन्थों, शास्त्रों को सुनता या पढ़ता है, उसका सुनना और पढ़ना व्यर्थ

है, क्योंकि वह सुकृत के, पुण्य के पथ को नहीं जान पाता। अन्यत्र भी वेद का आदेश है :—"अपक्रामन् पौरुषेयाद् वृणानो दैव्यं वचः"। लौकिक पक्ष में अर्थ होगा :—जो सत्यज्ञानी सखा की संगति में नहीं रहता, उसे पुण्यपथ का ज्ञान नहीं हो पाता। उसका बोलना या सुनना दोनों ही व्यर्थ जाते हैं।

मनोगति की असमता

अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो मनो जवेष्वसमा बभूवुः।
आदघ्नास उपकक्षास उत्वे ह्रदा इव स्नात्वा उत्वे ददृशे ॥ ७ ॥

सभी मानव सखा हैं, समान इन्द्रियों वाले हैं, सबके पास आंखें और कान हैं, पर मन की गति सब की एक समान नहीं है। मन को मानस कहते हैं। मानस एक अर्थ मानसरोवर भी है। पर यह मानसरोवर किसी का गहरा और किसी का उथला है। किसी का मानस ऐसा सरोवर है जिसमें घुटने तक जल है, किसी का ऐसा है जिसमें कमर तक जल है और किसी का ऐसा है जैसे एक अथाह गंभीर ह्रद हो जिसमें खूब डुबकी मार कर स्नान किया जा सके। मन की गति ही मानव को उच्च-नीच कोटियों में विभाजित कर देती है। शरीर के अन्दर मन की स्थिति मध्य में है। एक ओर उसका ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों तथा शारीरिक चेष्टाओं से सम्बन्ध है तो दूसरी ओर उसका बुद्धि तथा आनन्दमय कोष से सम्बन्ध है। उसका प्रभाव दोनों दिशाओं पर पड़ता है। इसी हेतु उसे मानवता का मापदण्ड या कसौटी माना गया है।

इस मंत्र में मनोगति की तीव्रता एवं मन्दता की उच्चावच स्थितियों का कारण कहा गया है। अब आगे के मंत्र में मनोगति तथा भावमयता की समानता में भी बुद्धि या ऊहा की असमानता के कारण ब्राह्मण-भेद का वर्णन किया जाता है :—

बुद्धि की असमता

ह्रदा तष्टेषु मनसो जवेषु यद् ब्राह्मणाः संयजन्ते सखायः।
अत्राह त्वं विजहु वेद्याभिः ओह ब्रह्माणो विचरन्ति उत्वे ॥ ८ ॥

जब हृदय की सान पर चढ़ कर, भावना से तीव्र किये गये मनोजवों में, मन की गतियों अर्थात् संश्लेषण-विश्लेषण में समान-ज्ञान वाले सखा ब्राह्मण जुटते हैं, संयुक्त होकर यजन करते हैं, तब कुछ तो वेद्यों, ज्ञातव्य लक्ष्यों से पीछे छूट जाते हैं, वेद्य लक्ष्य तक नहीं पहुँच पाते और कुछ जो ओह-ब्रह्मा हैं, ऊहा-सूझबूझ-कल्पना शक्ति के धनी हैं, वे ज्ञानानन्द में मग्न होकर विचरण करते हैं।

समान मन तथा समान हृदय (भाव) वाले ब्राह्मण भी बुद्धि अथवा कल्पना शक्ति की असमानता के कारण परावर कोटियों में परिगणित किये जाते हैं। प्रत्यक्ष परीक्षण तथा प्रयोगों की बात करने वाले आधुनिक वैज्ञानिक भी कल्पना शक्ति के महत्व को स्वीकार करने लगे हैं और उसका वैज्ञानिक अनुसंधानों में उपयोग भी करते हैं।

उभयलोक भ्रष्ट

इमे ये नार्वाङ्० न परश्चरन्ति, न ब्राह्मणासो न सुतेकरासः।
त एते वाच मभि पद्य पापया सिरीस्तंत्रं तन्वते अप्रजज्ञयः ॥९॥

जो न उधर ही चलते हैं न उधर, न लोक को ही सम्हालते हैं, न परलोक को, न वेदपाठी, ब्रह्मवादी, स्तोता ब्राह्मण ही हैं और न सोमयाजी अथवा यज्ञों द्वारा स्वर्ग की साधना करने वाले, वे इस वाणी को प्राप्त भी कर लें, फिर भी इसके वरदान से, फलभोग से वञ्चित ही रहेंगे, क्योंकि वे पाप-बुद्धि हैं, अप्रजज्ञि हैं, मूर्ख हैं, और केवल हल चलाकर कृषि का विस्तार कर सकते हैं।

ब्राह्मण के लिये दो ही मार्ग श्रेयस्कर हैं, या तो वह यज्ञ करे या ज्ञानी बने। जो इन दोनों में से एक भी मार्ग पर नहीं चलता, किसी को भी नहीं अपनाता, वह उभयतोभ्रष्ट मूर्ख किसान के समान है।

सुतेकरासः में मन की प्रधानता है और ब्राह्मणासः में बुद्धि की।

यज्ञ रूपी सखा

सर्वे नन्दन्ति यशसागतेन सभासाहेन सख्या सखायः।
किल्बिषस्पृत् पितुषणिर्ह्येषामरंहितो भवति वाजिनाय ॥ १० ॥

जब सभासाह, सभा में मान देने वाला, सभ्यों में परिगणित करने वाला यश रूपी सखा आता है, तो सभी सखा आनन्दित होते हैं, क्योंकि यश किल्बिष को, पाप को नष्ट करने वाला है, अन्न की, समृद्धि की प्राप्ति कराने वाला है, हितकारी है और बल की प्राप्ति के लिये भी शोभनसाधन है। वेद वाणी यश देती है, पर तभी जब या तो उसका विनियोग यज्ञकर्म में किया जाय, या उसके द्वारा ज्ञान प्राप्त करके उसका प्रचार किया जाय। ज्ञान के भी दो ही प्रयोग हैं—दर्शन तथा पुण्यकर्म; स्तोता भक्त बनना तथा विनयभाव पूर्वक वेद का पढ़ना और पढ़ाना अथवा चातुर्मास्य, इष्टा पूर्त, वाजपेय, सोम, सौत्रामणि आदि यज्ञों का अनुष्ठान करना। ज्ञान के, वेद वाणी के दोनों ही प्रयोग कीर्तिकर हैं, इस लोक तथा परलोक को बनाने वाले हैं।

याजक ब्राह्मणों के चार भेद

ऋचांत्वः पोषमास्ते पुपुष्वान् गायत्रंत्वो गायति शक्वरीषु।
ब्रह्मात्वो वदति जातविद्यां यज्ञस्य मात्रां विमिमीत उत्वः ॥ ११ ॥

ऋग्वेदी होता ऋचाओं की पुष्टि को बार-बार पोषण देता है, बार-बार ऋचा-पाठ करता है, सामवेदी उद्गाता शक्वरी छन्दों में गायत्र (सामगान) को गाता है, अथर्ववेदी ब्रह्मा जातविद्या का उपदेश करता है, (जात विद्या-जात-उत्पन्न अर्थात् सृष्टि की विद्या है, विज्ञान है—ब्रह्मा विज्ञानी होता है—ब्रह्मा से सृष्टि का आविर्भाव भी हुआ है—ब्रह्मा चतुर्वेदविद् होता है, पर विशेष रूप से वह अथर्ववेद का ज्ञाता है।) और यजुर्वेदी अध्वर्यु यज्ञ वेदी, समिधा, हवि आदि यज्ञ की सामग्री का प्रबन्ध करता है। मात्रा, अर्थात् परिमाण या विस्तार, यज्ञ-वेदी की माप आदि का द्योतक है।

ज्ञान सूक्त का जो अध्ययन ऊपर प्रस्तुत किया गया है, वह वेद वाणी से विशेषतः सम्बन्ध रखता है। वेदवाणी दैवी वचन है। इसके अतिरिक्त लौकिक वाणी भी है जो कई प्रकार की है। ज्ञान और विज्ञान यद्यपि दोनों प्रकार की वाणियों में निबद्ध किये जा सकते हैं, पर जो अभिव्यक्ति या उपन्यास उन्हें दैवी वाणी में प्राप्त है, वह तथ्य के अधिक निकट है। लौकिक वाणियों में वैसा अभिव्यक्ति-सामर्थ्य नहीं है। साथ ही हमें यह भी स्मरण रखना चाहिये कि वेद वाणी की शणित भाषा को समझ कर निश्चित विचार-धारा को पकड़ लेना सरल कार्य नहीं है। एक ही शब्द अर्थ की नाना दिशायें प्रकट करता है। कहीं-कहीं तो विशेषण सहायता के लिये उपस्थित हो जाते हैं, पर जहां नहीं होते, वहां सुकरता नहीं, कठिनाई का सामना करना पड़ता है। उस समय बहुश्रुतता काम देती है। ऋषियों ने मंत्रदर्शन करके मन्त्रों के ऊपर जो देवता लिख दिये हैं, और मन्त्रों के साथ ही उन्हें सम्बद्ध कर दिया है, उनसे भी अर्थ का दिशा-संकेत हो जाता है। कभी-कभी मन्त्र का कोई शब्द ही अर्थविशेष की सूचना दे देता है। पर सबसे बढ़कर तो प्रभु की कृपा है। यदि उनके साथ सम्पर्क रहे तो अर्थ का प्रकाश हो उठता है।

ज्ञानसूक्त वाणी के आविर्भाव के साथ प्रारम्भ होता है। वाणी बुद्धि-क्षेत्र से चलकर मनोभूमि में प्रवेश करती हुई कण्ठ-तालु आदि द्वारा वैखरी वाणी में आकर विविध रूपों में विभक्त हो जाती है। वाणी के साथ ज्ञान भी चलकर बोध तथा मनन का रूप धारण करता हुआ विज्ञान में परिणत हो जाता है। यह केन्द्र का परिधि तक वितान या विस्तार है। मन तथा बुद्धि ज्ञान के विशिष्ट केन्द्र हैं। यश उसका पुत्र है जो या तो ज्ञान के आचार में परिणत होने पर प्रकट होता है, या बुद्धि के वैभव में दृष्टिगोचर होता है। जिसे न मन का उत्कर्ष प्राप्त है, न बुद्धि का नैर्मल्य, वह मूढ़, शारीरिक श्रम द्वारा अपना जीवन-निर्वाह करता है। यश उसके भाग्य में नहीं बदा है। वाणी के व्यवहार में भी कुशलता सम्पादित करनी चाहिये। निस्सार नहीं, सारगर्भ वाणी का उच्चारण करना ही व्यवहार को सुगम एवं सुन्दर बनाता है। वाणी

का ऐसा प्रयोक्ता सभी आयोजनों में स्मरण किया जाता है। वाणी प्रभाववती है, परन्तु उसके प्रभाव का बल उसके सफल प्रयोग में निहित है।

वाणी और ज्ञान अन्योन्याश्रित हैं—एक दूसरे में ओतप्रोत हैं। मन में छानकर वाणी के प्रयोग करने का अर्थ है ज्ञान की शाखा अर्थात् विश्लेषण से काम लेना। विश्लेषण व्यर्थता को बाहर निकाल देता है, और सारभूत तत्व को रहने देता है। संश्लेषण की क्रिया भी चलती है जो एक सार को, एक सत्य को उसकी खण्डना से निकाल कर समग्र, अखण्ड के साथ संश्लिष्ट कर देती है, एक कर देती है। बुद्धि निर्णायिका है। मन के विविध संकल्प-विकल्पों में से वह एक को चुन लेती है। जैसे मन के क्षेत्र में मानव असमान हैं, वैसे ही बुद्धि के क्षेत्र में भी। बुद्धि के सबसे ऊचे स्तर पर ऐक्य है, सामरस्य है, पर वहाँ सबकी पहुँच नहीं हो पाती। वह प्रज्ञा के प्रकाश का क्षेत्र है।

ज्ञान के आधार पर हम ब्राह्मणों या ज्ञानियों के चार भेद कर सकते हैं। एक स्नोता हैं, गुण-दोष का विवेचन करने वाले दार्शनिक हैं। दूसरे कलाकार हैं। आनन्द की सृष्टि करना इनका उद्देश्य है। भाव इनका आधार है। एक विज्ञानी हैं, सृष्टि की विविधता, ज्ञान की विरूपशाखाओं का अध्ययन करना इनका उद्देश्य है। एक याजक हैं। यज्ञ करना और कराना इनका काम है। यज्ञ को श्रेष्ठतम कर्म कहा गया है। आचार पर इनकी विशेष दृष्टि रहती है। पुण्यकर्मों का सम्पादन इनका ध्येय है।

भारतीय ज्ञानधारा एक से अनेक शाखाओं में फूटती हुई पुनः अनेक को एक की ओर ले जाती है। "एकत्वमनु पश्यतः" उसका आदर्श है। नाना नाम-रूप जो सृष्टि में परिलक्षित होते हैं, उनका 'नामधा एक एव' धारण करने वाला एक ही है। एक है, तब तक अरिष्टता है, श्रेष्ठता है, बहुत की ओर चलते ही रिप्र घेर लेता है। उसे पुनः श्रेष्ठता देने के लिये एकत्व को अपनाना पड़ता है।

वेद बहुत्व का तिरस्कार नहीं करता, क्योंकि वह एक मूल का ही तो

विस्तार है। परिधि अपने केन्द्र को याद रखती है, बहुत्व एकत्व की स्तुति करता है, यह सृष्टि अपने स्रष्टा का गुणगान कर रही है। सात स्वर, सात छन्द एक ओ३म् अक्षर के स्तवन में लीन हैं। अक्षर त्रिमात्रिक होकर वेदत्रयी तथा काण्डत्रयी का रूप धारण कर लेता है। अन्त में सब उसी में लीन हो जाते हैं, क्रीड़ा से थक कर विश्राम पाते हैं।

ओह ब्रह्माणो विचरन्ति उत्वे



शुचिता

अग्निः शुचिव्रततमः शुचिर्विप्रः शुचिःकविः। शुचो रोचत आहुतः।
(ऋ० ८-४४-२१)

परम गति, परम ज्ञान, परम प्रकाश जहां है, वहीं परम शुचिता भी है। साधक शुचिव्रत होता है। वह पवित्र होने का व्रत लेता है, परन्तु स्वयं शुचिता ने जिसे वरण किया हो और ऐसों में भी जो सबसे श्रेष्ठ हो, वह शुचिव्रततम परम देव ही है। हम शुचिव्रत होकर शुचि बनते हैं। इस व्रत में ज्ञान, भाव तथा कर्म तीनों हमारी सहायता करते हैं, क्योंकि तीनों में पावमानी शक्ति है। वैसे तीनों अपावनता की ओर भी ले जा सकते हैं, परन्तु तभी जब वे अपावन प्रयोक्ताओं के हाथों में हों। साधना में निरत साधक के लिये वे पावक का ही कार्य करते हैं। 'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते—'ज्ञान के सदृश पवित्र यहां अन्य कौन है? जहां कर्म को कीचड़ कहा गया है, वहां कर्म वासनाओं से तथा इन्द्रियार्थों से प्रेरित होता है। निष्काम तथा आसक्ति-रहित कर्म को कोई भी विद्वान अपवित्र नहीं कहता और यदि शुभ कामना कर्म के साथ लगी हो, तब भी वह अपवित्र नहीं होगा। फिर कर्म ज्ञानपूर्वक होता है। साधक समझ बूझकर नियत कर्म-पथ पर प्रयाण करता है। यह ज्ञान उसके कर्म को अपवित्र रहने ही नहीं देता। ज्ञान वह पावक है जिसके साथ रहने से अपवित्र कर्म (जिसे कर्दम कहा जाता है) भस्म हो जाता है। कर्म इसलिए भी पावक है क्योंकि वह साधक को साधना-पथ पर प्रगतिशील करता है। यजुर्वेद के ४० वें अध्याय के द्वितीय मंत्र में ऐसे कर्म को निर्लेप कहा गया है। कर्तव्य केवल कर्तव्य के लिये करना ऐसा साधन है, साधक के हाथ में ऐसा अमोघ अस्त्र है, जो उसे किसी भी पदार्थ के साथ आसक्त नहीं होने देता। यह एक अनुपम एवं मूल्यवती सिद्धि है। अतः कर्म को भी हम

पावक की संज्ञा देते हैं। भावतो मूलतः पावक है, अर्मीद पावक है। यहीं से ज्ञान तथा कर्म के तन्तु प्रस्त होते हैं और मूल से संयुक्त रहकर पवित्र बने रहते हैं। जब वे मूल का परित्याग कर देते हैं और अहमहमिका से प्रेरित होने लगते हैं तब दोनों ही अपवित्र हो जाते हैं। वेद ऐसे ही ज्ञान को पापीयसी बुद्धि तथा ऐसे ही कर्म को दुरिष्टि की संज्ञा प्रदान करता है। साधक का कार्य ही मूल को पकड़ना है। अतः उसके ज्ञान, कर्म एवं भाव तीनों ही पवमान होते हैं। ऊपर उद्धृत मंत्र में विप्र शब्द ज्ञान का वाचक है, कवि शब्द भाव का द्योतन करता है और आहुतः शब्द से कर्म ध्वनित होता है। तीनों साधन हमें शुचिता की ओर ले जाने वाले हैं। जो स्वयं शुचि होगा, वही तो शुचिता का संचार करने तथा कराने में समर्थ होगा। अशुचि तो अपावनता का ही कारण बनेगा।

संसार में तम की, निद्रा की, प्रमादालस्य की, मोह की बहुत अधिक मात्रा है। रज की, चाञ्चल्य की, दौड़-धूप की, राग-द्वेष की मात्रा भी उससे कम नहीं है। दोनों ही अपावन हैं, पर प्रथम की अपेक्षा दूसरे की अपावनता अधिक क्लेशकारिणी है। प्रत्येक व्यक्ति के साथ तम तथा रज दोनों ही चिपटे हैं। साधक इन दोनों की ही अपावनता से मुक्ति चाहता है। वह भाव-विभोर होकर प्रभु से प्रार्थना करता है :—

स्वामिन् रजः परिचितं चपलस्वभावं
जात्या मलीमसमिदं हृदयं मदीयम्।
त्वत्पादपद्मविषये कृतपक्षपातम्
धत्ते प्रमोदभरनिर्भरभृङ्गलक्ष्मीम्॥

स्वामिन्, मेरा हृदय रजोगुण से परिचित और चंचल स्वभाव का है, साथ ही जाति से मलीमस है, मलिनता से ओतप्रोत है, कालिमा से आवृत है, पर आज यह भ्रमर का रूप धारण कर रहा है। भ्रमर भी तो जाति से काला, कमल की रज अर्थात् पराग से परिचित और एक नहीं अनेक पुष्पों पर गूंजने वाला अतएव चपल होता है। पर जैसे भ्रमर के पंख कमल पर गिरते हैं, मेरा

हृदय भी वैसे ही, आपके पाद-पद्मों पर गिर रहा है। उसका पक्षपात कमल पर है, तो मेरा आपके चरणों पर। अतएव अत्यन्त प्रमोद के भार से परिपूर्ण हुआ आज यह इस तमोमयी एवं रजोमयी भृङ्ग की लक्ष्मी (मुद्रा, शोभा) को धारण कर रहा है।

कवि का तात्पर्य है कि तम और रज को अपावनता प्रभु के चरणों की शरण ग्रहण करने से ही मिट सकेगी। आचार्य शंकर भी यही कहते हैं :—

अयः स्पर्शे लग्नं सपदि लभते हेमपदवीम्
यथा रथ्या-पाथः शुचि भवति गंगौघमिलितम्।
तथा तत्तत्पापैरतिमलिनमन्तर्मम यदि
त्वयि प्रेम्णासक्तं कथमिव न जायेत विमलम्॥

नाथ! लोहा पारस पत्थर को छूते ही तत्काल स्वर्ण में परिणत हो जाता है। नालियों का गन्दा पानी गंगा के प्रवाह में मिलते ही पवित्र हो जाता है। इसी प्रकार पापों के कारण मलिन पड़ा हुआ मेरा अन्तःकरण जब प्रेमपूर्वक आपके साथ चिपट जायगा तो क्या वह निर्मल नहीं बन जायगा?

वेद में अनेक बार दुरित, अंहस्, एनस्, पाश, अमीव, अमाहुति, अराति, दुर्विदत्र, अघ, द्वेष, ह्वर, आगः आदि अशुचि के विविध रूपों से मुक्त होने के लिये प्रार्थनायें आती हैं। प्रार्थना भक्ति काण्ड का ही एक अङ्ग है। जिन प्रार्थनाओं में भद्र, सुवित, शुचि, स्वस्ति, सुविदत्र, अनेहस्, स्वस्ति, शम् आदि को प्राप्त करने के लिए निवेदन है, उनमें भक्ति काण्ड के साथ पवित्र कर्मकाण्ड भी संयुक्त है। अदिति की अखंडनीय अवस्था प्रभु के व्रत में निवास करने से ही प्राप्त होती है। प्रभु की समीपता सभी पापों को दग्ध कर देती है। उसके नैकट्य की अनुभूति निखिल संकटों से पार करने वाली है। अतः भक्ति-भावना, उपासना, प्रभु का भजन, शरणागति, प्रपन्नता ऐसे साधन हैं जो अशुचि को शुचि बना सकते हैं। प्रभु शुचि ही नहीं, शुचितम हैं। उनसे बढ़कर यहां शुचि और कौन है? ऐसे पवित्रतम प्रभु का संपर्क जीवात्मा को निस्सन्देह पवित्र बना देगा।

भक्ति की ओर उन्मुख होने के लिये आवश्यक है कि हम अपने ऊपर किसी अंकुश का अनुभव करें। सबसे बड़ा अंकुश मृत्यु का है। हम पल-पल में ऐसी भावना जागृत करें कि मृत्यु हमारे शिर पर खड़ी है। न जाने वह कब आ जाय और हमें इस शरीर को छोड़कर चल देना पड़े। अतएव क्षण-क्षण में धर्म अथवा कर्तव्य-पालन की प्रेरणा हमें सत्पथ पर अग्रसर करती रहे। यज्ञ को सत्पथ का प्रतीक समझा गया है। हमारा जीवन यज्ञिय बने, दिव्यता का वरण करे, देवों की, दिव्यगुणों एवं भावों की संगति में रहे, अदान आदि की दूषित धाराओं के साथ हमारा सपर्क न हो; ऐसा जीवन व्यतीत करने से तम एवं रज दोनों ही शान्त हो जायँगे और सत का आविर्भाव होने लगेगा जो शुचिता एवं पवित्रता का जनक है। मृत्यु का अंकुश हमें पाप-पथ पर चलने से रोकेगा तथा धर्म-पथ पर चलने के लिये प्रेरित करेगा। 'गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत्।'

इसी के साथ एक अन्य दृष्टि का भी उन्मेष होगा। वह दृष्टि है—प्रभु के संदर्शन में जीवन व्यतीत करना। मैं जहां कहीं भी जाऊं, जो कुछ काम करूं, जिस समय भी करूं, यदि यह अनुभूति मेरे अन्दर सक्रिय रही कि प्रभु मुझे देख रहे हैं, तो मैं पापसे बच जाऊंगा, अपवित्रता में नहीं पड़ूंगा और निश्चित रूप से शुचिमार्ग-गामी बन जाऊंगा।

प्रभु वैसे भी सबको देख रहे हैं। आवश्यकता है कि हम उनके इस संदर्शन को अनुभव करें। वे तो विश्वतश्चक्षु हैं ही। उनसे छिपा ही क्या है। चाहे जितना छिपकर कोई काम करे और चाहे जहां, चाहे जिसकाल में, पृथ्वी पर, द्यौ पर, आज या कल या कभी, वह सर्व व्यास प्रभु की दृष्टि से ओझल नहीं रह सकता। प्रभु सबके कर्मों के अध्यक्ष हैं,—'कर्माध्यक्षः सर्व-भूताधिवासः'। वे सबके साक्षी हैं, 'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च।' वे विश्वविद् हैं, 'अग्ने कविः काव्येनासि विश्ववित्'। वे सबके ज्ञाता हैं। उनसे छिपा कुछ भी नहीं है। सामरस्य की अवस्था में हम सब को भी ऐसा ही प्रतिभासित होता है, पर जब अहंकार, मोह और लोभ आ दबाते हैं, तो हम इस आभास से भी

वंचित हो जाते हैं। अतः यह अनुभूति हमारी सतत संगिनी नहीं रह पाती। यदि इस भावना को निरन्तर अपने साथ रखें, तो निस्सन्देह हमारी प्रवृत्ति पाप की ओर न हो और हम उस परम शुचि के साथ निवास करना सीख लें।

प्रभु-संदर्शन यदि हमारा साथी बन गया तो हम प्रभु की शक्तिमत्ता की छाया में अपने को निर्भय अनुभव करने लगेंगे। शुचि का संसर्ग हमें शुचि ही नहीं सबल भी बना देगा। प्रभु से पृथक् होना ही तो मृत्यु है। अपवित्र बनना, पापी बनना ही तो मरण है। यदि हम शुचि तथा पवित्र बन गये, तो मरण तो स्वयं मर गया। वह हमें क्या मारेगा? हमारे हाथ में तो जीवन है। अभय ही अभय है, शक्ति ही शक्ति है। प्रभु के साथ रहते हुए' (दृते दृंह मा ज्योक्ते संदृशि जीव्यासम्। ज्योक्ते संदृशि जीव्यासम्।) 'हम दिन-रात, आगे-पीछे ऊपर-नीचे, अन्दर-बाहर सदैव-सर्वत्र निर्भयता एवं सबलता का अनुभव करते हुए, निर्द्वन्द्व विचरण करेंगे। सौमनस या प्रसन्नता ही हमारे साथ रहेगी, दुःख-दर्द दूर हो जायँगे और अद्भुत चैतन्य, निर्मल-कान्ति-पूर्ण आह्लाद हमारे मुखमंडल पर विराजमान रहेगा।

> अयं कविः अकविषु प्रचेता मर्त्तेष्वग्निः अमृतो निधायि।
> स मा नो अत्र जुहुरः सहस्वः सदात्वे सुमनसः स्याम॥

हम सब अकवि हैं, विशुद्ध चैतन्य से कोसों दूर, हमें दिखाई देता ही कितना है, पर प्रभु तो कवि हैं, द्रष्टा हैं, प्रकृष्ट चैतन्य से ओतप्रोत हैं। हम मर्त्य हैं, मृत्यु की चपेटें खाने वाले हैं, भयाक्रान्त, एक स्थान से दूसरे स्थान पर, एक योनि से दूसरी योनि में, भय से त्राण पाने के लिए, एक को छोड़कर दूसरे की शरण में जाने वाले। पर उस अमृत स्वरूप प्रभु को छोड़कर यहाँ अन्य कौन शरण दे सकता है? अतः सबको छोड़कर उसी एक की शरण ग्रहण करना चाहिये। उसी का पल्ला पकड़ना चाहिये। वही सहस्व है। सहनशक्ति उसी की, अपनी, है। परम बल उसी के पास है। वह हमें न छोड़े, जिससे हम सदैव उसकी छाया में रहते हुए प्रसन्नता का अनुभव करते रहें।

तस्य वयं सुमतौ यज्ञियस्य अपि भद्रे सौमनसे स्याम।
स सुत्रामा स्ववाँ इन्द्रो अस्मे आराच्चिद् द्वेषः सनुतर्युयोतु ॥

हमारी बुद्धि उस प्रभु के साथ एक हो। उस यज्ञिय, परम पूज्य प्रभु की सुमति में हमारा निवास हो। वही हमारा प्रेरण एवं नियंत्रण करें और उन्हीं के कल्याणकारी सौमनस में हमारा जीवन व्यतीत हो। हम प्रसन्न रहें, आह्लाद का अनुभव करते रहें, पर यह प्रसन्नता भद्र हो, किसी संगी-साथी की अप्रसन्नता, रोष एवं ईर्ष्या का कारण न बने। यह मेरा तथा सबका कल्याण करे। मुझे प्रसन्न देखकर अन्य साथी भी प्रसन्न हों। और यदि ईर्ष्यावश कोई मेरी प्रसन्नता अर्थात सौमनस पर आघात करे, तो मुझे प्रतिक्रिया करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि सुत्रामा प्रभु मेरे साथ हैं। वे सुगमता से मेरा त्राण कर लेंगे। रक्षा करने में वे सर्वोत्तम हैं। उनकी यह रक्षण-शक्ति उनकी अपनी है, किसी से उधार ली हुई नहीं है। अतः यदि कोई मुझ से द्वेष करता भी है तो मुझे द्वेष नहीं करना चाहिये। प्रभु द्वेष को तो मुझ से सभी भांति और बहुत दूर रखें। द्वेष अग्नि है। जो द्वेष करता है, इसमें दग्ध होता है। प्रसन्नता उसके पास भी नहीं फटकती। फिर द्वेष करके मैं अपनी प्रसन्नता का विनाश क्यों करूं?

विश्वदानीं सुमनसः स्याम पश्येमनु सूर्यमुच्चरन्तम्।
तथा करत् वसुपतिर्वसूनां देवाँ ओहानो अवसागमिष्टः ॥

प्रभु हमें ऐसी अवस्था में ले चले जहां अनवरत प्रसन्नता ही प्रसन्नता है, आह्लाद ही आह्लाद है, जहां पल भर के लिये भी औदासीन्य अथवा विरसता नहीं है। इस अवस्था में निरन्तर सूर्य का उदय है, तम का लवलेश भी जहां क्षण भर को भी ठहर नहीं पाता। प्रभु ही इस अवस्था में, आह्लाद के ओक में, मुझे बसाने वाले हैं। वे वसुओं के भी वसुपति है, बसाने वालों के भी बसाने वाले और उनके रक्षक हैं। वे मुझे इस सौमनस की स्थिति में बसा दें। इसी दशा में तो दिव्यता निवास करती है। प्रभु ही इस दिव्यता को लानेवाले

हैं। यह देव-दर्शन मुझे भी प्राप्त हो। और अब की, रक्षण की, त्राण की चरम, गंतव्य दशा भी तो यही है। मैं यहां सुरक्षित हूँ। यही तो मेरा प्राप्तव्य था। मरण की मारें झेलते-झेलते, व्याकुल बना, चारों ओर छटपटाता फिरता था। आज निश्चिंत हूँ। यह निवास, ये देव, यह प्रकाश, यह सौमनस सदैव मेरे साथ रहे।

साधक को यह अवस्था प्राप्त होती है। इसे प्राप्त करके वह निर्मल हो जाता है। मल के जो परत उसे आच्छादित किये हुए थे, एक-एक कर हट जाते हैं। ज्ञान, कर्म और भक्ति की त्रिवेणी में स्नान करके वह शुचिता का वरण कर लेता है। कर्म तो कठोर है ही, ज्ञान भी कृपाण के समान तीव्र धार रखता है। सांख्य अर्थात् ज्ञानकाण्ड के साथ योग अर्थात् कर्म की क्लेशकारिता सभी साधकों ने अनुभव की है। योग में भी हठयोग अधिक क्लिष्ट है। हां, भावयोग की सराहना सबने की है। संध्या तथा उपासना की पद्धति ज्ञान एवं कर्म की अवहेलना नहीं करती, पर भावयोग को विशेष स्थान देती है। भक्ति काण्ड में जिसे प्रपत्ति की संज्ञा-प्राप्त है, वह शरणागति ही इस भावयोग की सर्वस्व है। जैसे रथ[1] या नाव में बैठ कर हम निश्चित हो जाते हैं, हमारा पार उतरना या लक्ष्य तक पहुंचना सारथी या केवट के ऊपर छोड़ दिया जाता है, वैसे ही प्रपत्ति रथ या नाव है। हम शरणागत हो चुके। अब प्रभु जाने और उसका सामर्थ्य। चाहे पार करे, चाहे बीच में डुबो दे, हमें इसकी चिन्ता नहीं है। पर प्रभु तो पप्रि हैं, पार लगानेवाले हैं। स्वरित की नाव[2] पर बिठाकर न जाने कितनों को उन्होंने पार लगा दिया। भावयोग का साधक भी पार होता है, परमशुचि के साथ एक होता है और आनन्द का अनुभव करता है। यही परम गति है। इसके उपरान्त गति है ही नहीं।



१. (रथे न पादमादधुः)।

२. ('सनः पप्रिः पारयाति स्वस्ति नावा पुरुहूतः। यज्ञियाम् नावमारुहन्। प्रातर्यावाणं रथमिन्द्रसानसिमरिष्यन्तमारुहेमा स्वस्तये। दैवीं नावम् स्वरित्राम्।')

समिद्धता

प्रभु समिद्ध हैं। त्रिकाल में, त्रिलोकी में और त्रिदशाओं में सम्यक् प्रकार से समिद्ध हैं। वे निरन्तर, शाश्वत और अपने सहज रूप से समिद्ध हैं, प्रदीप्त हैं, प्रकाशित हैं, पर कुछ सिद्धों को छोड़कर, वे प्रायः सभी के लिए अप्रकाशित हैं। उनका प्रकाश स्वरूप हम सबकी बाहर तथा अन्दर की आंखों से ओझल रहता है। वे चमक रहे हैं, पर हमें दिखाई नहीं पड़ते। उनकी ज्योति जगमगा रही है, पर हमारी अनुभूति से परे है। वे हैं—अपने अनन्त-वैभव-पूर्ण, शक्तिमान, अजस्र ज्योतिर्मय रूप में, हम सबके अन्दर-बाहर वर्तमान हैं—पर दिखाई नहीं देते—समिद्ध होते हुए भी असमिद्ध, प्रदीप्त होते हुए भी अप्रदीप्त, प्रकाशित होते हुए भी अप्रकाशित, वर्तमान होते हुए भी अवर्तमान। उनके इस समिद्ध-जाज्वल्यमान रूप के दर्शन कैसे हों? उनके इस प्रकाश-विग्रह को हम अपने सम्मुख कैसे उपस्थित करें? उनकी सतत विद्यमानता की अनुभूति को अपने अन्दर कैसे जगावें।

कहा जाता है, सिद्ध उनके दर्शन करते हैं। चित्रशिखंडी ऋषियों के सामने उनकी ज्योति प्रकट हुई थी। यही क्यों, साधारण साधक उनकी कृपा के लवलेश को पाकर ही उन्हें अनुभव करने लगता है। प्रभा से पूर्ण सूर्य, जगर-मगर करती ज्योत्स्ना के प्रसारक चन्द्र, झिलमिलाती हुई तारकावलि, दूर्वादल पर मोती के दाने के समान दमकते हुये ओस के बिन्दु, लताओं के झुरमुट में खिले हुए फूल, सब में वह अपने प्रभु की विभूति को देखता है। मनीषियों को मनन-प्रणाली, मेधावियों की धारण-ग्रहण-व्रती मेधा तथा प्राज्ञों की सहजानुभूति में उसकी झलक स्वल्पक्षणों के लिये प्राप्त हो जाती है। उत्थान और पतन, ध्वंस और निर्माण, छाया और धूप के दृश्य रिमझिम-रिमझिम वर्षा और आंधी-तूफान उसकी ओर संकेत करते जान पड़ते हैं। इन संकेतों को,

इस झलक को, इस विभूति को कैसे अपनाया जाय ? इन्हें अपना सतत साथी कैसे बनाया जाय ?

वेद कहते हैं, प्रभु अग्नि हैं। भस्म उनका विमर्श करने में असमर्थ है। अग्नि को हृदयंगम करना है तो अग्नि बनो, अग्नि को अपने अन्दर प्रज्वलित करो। प्रभु-दर्शन कोई खेल नहीं है जो चलते-फिरते हो जाय। अग्नि का धर्म है जलना-तुम जलो, अनुताप में जलो, पश्चात्ताप में जलो, प्रभु क्यों नहीं मिलते, इस विचार में जलो। यह जलन तुम्हें ज्वाला में परिणत कर सकेगी। अग्नि की ज्वाला बलवती है, बड़ी-बड़ी रेलों को खींचती फिरती है—तुम भी बलवान बनो। अग्नि में तेज है—तुम भी तेजस्वी बनो। अग्नि-ज्वाला विविध मानवहितकारी कार्यों की साधिका है, तुम भी मानवहित में तत्पर रहो। अग्नि वीर्य है, प्राण है, तुम भी प्राण-पुञ्ज बनो। अग्नि शक्ति है, तुम भी शक्तिशाली बनो। हमारी वर्णमर्यादा में क्षत्रिय इस अग्नि का प्रतीक है, तुम भी क्षात्र भाव को धारण करो। शूद्र की सेवा और वैश्य का धन भी अपना महत्व रखते हैं, पर वे क्षात्रशक्ति के मूल्य तक नहीं पहुँच पाते। इन्हें अपने रक्षण एवं अस्तित्व के लिए क्षात्रशक्ति पर अवलम्बित रहना पड़ता है। उसके अभाव में ये पनप नहीं सकते। क्षात्रशक्ति के लिए वे सहायक अवश्य बनते हैं जैसे अग्नि के प्रज्वलन के लिये काष्ठ या उपले।

अग्नि अग्नि से ही प्रज्वलित होता है। पहले अग्नि को अपने घरों में बुझने नहीं देते थे। कंडा या लकड़ी लगाकर उसे सुलगाये रहते थे। यह कार्य अब दीपशलाका ने ले लिया है। बिजली भी इस कार्य को करने लगी है। वैभव एवं विज्ञान से सम्पन्न घरों में यह कार्य सूर्य-किरणों से भी लिया जाने लगा है, पर वह व्यय-साध्य है। साधारण जनता के वश की बात नहीं है। जो अपने सामर्थ्य से बाहर है, सर्वजन-सुलभ नहीं है, उसकी चर्चा कर देना ही पर्याप्त है। पर अग्नि, विद्युत् और सूर्य तीनों एक ही तत्व के तीन, स्तर की दृष्टि से, भिन्न-भिन्न नाम हैं। अग्नि को प्रज्वलित करना है तो इन तीन में से ही किसी की सहायता लेनी पड़ेगी। दीपशलाका के छोर पर जो मसाला

उनकी प्रखरता या प्रचण्डता नष्ट हो गई है। यहां अग्नि की दाहकता नहीं है, चन्द्र की शीतलता है। यहां रवि अंगारे नहीं बरसाता। वह प्रतिबिंबित होकर ज्योत्स्ना की नयनरमणीया, अह्लादकारिणी सृष्टि खड़ी करता है, ज्ञान का आतंक और कर्म की भयंकरता—दो निषेधों ने मिलकर यहां भावविधायिनी मंगलमयी एक ऐसी रचना प्रस्तुत की है, जो त्रिलोकी को तीनों कालों में आप्यायित करती रहती है। वेद के शब्दों में 'चन्द्रमा अप्सु अन्तरा सुपर्णो धावते दिवि।' यजु० ३३-९० चन्द्र के चारों ओर जलीय मण्डल है। इसीलिए उसका प्रकाश शीतल है। भर्तृहरि सन्तों के सम्बन्ध में कहते हैं:—

> मनसि वचसि काये पुण्यपीयूषपूर्णाः
> त्रिभुवनमुपकारश्रेणिभिः प्रीणयन्तः।
> परगुणपरमाणून् पर्वतीकृत्य नित्यं
> *निजहृदि विकसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः॥ १॥*

जिनके मन, वचन और शरीर (कर्म) पवित्र पीयूष से पूर्ण है, जो तीनों भुवनों को अपने उपकारों द्वारा आनन्दमग्न करते रहते हैं, जो दूसरों के परमाणुतुल्य स्वल्प गुणों को भी पर्वत के समान समझकर अपने हृदय में विकसित किया करते है—वे सन्त यहां कितने हैं?

सन्तों की आग्नेयता ज्योत्स्ना में परिणत होकर यद्यपि अंगारों के स्थान पर अमृत-सिंचन द्वारा विश्व का प्रीणन अवश्य कर रही है, पर अपनी दृढ़ता को वह खो नहीं बैठी। पृथ्वी के अन्दर का एक ही द्रव्य अग्नि की अपेक्षाकृत कम लपटें पाकर काला कोयला बनता है, पर वही अग्नि उसी द्रव्य को बहुत देर तक पकाकर श्वेत हीरे में भी परिवर्तित कर देता है। हीरे में पाकक्रिया की रसायन दृढ़ता भर देती है। अग्नि की यह दृढ़ता सन्तों की अविचल भद्र भावना, आचार-परायणता और अटल कथनी-करनी की एकता में प्रतिलक्षित होती है। उनके चरित्र की इस सुदृढ़ता को लुभावने से लुभावने दृश्य भी विचलित नहीं कर पाते।

प्रभु स्वयं सत हैं, व्रतपा हैं और अदाभ्यव्रती हैं। व्रत के अतिक्रमण की बात सोचना भी उनके संबंध में पाप है। वे स्वयं अटल व्रतपालक हैं और अपने भक्तों के व्रत की भी रक्षा करने वाले हैं। सन्त अपने प्रभु के सान्निध्य में रहकर निर्भय हो जाते हैं। वे प्रभु पर अपने आपको सर्वात्मना समर्पित कर देते हैं। अतः उनके योग-क्षेम की चिन्ता प्रभु को होती है। ऐसा शील-सम्पन्न, चरित्र का धनी, शुभ का संस्थान, भद्र का भवन सन्त ब्राह्मणत्व की ज्ञान-परिधि से ऊपर उठ जाता है। ज्ञान प्रभु तक पहुँचा देगा, पर शील ज्ञानी को प्रभु का बना देगा।

सन्त का पद ऊँचा है, पर है तो वह भी साधनापथ का पथिक ही। साधना के उच्चस्तर पर वह अवश्य पहुंच गया है; प्रभु का भी बन गया है, पर अभी प्रभु में घुलने-मिलने की स्थिति नहीं आ पाई। कुछ हिचक अब भी शेष है। प्रभु के साथ एक हो जाना, एकत्व का अनुदर्शन करना, भेदभाव को भूल जाना, पार्थक्य के पाशों को छिन्न भिन्न कर देना ऐसे साधक सिद्ध का कार्य है जो समर्पण की दीनता से भी ऊपर प्रभु के सखा-भाव को प्राप्त कर गया हो।

वेद कहता है, प्रभु हमारे सखा हैं, हम सख्य भाव द्वारा ही उन्हें प्राप्त करते हैं। सखा भाव प्रेम का भाव है। प्रभु तो सभी के सखा हैं, पर हम उनके सखा बन सके हैं या नहीं? प्रभु तो सबको प्यार करते हैं, पर हम भी उनको प्यार करते हैं या नहीं? 'मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा। किये जोग तप ज्ञान विरागा'। रामायण उत्तरकाण्ड ६२। 'त्वयि प्रेम्णा सक्तं कथमिव न जायेत विमलम्'। हमारे इस सख्य से ही प्रभु का सखा-भाव हमारे समक्ष समिद्ध हो सकेगा।

सख्यभाव में भी आग्नेयता खेल रही है। आचार्य वल्लभ के शब्दों में आग्नेयता की जो ऊष्मा यहां है, वह अन्यत्र कहीं भी नहीं। प्रेम में पावक के परमपूत रूप का पालन होता है। भावना की यह प्रवणता अपने आप में ही खोई हुई है, अनुपम है, अन्य भावों द्वारा अनाघ्रात है। सख्यभाव भक्ति-

वेद का अतीव ऊर्ध्व स्थल है, जहां भक्त और भगवान की सधस्थता है। वेद इस सधस्थता की महिमा का वर्णन करते थकता नहीं। 'उम्मसित्वा सधस्थ था'—(हिमते अनल प्रगट वरु होई। विमुख राम सुख पाव न कोई।—उत्तरकाण्ड १२२) कहकर वह इसकी बार-बार कामना करता है।

ऊपर वेद के जिस मंत्र की व्याख्या की गई है, वह इस प्रकार है :—

त्वं हि अग्ने अग्निना, विप्रो विप्रेण, सन् सता।

सखा सख्या समिध्यसे। (ऋ० ८-४३-१४)

अग्नि से कर्मकाण्ड, विप्र से ज्ञानकाण्ड, सत से आचारशास्त्र और सखा से भक्तिकाण्ड अभिप्रेत हैं। अग्नि मूल से लेकर अन्त तक व्याप्त है। वह क्रमशः अपने विभिन्न स्तरों को पार करता हुआ, निर्मल से निर्मल, उज्वल से उज्वल, पावक से पावक रूप में परिणत होता गया है। सखा भाव में वह अपने स्रोत से एक हो जाता है। मंत्र ने जहां साधन-क्रम उपस्थित किया है, वहां उसने साध्य के रूप को भी समिद्ध कर दिया है। यही समिद्धता हम सब का अभीप्सित ध्येय है।



चार देवता

पुरुष सूक्त ने जिस चतुरस्र विधान को द्विविधा में पृषदाज्य, वायव्य, आरण्य तथा ग्राम्य, वाणीविधा में ऋक्, यजु, साम तथा छन्द (अथर्व), पशुविधा में गो, अश्व, अज तथा अवि, पुरुषविधा में मुख, बाहु, ऊरू तथा पैर और समाजविधा में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र कहा था, वही दैव विधा में अग्नि, प्राण, पूषा तथा विश्वकर्मा, तैजस विधा में द्यौ, सूर्य, अन्तरिक्षीय विद्युत तथा पार्थिवाग्नि, ब्रह्माण्ड विधा में महः, स्वः, भुवः, तथा भूः, जलविधा में अम्भ, मरीचि, मर तथा आपः और धातु विधा में हीरा, स्वर्ण, रजत तथा लोहा हैं। हिरण्यगर्भ सूक्त में इस विभाग का प्रस्तार पाया जाता है। "यः प्राणतो, निमिषतो" आदि मंत्र में निर्जीव, सजीव, चतुष्पद तथा द्विपद रूपों में प्राणवत्ता का और "येनद्यौरुग्रा" आदि मंत्र में उग्र द्यौ, दृढ़ा पृथिवी, स्वः तथा नाकः लोकों में रयि का विकास स्पष्टतया प्रतीत होता है। इन्हें हम ऋत तथा सत्य का विकास भी कह सकते हैं। यह चतुर्विध विभाग एक ब्रह्माण्ड ही नहीं, सृष्टिभर में पाया जाता है।

इस विषय में निम्नांकित ऋचा पर विचार कीजिये :—

शन्न इन्द्रो वसुभिर्देवोअस्तु शमादित्येभिर्वरुणः सुशंसः।
शन्नो रुद्रो रुद्रेभिर्जलाषः शन्नस्त्वष्टाग्नाभिरिहश्रृणोतु॥
(ऋ० ७-३५-६ अथ० १९-१०-६)

सृष्टि प्रकरण में 'शन्नो अज एक पात्' आदि मंत्र की व्याख्या में हमने जिन पृश्नि, पेरु, अहिर्बुध्न्य तथा अजएकपात् नाम की चार स्थितियों का वर्णन किया है और निर्मिति की अवस्था में महर्षि कपिल ने उन्हीं के समानान्तर जिन महान् या महत्तत्व, अहंकार, पंचतन्मात्र तथा स्थूल भूतों का नाम लिया है, वस्तुतः वही चार चारों ओर फैले हुए हैं, केवल नाम और रूपों

का अन्तर है जिनकी ओर हमने ऊपर संकेत किया है। प्रस्तुत मंत्र में सृष्टि में क्रियाशील चार दिव्य तत्वों या शक्तियों का वर्णन है।

मंत्र में प्रथम इन्द्र तत्व को लिया है। इन्द्र किसे कहते हैं ? व्याकरण के अनुसार इदि परमैश्वर्ये धातु से रन् प्रत्यय लगाकर इन्द्र शब्द सिद्ध किया जाता है। 'यः इन्दति परमैश्वर्यवान् भवति स इन्द्रः।' इन्द्र परमैश्वर्यवान है। इस व्युत्पत्ति को सिद्ध करने वाले कई विशेषण भी इन्द्र के साथ लगे हैं, यथा वृद्धश्रवाः, वासवः, प्रभूवसो, मघवन्, तुवीमघ, वसुमान्, वरिवस्कर आदि। निम्नांकित मन्त्रों में भी इन्द्र की इस विशेषता पर प्रकाश पड़ता है :—

नूष्टुत इन्द्र नू गृणानः इषं जरित्रे नद्यो न पीपेः।

(ऋ० ४-१६-२१; १७-२१; तथा १९ से २४ सूक्तों का ११ वाँ मंत्र)

हे इन्द्र ! निश्चित रूप से हमने तेरी स्तुति की है। अब स्तूयमान तू मुझ स्तोता को इष से, अन्न से, रयि से, धन-सम्पदा से नदी की तरह परिपूर्ण कर दे। नदी जैसे वर्षा ऋतु की बाढ़ में जल से भर जाती है और अपनी सम्पत्ति का प्रदर्शन चारों ओर करती है, अपने अस्तित्व का, धनी सत्ता का उद्घोष करती है, वैसे ही मैं धन से, अन्न से परिपूर्ण हो जाऊं। मेरी धनवत्ता खुलकर प्रकट हो।

एवा वस्वः इन्द्रः सत्यः सम्राड् हन्ता वृत्रं वरिवः पूरवे कः।
पुरुष्टुत क्रत्वा नः शग्धि रायः भक्षीय ते अवसो दैव्यस्य॥

(ऋ० ४।२१।१०)

इन्द्र ही वसु का, धन का, सच्चा सम्राट है। वही वास्तविक धनपति है। वही धन के मार्ग में आने वाले वारक वृत्रों को हटाता है, नष्ट करता है और भक्त साधक को धन देता है। हे पुरुष्टुत ! बहुतों से बहुत बार बहुत बहुत स्तुति किये गये तुम हमें संकल्प तथा कर्तृत्व शक्ति द्वारा धन प्राप्त करने के लिये समर्थ बना दो। प्रभो ! इस सम्बन्ध में तुम्हारा दैवी रक्षण हमें प्राप्त हो।

शचीव इन्द्र पुरुकृद् द्युमत्तम तवे दिदं अभितश्चेकिते वसु ।
अतः संगृभ्य अभिभूते आभर मा त्वायतो जरितुः काममूनयीः ॥
(ऋ० १।५३-३ अथ० २०।२१।३)

इन्द्र ! आप शचीव हैं, शक्ति-सम्पन्न हैं, पुरुकृत हैं—अनेक कार्य करने वाले हैं, द्युमत्तम हैं—दिव्यता में सर्वश्रेष्ठ हैं। यह जो चतुर्दिक वसु विकीर्ण हो रहा है, अरबों की सम्पदा विश्व में व्याप्त दिखाई देती है, वह निश्चित रूप से तुम्हारी ही है। हे अभिभूते ! सबके ऊपर विराजमान ! इस सम्पदा में से मुट्ठीभर निकाल कर मुझे भी दे दे। तेरे स्तोता की अभिलाषा अपूर्ण न हो।

त्वं विश्वस्य धनदा असि श्रुतो य ईं भवन्त्याजयः ।
तवायं विश्वः पुरुहूत पार्थिवो अवस्युर्नाम भिक्षते ॥
(ऋ० ७।३२।१७)

धन के लिये यहां बड़े-बड़े युद्ध होते हैं, पर इन युद्धों द्वारा धन प्राप्त हो ही जाता हो, ऐसी बात नहीं है। धन के देने वाले तो तुम हो। हे पुरुहूत ! यह पार्थिव प्राणी रक्षा की कामना करता हुआ तुम्हारे ही नाम की भीख माँग रहा है, एकमात्र तुम्हीं को धन का दाता, अपनी कामनाओं को सफल करने वाला मानता है।

ऋ० १-२९-३ तथा अथर्व २०-७४-३ के सातों मन्त्रों में तुवीमघ इन्द्र से सहस्रों शुभ्र गौओं और अश्वों के प्रशंसनीय दान की प्रार्थना है। अथर्व १०-८-४२ में भी इन्द्र को 'निवेशनः संगमनोवसूनां' कहा गया है।

प्रस्तुत मन्त्र में इन्द्र का एक विशेषण देव है। देव का एक अर्थ दानी है। इन्द्र दानी हैं। 'वसुभिः' शब्द भी सार्थक है। वसुओं के द्वारा, ऐश्वर्यों के साथ इन्द्र देव हमारे लिये कल्याणकारक हों। मन्त्र के प्रथम पद या चरण का यही अर्थ है। चरण से यह भी ध्वनि निकलती है कि इन्द्र तत्व का वसुनाम्नी दिव्य शक्तियों के साथ ही साहचर्य है। इन्द्र तत्व वसुओं के साथ

रहता है। जहां जहां वसु है, लोक में, *ब्रह्माण्ड में अथवा सृष्टि में*, वहां इन्द्र भी अवश्य है। वसुवत्ता एवं इन्द्रवत्ता सहयोगिनी हैं।

वसुवत्ता रयि के अन्तर्गत है। रयि का एक परिमार्जित रूप सोम है। इन्द्र सोमपीथि हैं। ये सोम पीते हैं। इन्द्र के लिये सोमरस तैयार किया जाता है और उन्हें पीने के लिये बुलाया जाता है। इस इन्द्र का ही एक रूप हमारा सूर्य है जो अपने ऊपर स्थित आपोमयमण्डल के सोम को बराबर पीता रहता है। वसुवत्ता भी रयि का विकसित रूप है। इसके अविकसित प्रारम्भिक रूप *का वर्णन मन्त्र के चतुर्थ चरण में है जिसमें त्वष्टा ग्ना के साहचर्य में कार्य* करता है। यास्क ने निरुक्त १२-४६ में ग्ना का अर्थ देवपत्नी लिखा है। इन्द्राणी इन्द्र की, तो अग्नायी अग्नि की भार्या है। पत्नी में पति प्रवेश करता है और संतति के रूप में प्रकट होता है। यह उसका पुनर्जन्म अथवा परिमार्जन है। इसी प्रकार सत्य में ऋत का प्रवेश, रयि में प्राण का प्रवेश, सत्ता में गति का प्रवेश संस्कार एवं परिमार्जन का कारण है। अतः ग्ना वह तत्व है जिसको त्वष्टा संस्कृत करता है। त्वष्टा का अर्थ है कारीगर। जो त्विषि, दीप्यति-किसी वस्तु को चमका दे, उसके सामान्य रूप में विशेषता ला दे, वह त्वष्टा है। रयि को, सामग्री मात्र को, जो संस्कृत करता है, शाण पर चढ़ाता है, दीप्त करता है, वह त्वष्टा ऋत तत्व का ही एक रूप है। लोक भाषा में त्वष्टा बढ़ई या लुहार है जो काष्ट या लोहे से अनेक यंत्र, अस्त्र एवं शस्त्र तैयार करता है। शिल्पकला, उद्योग धन्धे इसी के कारण विकसित होते हैं। अतः विशुद्ध रयि को विश्व के विभिन्न पदार्थों का रूप देना सृष्टि रचना का प्रारम्भिक कार्य है जिसे त्वष्टा सम्पादित करता है। चातुर्वर्ण्य मर्यादा में वसुवत्ता का सम्बन्ध वैश्य से है और त्वष्टा का सम्बन्ध श्रमिक से या शिल्पकलाकार से। इसे पञ्चतन्मात्राओं का पंचीकरण द्वारा पंचभूतों में परिणमन भी कहा जा सकता है। एक में सूक्ष्मता है, अपर में स्थूलता। शूद्र का कार्य वैश्य की अपेक्षा स्थूल है। पर रचना के समय सूक्ष्म से स्थूल की ओर आना एक अर्थ रखता है और स्थूल को सूक्ष्म की ओर ले जाना,

सामग्री को संस्कृत रूप देना बिलकुल दूसरी बात है। यहां त्वष्टा का कार्य रत्न रूप रयि को चमकाना है। कच्चे माल को विशिष्टता से युक्त करना, रुई से धागा और धागे से वस्त्र बनाना शिल्प का कार्य है। त्वष्टा का भी यही कार्य है। त्वष्टा की अपेक्षा वसुमान इन्द्र का कार्य विशिष्टतर है, ऐसा न कह कर दोनों के कार्य को एक दूसरे का पूरक कहना चाहिये। वसु से शिल्प का विकास होता है और शिल्प वसु को बढ़ाता है। उद्योग-धंधों से सम्पदा आती है और सम्पदा से श्रम के आधार पर उद्योग-धंधे पनपते हैं—इस सत्य का प्रत्याख्यान कौन कर सकता है? अतः किसी को किसी से हीन समझने की चेष्टा करना मूर्खता होगी।

अब हम मन्त्र के द्वितीय चरण की ओर आते हैं। इसमें आदित्य और वरुण का सहचार है। आदित्य का अर्थ बृहदारण्यक—१-२-५ में सर्वम् आददाना=सबको ग्रहण या स्वीकार करनेवाला किया गया है। वरुण का अर्थ भी वरणीय अर्थात् स्वीकरणीय है। जो सबको अपनाता है, वह स्वयं अपनाने के योग्य है। जो वरणीय है, वह दूसरों को भी वरण करता है। जो दूषित-पवित्र, दुर्गन्ध सुगंध, कुरस-सुरस सबको ग्रहण करता है और अपने तेज द्वारा पवमान बनकर पवित्रता का प्रसार करता है, वह इस सृष्टि में सर्वोपरि है, सबका शिरमौर है, सम्राट है। वरुण को इसीलिये राजा कहा गया है। वरुण राजा के राज्य में पावित्र्य की प्रथा है। हमारे ब्रह्माण्ड में जैसे सूर्य अपवित्रता का विनाश और पवित्रता का संचार करते हैं, वैसे ही वरुण द्वेष का निवारण, अघायु का अपहरण और सुकृत को स्वीकार करते हैं। मन्त्र में इसीलिये उन्हें सुशंसः कहा गया है। सुन्दर है शंसन-कथन जिनका-जिनकी वाणी अमृत-स्यन्दिनी है, पीयूषवर्षिणी है और जनता जिनके सम्बन्ध में सुन्दर यश का, शोभन कीर्ति का उच्चारण करती है, वे वरुण-वरणीय देव आदित्यों के साथ, आददाना दिव्यशक्तियों के साथ हमारा कल्याण करें। उनका शंसन प्रशंसनीय है। उनका कथन कथनीय है। उनकी वाणी वन्दनीय है। वरुण राजा है, तो

बृहदारण्यक ४-१-२ के अनुसार 'वाग्वै सम्राट् परमंब्रह्म' है। वाणी भी सम्राट है। वाणी तैजस अंश का ही सूक्ष्मतम रूप है। चातुर्वर्ण्य मर्यादा में ब्राह्मण भी तैजस है, आग्नेय है, प्रदीप्त है। तप और त्याग ने उसे दीप्ति प्रदान की है। वह शिर है, सृष्टि का द्यौ-स्थानीय है।

क्षत्रिय राजन्य है, परन्तु ब्राह्मणत्व के आगे झुकनेवाला है, क्योंकि उसकी योनि ब्राह्मण है। वह उसी का अंग है, उसी से उत्पन्न है।

सृष्टि में वरुण प्रतीची दिशा के अधिपति हैं। ब्राह्मण पश्चिम में पूर्वाभिमुख है—उदय की ओर है, उत्-ऊपर, अय-स्थिति रखने वाला है। वह वाणी का अधिपति है, बृहस्पति है। बाहर द्यौ में जो सूर्य है, वही मूर्धा में यहाँ बुद्धि है। बुद्धि के प्रकाश में स्वाधीन विचरण करनेवाला ब्राह्मण इसीलिये सबका मूर्धन्य बनता है। अन्य वर्ग उद्वेगों के अधीन होते हैं, अतः पराधीन होने के कारण सच्चे सम्राट नहीं कहे जा सकते। जो स्वाधीन है, संयमी है, स्ववशी है, स्वदान है, वही सच्चा वरुण है, वास्तविक राजा है। सृष्टि में यह स्थान वरुण तत्व का है जो आदित्यों के साथ सुदास बनता है।

निम्नांकित मंत्र में भी वरुण का सम्बन्ध आदित्य के साथ है :—

उदुत्तमं वरुणपाशमस्मदवाधमंवि मध्यमं श्रथाय।
अथा वयमादित्य व्रते तवानागसो अदितये स्याम॥
(ऋ० १-२४-१५ अथर्व० ७-८३-३ तथा १८-४-६९ यजु० १२-१२)

यहाँ वरुण तथा आदित्य दोनों सम्बोधन हैं। अतः दोनों एक हैं या परस्पर सम्बद्ध हैं। आदित्य के व्रत में रहकर, उसका पालन करके हम अनागस, निष्पाप बनते हैं और वरुण हमें अधम, मध्यम तथा उत्तम पाशों से मुक्ति प्रदान करते हैं। इस मंत्र से ऊपर जो ११ वां मन्त्र है (तत्वा यामि ब्रह्मणा वन्दमानः) उसमें वरुण का विशेषण उरुशंस है जो व्याख्यात मंत्र के 'सुदासः' का स्मरण कराता है।

'उदुत्तमं' मन्त्र में अधम तथा मध्यम, तम तथा रज के पाशों के साथ

उत्तम सत के पाशों का भी वर्णन है। उनसे भी हमें छूटना है। कात्यायन श्रौत सूत्र २५·११ में सत के पाशों को यज्ञिय पाश कहा गया है :—

'ये ते शतं वरुण ये सहस्रं यज्ञियाः पाशाः वितता महान्तः।'

वरुण के ये यज्ञिय पाश बड़े सूक्ष्म हैं। ये सतोगुण के पाश हैं जिनसे छुटकारा पाना बड़े से बड़े साधक के लिये भी कठिन है। महान आदित्यव्रत ही इनसे छुड़ा सकता है। इसीलिये आदित्य के विभिन्न रूप सविता, विष्णु, मरुत तथा अर्कों से मुक्ति दिलाने की प्रार्थना की गई है। व्याख्यात मंत्र में भी आदित्येभ्यः बहुवचन में ही है। सविता आदित्य का प्रेरक एवं उत्पादक रूप है, विष्णु किरणों द्वारा व्याप्त रूप है, मरुत वायु रूप है जिसके अभाव में सब मर जाते हैं और अर्क गतिरूप है जिसके कारण सब गति करते हैं, स्थिरता-ठिठुरन-जड़ता-निद्रा आदि से निकलकर गतिशील होते हैं। आदित्य के ऐसे द्वादश रूप हैं।

मन्त्र के तीसरे चरण में रुद्र तत्व का वर्णन है जो रुद्रों के साथ सृष्टि में कल्याणकारी बनता है। रुद्र का विशेषण है 'जलाषः' जिसका अर्थ है सुखप्रद। रुद्र तत्व रुलाता है, रोगों को दूर करता है और परिणामतः हँसाता तथा नीरोगता द्वारा सुख का संचार करता है। समाज में यह कार्य सैनिकों, रक्षकों अथवा क्षत्रियों का है जो दुष्टों को ताड़ित तथा दण्डित करके रुलाते हैं और सज्जनों की रक्षा करके उन्हें आश्वस्त करते तथा सुख देते हैं। व्यक्ति तथा ब्रह्माण्ड में यह कार्य प्राणका है। सृष्टि में यही कार्य रुद्र का है। रुद्र की शक्तियाँ भी रुद्र कहलाती हैं। वेद में, 'स्वस्तिनो रुद्रः पात्वंहसः' रुद्र को पाप से बचाने वाला भी कहा है। रुद्र तत्व पाप तथा पापियों का विनाश करता हुआ सृष्टि में पुण्य को पुष्ट कर रहा है। रुद्र तत्व के साथ रुद्र शक्तियां ही उसे यह विशिष्टता प्रदान करती हैं। रुद्र की शक्तियां ही सर्वत्र प्रसृत होकर पाप पर प्रहार करती रहती हैं। सुकृत इसी कारण जीवित रहता है। विश्व की व्यवस्था रुद्रतत्व पर ही अवलम्बित है। जहां ऋणशक्ति बढ़ी, वहीं धनशक्ति

रुद्रतत्व के कारण, प्राण देव के माध्यम से, आ पहुँचती हैं और सामरस्य या समन्वय की साधना में सहायता देता रहती है। सृष्टि का ताना-बाना इसी के कारण सुरक्षित रहता है। एक ओर यह विध्वंस तो दूसरी ओर निर्माण करती रहती है।

मन्त्र में तारतम्य तथा सम्बन्ध-शृङ्खला की दृष्टि से इन्द्र की वसुवत्ता तथा वरुण की स्वाधीनता, सम्राट्ता एक स्तर पर हैं जो मन्त्र के प्रथमार्ध में प्रकट हुई हैं और रुद्र की रुद्रता की सुखदता तथा त्वष्टा की दीप्तिकारिणी शक्ति दूसरे स्तर पर हैं जो मंत्र के द्वितीयार्ध में प्रकट हुई हैं। समाज में वैश्य तथा ब्राह्मण शान्ति-प्रधान हैं, तो क्षत्रिय तथा श्रमजीवी कर्मप्रधान हैं। एक स्तर पर आराम है तो दूसरे स्तर पर उद्योग तथा कर्तृत्व। इसी आधार पर दोनों स्तरों के रंगों मे अन्तर आ गया है। एक शुक्ल वर्ण हैं, तो दूसरे कृष्ण वर्ण। बैठने में रंग छाया के कारण मलिन नहीं हो पाता, परन्तु धूप में कर्म करने के कारण रंग कृष्ण हो जाता है। इसी का प्रभाव स्वभाव पर भी पड़ता है। एक में सौम्यता तो दूसरे में रूक्षता आ जाती है। स्वभावों के ही आधार पर भोजन-व्यवस्था में भी परिवर्तन होता है और भोजन में परिवर्तन शुक्र में परिवर्तन उत्पन्न करता है। स्वभाव-भोजन-शुक्र, शुक्र-स्वभाव-भोजन की चक्र-शृङ्खला परम्परा को जन्म देती और मानव जाति को कतिपय वर्गों में विभक्त कर देती है। मुख्य वर्ग चार ही रहते हैं, पर सांकर्य के कारण अनेक उपवर्गों की भी सृष्टि होती रहती है। मानव की कर्म-स्वतंत्रता परम-अवम स्थितियों का कारण बनती है। हिंसक स्वभाव उदार बनता तथा उदार हिंसक बनता रहता है। दानी कालान्तर में दुःसंग से कृपण बन जाता है और कृपण सत्संग से दानी बन जाता है। उन्नत पतित तथा पतित उन्नत होता रहता है। अनुकूल परिस्थितियोंमें उन्नत और भी अधिक उन्नतहो जाता है तथा प्रतिकूल परिस्थितियों या संयंग पतित को और भी अधिक पतित बना देता है। फिर भी मूल चार तत्व इधर-उधर चलते हुए प्रलय पर्यन्त अपना कार्य करते रहते हैं। प्रलय में सब कुछ अपने मूल स्रोत में समा जाता है, पर सृष्टि के उद्‌भव

के साथ पुनः वही क्रम चल पड़ता है—वही महत्तत्त्व, वही बुद्धि, वही ब्राह्मणत्व वही द्यौ, वही वाणी-विभाग, वही तैजस विभाग, वही दैवविभाग, वही लोक-विभाग, वही शुक्र-विभाग, सबका सब पुनः वही। सृष्टि का यह अद्भुत चक्र है, जिसे पूर्णतया समझ लेना कठिन है।

ऋषियों की क्रान्त दृष्टि ने गुहा-निहित इन विधानों का दर्शन किया था। आज आर्ष दृष्टि का अभाव है। इसीलिये वेद मन्त्रों के देवता, उनके अर्थ हमारे लिये दुर्लभ हो रहे हैं। दैवी वाक् दिव्यता के आधान बिना ग्राह्य नहीं बन सकती। हां, प्रभु की कृपा से सब कुछ साध्य हो जाता है। पर उनकी कृपा भी तो सुकर नहीं है। इस संशय-प्रधान, तर्क-प्रमुख युग ने सबकी दृष्टि को धूमिल कर रखा है। विश्वस्त एवं आश्वस्त होकर बैठने का अवकाश भी तो किसी को नहीं है। कब हम इससे पराङ्मुख होंगे? कब हम ऋषित्व की ओर चलेंगे? वेद आह्वान कर रहा है:—

> अपक्रामन् पौरुषेयाद् वृणानो दैव्यं वचः।
> प्रणीतीरभ्यावर्तस्व विश्वेभिः सखिभिः सह॥
>
> (अथर्व० ७।१०५।१)

सूक्त का यह अकेला ही मन्त्र है। अपने एकाकी स्वर में घोषणा करता हुआ हम सबको यह निमंत्रण दे रहा है:—"मनुष्यो, पौरुषेय वाक्यों से हटते हुए, दैवी वाणी का वरण करते हुए, समस्त सखाओं के साथ पुण्यपथों का अनुवर्तन करो।"



अध्वर तथा स्तोम

अध्वर और स्तोम दोनों में घनिष्ठ सम्बन्ध है। अध्वर के साथ स्तोम तथा स्तोम के साथ अध्वर संलग्न रहता है। अध्वर के बिना स्तोम और स्तोमके बिना अध्वर की कल्पना नहीं की जा सकती। स्तोम यद्यपि अध्वर का पूर्वज है, तथापि वैदिक कर्मकाण्ड में दोनों का सहभाव ही प्रदर्शित हुआ है। स्तोम के साथ ही अध्वर बढ़ता तथा सुशोभित होता है। स्तोम ही उसे शक्ति भी प्रदान करता है। स्तोम और अध्वर दोनों मिलकर मानव को निष्पाप कर देते हैं।

अध्वर यज्ञ है, अहिंसा है, आर्जव है। स्तोम स्तुति है, प्रभु का संस्तवन है, हरिगुण गान है, कीर्तन है, विनय है। जब तक व्यक्ति नम्र नहीं बनता, अहंकार-मद की ऊँचाई से नीचे नहीं उतरता, तब तक वह फुंकारता भले ही रहे, पर अपने आप से अपरिचित ही रहता है। विनय-शील मानव ही अपने को पहिचान पाता है। और जिसने अपने को जान लिया, वह अपने स्रोत को, जनक को, मूल को भी जान लेता है। स्तोम के मूल में यही विनय है, यही ज्ञान है।

जो अपने को जानता है, अपने मूल को समझता है, वह अन्यों को भी आत्मवत मान कर अकुटिल, ऋजु व्यवहार को अपनाता है। वह किसी की हिंसा नहीं करता, ध्वर से, कुटिलता से, हिंसा से, अपघात से, दुर्वचनों से, द्वेष से सदैव दूर रहता है। हिंसा क्लेशकारिणी है। उससे जैसा मुझे कष्ट होता है, वैसा ही दूसरों को भी। हिंसा विधात्री या निर्मात्री नहीं, विघटन-कारी है। यदि मैं विघटित, विशृङ्खलित, विस्थापित होना नहीं चाहता, तो दूसरे भी नहीं चाहते। जिसमें न मेरी रुचि है, न अन्यों की, वह मानव-समाज में क्यों प्रचलित है? कैसे प्रचलित हो गई? और कैसे दूर की जा सकती है? इसे मानव को ही सोचना चाहिये। उसमें सोचने का सामर्थ्य है भी। उसने सोचा भी है। तभी तो ये पंक्तियाँ लिखी जा रही हैं।

हिंसा का मूलाधार अहंकार है। अहिंसा की प्रतिष्ठा विनय से होती है। विनय में स्थिरता है, ठहराव है, सोचना और समझना है। विनय में रजोगुण का चाञ्चल्य नहीं, सात्विक आत्मस्थता है। आत्मस्थ होना ही ज्ञान है। जब इस ज्ञान का उदय होता है, तब मानव कर्तव्यपरायण होता है। कर्तव्य-परायणता उसे विघटन से निर्माण या हिंसा से अहिंसा की ओर ले जाती है। सब भूतों में आत्मवत व्यवहार चल पड़ता है। केन्द्र ही परिधि तक फैला दिखाई देता है। ऐसी स्थिति में कौन किसका विरोध करेगा?

अहंकार स्वार्थ है, स्व की गंभीर गर्जना है। जब स्वार्थ-सिद्धि में बाधा आती है, स्व पर ठेस लगती है, तब अहं विचलित हो जाता है और वह प्रयोग द्वारा ठेस को हटाने, बाधा को कुचलने तथा आघात को नष्ट करने पर तुल जाता है। यही हिंसा है। हिंसा वैयक्तिक तथा सामाजिक दोनों ही रूप धारण करती है। जैसे एक व्यक्ति की अस्मिता है, अहंकार है, स्वार्थ है, वैसे ही समाज का भी स्वार्थ है। अहंकार सत एवं असत दोनों प्रकार का हो सकता है। सात्विक अहंकार से प्रेरित हिंसा उस हिंसा से पृथक है जो असात्विक, अशुचि एवं घृणित भाव से प्रेरित होती है। हमें कल्याण भाव से प्रेरित हिंसा तथा दस्यु-कृत हिंसा में भेद करना चाहिये। प्रथम प्रकार की हिंसा दस्युओं तथा उनके द्वारा अपनाई गई हिंसा के निराकरण में प्रयुक्त होती है। अतः जन-कल्याणमयी होने के कारण सात्विक होती है। दस्यु एक व्यक्ति तथा समाज का ही नहीं, अपने व्यक्तित्व का भी शत्रु होता है। वह अन्यों के साथ अपना भी अकल्याण करता है। ऐसे व्यक्ति की हिंसा जहाँ समाज के लिये सुखप्रद है, वहां स्वयं उसके लिये भी। यह कार्य प्रायः समाज या राष्ट्र-शक्ति द्वारा सम्पन्न होता है, पर कभी-कभी एक व्यक्ति द्वारा भी जिसमें सम्पूर्ण समाज या राष्ट्र की भावना केन्द्रित हो जाती है। राम ने राक्षसों का वध किया तो मानों राम ने समग्र समाज की भावना को संत्राण दिया, उसकी आकांक्षा को पूर्ण किया। राक्षसी हिंस्र भावना से जो समग्र समाज की हिंसा हो रही थी, वह दस्यु-वध द्वारा, राक्षसों के विनाश द्वारा नष्ट हो गई। हिंसा द्वारा हिंसा का

निराकरण किया गया और आर्यों, सत्पुरुषों के समाज को बचाया गया। इस हिंसा से समाज तो बचा ही, जिस दस्यु की हिंसा की गई, वह भी उस शरीर से वंचित हो गया जिससे वह अनुचित एवं विघातिका हिंसा किया करता था।

दस्यु की हिंसा को नष्ट करने का एक उपाय और है। वह उपाय है स्तोम। स्तोम या स्तुति गुण-दोष विवेचना का नाम है। यदि हम दस्यु को हिंसा की गुण-दोष-विवेचना द्वारा यह समझा सकें कि उसका कार्य न केवल समाज के लिये, प्रत्युत उसके लिये भी अहितकर है, उससे समाज का ही नहीं, स्वयं उसका भी विनाश होता है, उसके उत्थान में भी घोर बाधा पड़ती है, तो दस्यु अपनी दस्युता छोड़कर आर्यमार्ग को अपना लेता। दस्यु का आर्य बन जाना मानों दस्यु का कायाकल्प है, प्रथम शरीर का मरण तथा नवीन शरीर का जन्म है, उसके प्रथम मलिन मन का अस्त एवं नवीन दिव्य मन का उदय है। आध्यात्मिक क्षेत्र में यही प्रणाली श्रेयस्कर मानी गई है। यदि यह प्रणाली सफल न हो, दस्यु हिंसा का परित्याग न करें, अपनी दस्यु-पद्धति पर ही चलता रहे, और समाज के लिये कण्टक बना रहे, तो उसकी हिंसा को हिंसा द्वारा भी हटाना चाहिये। विकास का पथ अनवरुद्ध रहे—समाज के लिये और उस दस्यु के लिये भी—इसके लिये सभी सुलभ उपायों का अवलम्बन वांछनीय है।

सामाजिक शत्रु बाह्य होते हैं, पर अपने शत्रु तो अपने ही अन्दर छिपे पड़े हैं। वे बाहर के दस्युओं के ही सूक्ष्म रूप हैं। बाहर शत्रुओं से आप स्थान-परिवर्तन द्वारा सुरक्षित हो सकते हैं, पर आन्तरिक शत्रु तो जहां आप जायेंगे वहीं आपके साथ रहेंगे। इनसे मुक्ति कैसे मिलेगी? इनसे तो अपने अन्दर ही युद्ध करना है, अन्दर से ही इन पर चोट करनी है और मार कर या वशीभूत करके विजय प्राप्त करनी है। तो यह आन्तरिक युद्ध-संचालन कैसे होगा, किस रूप का होगा, जिससे हम शत्रुरहित हो सकें और सुरक्षित होकर अपना विघ्न-बाधा-विहीन विकास कर सकें?

इस युद्ध-संचालन का प्रथम सूत्र चिन्तन है, अपनी वृत्तियों के गुण-दोषों

का विश्लेषण है, आत्म-मंथन है। पर यह कार्य सरल नहीं है। आत्मचिन्तन अस्मिता के आवरण में सुकर नहीं है। जो व्यक्ति अपने को ही सब कुछ समझता है, अपने ऊपर या अपने से अधिक शक्तिशाली किसी अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता, वह आत्म विश्लेषण के लिये सहसा उद्यत नहीं होगा। जब ठोकर लगते-लगते किसी दिन उसे अपने असामर्थ्य का साक्षात अनुभव होने लगेगा और उसके हाथ किसी अज्ञात शक्ति का साहाय्य प्राप्त करने के लिये मूक प्रार्थना में ऊपर उठ जायेंगे, तब वह आत्म चिन्तन के योग्य हो सकेगा। इस चिन्तन में उसे अपनी अशक्ति के एक नहीं अनेक रूपों का ज्ञान होगा और उस अज्ञात ऊर्ध्व शक्ति के विविध रक्षणकारी सामर्थ्यों का साक्षात भी होगा। उसके गुणों के प्रकाश में इसे अपने अवगुणों का आभास मिलेगा। यह आभास ही दुर्गुणों के दूरीकरण-प्रयत्न में परिणति प्राप्त करेगा और चिन्तक को विकासपथ पर लाकर खड़ा कर देगा। वैदिक परिभाषा में इस प्रक्रिया को स्तोम की संज्ञा दी गई है।

स्तोम-विधि की सफलता उसके सेवन, स्नेहन एवं सख्य में है। स्तुति में, परम देव के गुण-गान में, उसकी प्रशस्ति के चिन्तन में हम निरन्तर लगे रहें, स्तुति में स्नेह वर्धमान होता रहे, स्नेह आसक्ति और आसक्ति व्यसन का रूप धारण कर ले, यहां तक कि वह हमारा एक अभिन्न अङ्ग बन जाय—उसके सख्य में हम अपना जीवन ही व्यतीत करने लगें—तो निस्सन्देह हमें स्तुति-साफल्य का वरदान प्राप्त हो जायगा। हमारा स्तोम साधन या सिद्धि के शिखर को चूमने लगेगा।

स्तोम उपासना काण्ड की आधारभूमि है। इसमें प्रतिष्ठित होकर ही साधक भक्ति की भावी भूमिकाओं में प्रवेश करने के योग्य बन पाता है। स्तोम मानों साधक की माता है। माता जैसे गर्भ में धारण करके पुत्र को जन्म देती है, वैसे ही स्तुति के गर्भ से साधक का प्रसव होता है। साधक है तो स्थविर, अतीव प्राचीन और पुराण, पर स्तुति उसे नया जन्म देती है, पुराण को अभिनव रूप में उत्पन्न करती है, साधक का स्थविर होते हुए भी यह बाल

रूप है[1]। और माता जैसे बच्चे को पालन-पोषण करके बढ़ाती है, वैसे ही स्तुति साधक को उपासना की ओर बढ़ाती है[2]। गाय जैसे बच्चे को चाटकर, चूमकर, निर्मल और दर्शनीय बना देती है, स्तुति भी साधक को अपने स्नेहम द्वारा, प्रेम-प्लुत करके पवित्र बना देती है।[3]

जब तक जीव स्तोम की उर्वर भूमि में प्रवेश नहीं करता, तब तक तृष्णा-मरीचिका से भ्रान्त निराशा की मरुभूमि में ही भ्रमण करता रहता है। विविध पदार्थों का विज्ञान उसे वैविध्य के भ्रमरजाल में फंसा देता है। एक से पहिचान की, तो उससे भिन्न अपर के अज्ञान से आक्रान्त भी रहा। एक दिशा में चला, तो दूसरी दिशा अदृष्ट, असंपृक्त बनी रही, यह उलझन यह विडम्बना, उस एक की स्तुति, उस एक के स्तोम, उस एक के गुण-ज्ञान से ही दूर हो पाती है। फिर साधक भटकता नहीं, स्थिर हो जाता है। तृष्णा जीर्ण हो जाती है और साधक बालक की भांति निरीह, निस्पृह एवं स्वस्थ। उसे अपनी स्तुति रूपी माता मिल गई जिसकी गोद में वह निर्भय होकर किलकारियां भर रहा है। मां उसे 'क्वाहं' नहीं, 'सोहं' की मीठी लोरियां सुनाकर पुनीत जागरण और सदाचरण में दीक्षित कर रही है।

स्तोम में ही स्थिरता है, समरसता है। स्थिरता जड़त्व जैसी नहीं, चैतन्य से ओतप्रोत। इस स्थिति को अथर्व—सज्ञान अविचलता, अकंपन की स्थिति भी कहा जा सकता है। उद्वेग प्राणी को विचलित करते रहते हैं, पर स्तुति में वे शान्त हो जाते हैं। संगीत की सी समस्वरता, समरसता भी स्तोम में विद्यमान है। सामवेद उपासना काण्ड का वेद है। उसमें ऋक् अर्थात स्तुति गीतिका-बद्ध है। सामवेद उत्तरार्चिक का प्रथम मंत्र 'उपास्मै गायता नरः' पद द्वारा साधकों को हरि-गुण-गान की प्रेरणा देता है। प्राण तो प्रतिपल अपने

१. गृष्टिः ससुव स्थविरं...इन्द्रम्। ऋ० ४।१८।१०
२. यजाम इन्नमसा वृद्धमिन्द्रं। ऋ० ३।३२।७
३. अरीळ्हं वत्सं चरथाय माता। ऋ० ४।१८।१०

स्वरों में, श्वासोच्छ्वासों में प्रणव का गाना गाया ही करता है। समस्त प्रजाओं का प्राण सूर्य भी उद्गीथ के गान में संलग्न है[1]। सूर्य की गति को गायत्री कहते हैं। गायत्री का अर्थ है :—गायति च त्रायते च—गायत्री में भी प्रणव का ही गान है। त्रिपदा गायत्री मानों त्रिमात्रिक ओंकार ही है अथवा उसी की संगीतात्मक व्याख्या है। प्राण ही चक्षु या विद्युत है। वही आदित्य है। प्राण के तीन सवन-प्रातः सवन, माध्यन्दिन सवन तथा तृतीय सवन भी वासव, रौद्र तथा आदित्य या वैश्वदेव साम का गान गाते हैं।

प्राण के स्वरों में जिस ओ३म् की ध्वनि है, गीतिका है, वह ओ३म् ही प्रणव है, अक्षर है, उद्गीथ है।[2] उद्गीथ की प्रशंसा में छान्दोग्य उपनिषद् कहती हैं :—"इन भूतों का रस पृथ्वी है, पृथिवी का रस आपः (जल) है, जलों का रस ओषधियां हैं, औषधियों का रस पुरुष है, पुरुष का रस वाणी है, वाणी का रस ऋक् है, ऋक् का रस साम है और साम का रस उद्गीथ है। यह जो उद्गीथ है, वह रसों में सर्वश्रेष्ठ आठवां रस है।" स्तोम अक्षर ओ३म् की ही स्तुति है, उद्गीथ का ही गान है। जब वाणी प्राण के साथ संयुक्त होती है, जब ऋक् साम-गायनों में भर कर गाया जाता है अर्थात जब दोनों का जोड़ा होता है—मिथुनीभाव होता है, तब यह मिथुन ओ३म् अक्षर में ही संसृष्ट होता है, एकत्व प्राप्त करता है और तभी एक दूसरे को तृप्त करते हैं। वाणी से प्राण तथा प्राण से वाणी, ऋक् से साम तथा साम से ऋक्, ज्ञान से भक्ति तथा भक्ति से ज्ञान परितृप्त होते हैं। यह ओ३म् अक्षर, प्रणव या उद्गीथ के गान की ही महिमा है। ज्ञान और भक्ति का आप्यायन इसी ओ३म् गायन द्वारा होता है क्योंकि इसी में दोनों आकर मिलते हैं, एक होते हैं। अक्षर उद्गीथ (ओ३म्-गान, ऊर्ध्वगान) को जो इस रूप में समझ लेते हैं,

---

१. असौवा आदित्यः ओ३मिति स्वरन्नेति। छान्दोग्य १।५।१

२. अथ खलुयः उद्गीथः स प्रणवः। यः प्रणवः स उद्गीथः।
छान्दोग्य १।५।१

और उसकी उपासना करते हैं, वे भी कामनाओं को तृप्त करने वाले बन जाते हैं।

ओ३म् में त्रयी विद्या की भी प्रतिष्ठा है। ओ३म् का श्रावण, शंसन तथा गायन ऋक्, यजु तथा साम विद्या का ही प्रतीक है। ज्ञान तब तक श्रावण ही है, दूसरों को सुनाना मात्र है जब तक वह अपना अंग नहीं बन जाता, अपने आचरण में परिणत नहीं हो जाता। आचरण अथवा कर्म मानों ज्ञान का शंसन करने लगता है, उसकी सार्थकता या व्यापकता बन जाता है। गायन में श्रावण तथा शंसन एक हो जाते हैं। गायक का गान जहां दूसरों को तन्मय करने की शक्ति रखता है, अन्यों को भाव-विभोर कर देता है, वहां स्वयं गायक भी उसमें डूब जाता है। भक्ति भावना की यही महिमा है, उसकी यही रसवत्ता है। ज्ञान और कर्म दोनों ही उससे उपकृत होते हैं। साम (उपासना काण्ड) को जो प्राण कहा गया है, वह इसी हेतु, क्योंकि ऋक् रूप वाणी तथा यजुः रूप मन दोनों उसी से प्राणवान बनते हैं, उसी में पवित्रता प्राप्त करते हैं।

उद्गीथ का गाना तो सब गाते हैं, पर प्राण जब उद्गीथ गायन करता है, तभी उसकी शक्तिमत्ता वास्तविक रूप में प्रकट होती है। छान्दोग्य के प्रारम्भ में ही एक कहानी आती है। प्रजापति की दो सन्तानें थीं : एक देव और दूसरे असुर। दोनों में युद्ध छिड़ गया। देवों के पास एक ही अस्त्र है :- उद्गीथ का गान। इसी का उन्होंने अवलम्बन लिया और सर्वप्रथम नासिका से कहा कि तुम हमारे लिये उद्गीथ गाओ। नासिका ने उद्गीथ गाया, परन्तु असुरों ने उसे पाप से बींध दिया। इसीलिये नासिका सुरभि तथा दुर्गन्धि दोनों को ही सूंघती है, क्योंकि वह पाप से विद्ध है। वाणी, चक्षु, श्रोत्र तथा मन की भी यही दशा हुई। असुरों ने इन्हें भी पाप से बींध दिया। पाप से विद्ध वाणी सत्य तथा झूठ दोनों बोलती है, चक्षु दर्शनीय हो चाहे अदर्शनीय दोनों को देखते हैं, कान श्रवणीय तथा अश्रवणीय दोनों को सुनते हैं और

मन भी अच्छी तथा बुरी दोनों प्रकार की कल्पनायें करता है। परन्तु जब देवों ने प्राण से उद्गीथ गाने को कहा और प्राण ने उद्गीथ गान गाया, तो असुरों का उस पर बल न चला, वे उसे पाप से विद्ध न कर सके। इसके विपरीत जैसे ढेला पत्थर पर गिरते ही चकनाचूर हो जाता है, वैसे ही असुर नष्ट-भ्रष्ट हो गये।

कहानी का आशय इतना ही है कि उद्गीथ-गान सबको सफलता नहीं देता। चक्षु-श्रोत्र आदि के समान जो व्यक्ति स्वार्थी हैं, वे उद्गीथगान से तृप्त नहीं हो सकते, विजयी नहीं बन सकते। जो व्यक्ति प्राण के समान *निःस्वार्थ भाव से सबकी सेवा में लगे हैं, वे ही उद्गीथ की उपासना द्वारा* विजयी बनते हैं। प्राण सु तथा कु में नहीं पड़ता और इसीलिये पाप उस पर प्रहार नहीं कर पाता। जिस पर स्वार्थ का शस्त्र न चल सके, जो निरन्तर परोपकार में ही निरत रहे, जो कुछ हाथ लगे, उसे दूसरों की सेवा में लगा दे, वह निस्संदेह पाप से तर जाता है, पवित्र बन जाता है और अमरत्व प्राप्त करता है।

कहानी में स्तोम की महिमा तो है ही, अध्वर अर्थात् यज्ञ की महिमा भी उसमें आ गई है। उद्गीथगान स्तोम है, पर प्राण का उद्गीथ गान अध्वर-सहित स्तोम है। अध्वर वह स्थिति है जिसमें साधक की हिंसा कोई भी नहीं *कर सकता, क्योंकि वह किसी की हिंसा नहीं करता। अंगिरा, बृहस्पति तथा* वसिष्ठ ऐसे ही साधक थे। उन्हें स्तोम तथा अध्वर से निकला रस प्राप्त था जो उनके अङ्ग-अङ्ग में व्याप्त था, वे बृहती वाणी के अधिपति थे, वे सर्वातिशायी रूप में बसे हुए थे, उनका वास सर्वश्रेष्ठ था, क्योंकि वे स्तोम तथा अध्वर की उपासना द्वारा केन्द्रस्थ हो गये थे।

जो कोई साधक प्राण-विधि द्वारा उद्गीथ की उपासना करेगा, ओ३म् के स्तोम में लीन होगा, साम द्वारा ऋक् तथा यजु अथवा ज्ञान एवं कर्म में मिठास उत्पन्न करेगा, ज्ञान की शुष्कता तथा कर्म की कठोरता को दूर कर भक्ति की भावना को अपनावेगा, प्रभु-प्रवण बनेगा और स्तोम के साथ अध्वर-

पथ पर चलेगा, वह भी अभीष्ट को प्राप्त करेगा, आप्यायित होगा तथा अनागस होकर अमरत्व को वरण कर लेगा। मृत्यु रूप पाप से जो पृथक होना चाहता है तथा अमृत देवों की पंक्ति में बैठने का अभिलाषी है, उसके लिये ये दो अमोघ साधन अपनाने योग्य हैं।

स्तोम तथा अध्वर की प्रशंसा वेद में अनेक स्थानों पर है। दोनों के घनिष्ट सम्बन्ध की ओर हम प्रारम्भ में ही संकेत कर चुके हैं। ऋग्वेद १-१-४ के मंत्र में विश्वामित्र के पुत्र मधुच्छन्दा ने भी इसी तथ्य का दर्शन किया था। मंत्र कहता है :—'अग्ने यं यज्ञमध्वरं विश्वतः परिभूरसि। स इद् देवेषु गच्छति।' प्रकाशस्वरूप प्रभो! जिस अध्वर यज्ञ को तुम सब ओर से व्याप लेते हो, वही यज्ञ देवों को प्राप्त होता है, देवत्व की ओर ले जाता है, अमरत्व की प्राप्ति कराता है। सारांश यह है कि हम अध्वर यज्ञ करें, पर प्रभु को भी स्मरण रखें। प्रभु के स्तोम के साथ यज्ञ-सम्पादन करें।

यस्मादृते न सिद्ध्यति यज्ञो विपश्चितश्चन। (ऋ० १-१८-७)

विपश्चित, विशेष ज्ञानी विप्र भी यदि यज्ञ करता है, तो उसका वह यज्ञ प्रभु के स्तोम के बिना सफल नहीं हो सकता। अर्थात् हम प्रभु-स्मरण, ईश-स्तवन, हरि-गुण-गान के साथ यज्ञ को प्रारंभ करें, अध्वर का अनुष्ठान करें, त्याग-याग करें, तभी सिद्धि प्राप्त होगी।

यः स्तोमेभिः वावृधे (ऋ० ३।३२।१३) जहाँ हम स्तोमों द्वारा अपने को तथा प्रभु को बढ़ाते हैं, वहां 'यज्ञोहिते इन्द्र वर्धनो भूत् (ऋ० ३।३२।१२) *यज्ञ भी इन्द्र का वर्धनकारी है। यज्ञ द्वारा हम तो समृद्ध बनते ही हैं, अपनी* समृद्धि द्वारा प्रभु को भी प्रकाशित करते हैं। यहां जो कुछ विभूति, ऊर्ज, श्री, समृद्धि आदि हैं, सब उसी प्रभु की हैं। अतः इनकी प्राप्ति मानों प्रभु की देन को प्रकट कर रही है, प्रभु का ही प्रकाश कर रही है।

नासुन्वतो सख्यं वष्टि शूरः—जो यज्ञ नहीं करता, भगवान उसका साथ नहीं देते। इच्छन्ति देवाः सुन्वन्तं–देव भी यज्ञ करने वाले से ही प्रेम करते हैं, उसी को चाहते हैं। दिव्यता यज्ञकर्ता के पास ही आती है।

बृहन्निद् इध्म एषां भूरि शस्तं पृथुः स्वरुः । येषामिन्द्रो युवा सखा । प्रभु जिसके साथी बन गये, उन्हीं का यज्ञ महान है। छान्दोग्य २-२३-१ के अनुसार धर्म के तीन स्कन्ध हैं। प्रथम स्कन्ध यज्ञ, अध्ययन और दान से बनता है, द्वितीय तप से और तीसरा ब्रह्मचर्यपूर्वक आचार्यकुल में निवास करने से। यज्ञ और दान में अन्तर है। दान में आप अपने उपकृत को जानते हैं, यज्ञ में नहीं। ३-१६-१ में छान्दोग्य पुरुष के जीवन को ही यज्ञ का नाम देती है और उसे तीन सवनों में विभक्त करती है। चौबीस वर्ष तक जीवन यज्ञ का प्रातः सवन है। यह सवन मनुष्य को वासव शक्ति से सम्पन्न करता है। वसुओं की वासक विभूतियों से जीवन समृद्ध, योग्य तथा कार्य-दक्ष बनता है। २४ से चवालीस वर्ष तक का समय माध्यन्दिन सवन है। इसमें रौद्र शक्ति की प्रधानता रहती है। काल-कठोर कर्मठता में यह अवधि व्यतीत करनी पड़ती है। अड़तालीस वर्ष का तृतीय सवन है जो आदित्य की शक्ति प्राप्त करा देता है। इस प्रकार जीवन रूपी यज्ञ अन्त में दिव्यता की ओर ले जाता है। यही मानव का ध्येय है। उसे देव बनना है, अदित, अच्युत तथा अमर बनना है, परम देव प्रभु की प्राप्ति करनी है।

बृहदारण्यक उपनिषद्, चतुर्थ ब्राह्मण के १६वें संदर्भ में भी यही बात कही गयी है : स यज्जुहोति, यद्यजते, तेन देवानां लोकः। मनुष्य जो हवन करता है, यज्ञ करता है, उससे वह देवों के लोक को प्राप्त करता है। स्वस्ति-वाचन तथा शान्ति प्रकरण के मंत्रों में यज्ञ तथा देवों का अनेक बार उल्लेख हुआ है। देवों की माता अदिति है, अखण्ड अवस्था है। मानव, प्रतिपल तोड़ने-फोड़ने वाली मृत्यु का अनुभव करता है, खण्ड-खण्ड कर देने वाली, विघटनकारी, विध्वंसक स्थिति में पड़ता है और क्लेश-भाजन बनता है। अतः स्वभावतः वह इस मारक अवस्था से पीछा छुड़ाना चाहता है। वह ऐसी स्थिति की कामना करता है जहां पल-पल की यह विपदा की मार उसके ऊपर न पड़े, जहां वह अखण्डता, अमरता का अनुभव कर सके। वह ऐसी अवस्था उपलब्ध करना चाहता है, जहां-पाप-शाप, क्लेश-कष्ट, मरण-जरण उससे कोसों दूर रहें।

यह अवस्था माता अदिति और उसके पुत्र देवों को प्राप्त है। इसी हेतु मानव जीवन-यज्ञ में देवों का आह्वान करता है, दिव्यता को अपने समीप बुलाता है और देवाधिदेव प्रभु का स्तवन, शंसन एवं गायन करता है जिससे वह उनके निकट पहुँच सके अथवा वे ही उसके नेदिष्ठ बन जांय। मंत्र तो अनेक हैं, पर ऊपर जो कुछ लिखा गया है, वह निम्नांकित मंत्र पर विशेषतया आश्रित है:—

> को वः स्तोमं राधति यं जुजोषथ
> विश्वे देवासो मनुषो यतिष्ठन।
> को वोऽध्वरं तुविजाता अरं करद्यो
> नः पर्षदत्यंहः स्वस्तये॥ (ऋ० १०।६३।६)

जिस स्तोम में तुम तन्मय होकर लगे हो तथा तुम्हारे जैसे, अनेक साधक स्थित हैं, जुटे हैं और जुटे ही नहीं, तुम सब जिसके अनन्य प्रेमी, एकान्त सेवक बन गये हो, उस स्तोम को कौन सिद्धि प्रदान करेगा? यह जो तुम अध्वर, कुटिलता-रहित, हिंसाविहीन यज्ञ कर रहे हो, आर्जव एवं त्याग को अपना रहे हो, अहिंसा मत पर दृढ़ हो, अनुष्ठानलीन हो, उसे कौन दूर-दूर तक प्रसिद्ध करेगा, कौन उसे अलंकृत करेगा? अरे! यह आनन्द रूप प्रजापति ही है जो तुम्हें रज के चांचल्य से निकाल कर सात्विकता में स्थिर करेगा, तुम्हारे पापों को पीस डालेगा। उसका स्तोम-गान करते हुए अध्वरपथ पर चले चलो, तुम्हें स्वस्ति की अवस्था प्राप्त हो जायगी—स्वस्ति, अदिति, कल्याण की अखंड आनन्दमयी अवस्था।



हमारा योग क्षेम

प्रत्येक व्यक्ति, प्रत्येक राष्ट्र अपने योग-क्षेम की चिन्ता करता है। वैयक्तिक योग-क्षेम से एक व्यक्ति या एक परिवार सुरक्षित ही नहीं होता, आगे भी बढ़ता है। राष्ट्रीय योग-क्षेम से राष्ट्र के साथ उसके सभी अंग सुरक्षित रहते तथा प्रगति करते हैं। शारीरिक क्षेम नीरोग रहना है। जो स्वास्थ्य प्राप्त है, वह बना रहे, रोग आक्रमण करके उसे हिला न दे, यह क्षेम है। योग है बलवान बनकर कर्तृत्व शक्ति से सम्पन्न होना। पारिवारिक क्षेम है, परिवार के सदस्यों का स्वास्थ्य, सम्पत्ति, यश ज्यों का त्यों बना रहे। योग है इन सम्पत्ति तथा यश की वृद्धि। राष्ट्रीय क्षेम है, राष्ट्रीय सीमाओं की सुरक्षा, सम्पत्ति का संरक्षण, प्रतिष्ठा का स्थिर रखना। योग है—विश्व बन्धुत्व की भावना को ध्यान में रख कर कर्तृत्व तथा यश की सीमाओं का विस्तार करना, सम्पत्ति को बढ़ाना और प्रतिष्ठा को चमकाना। योग-क्षेम दोनों जीवन में आवश्यक है। योग न हो, तो क्षेम तो रहना ही चाहिये, क्योंकि क्षेम के आधार पर ही योग संभव है।

अध्यात्म क्षेत्र में आत्मा का क्षेम उसी क्षण नष्ट हो जाता है जिस क्षण वह प्रकृति के साथ सम्पर्क करता है। उसकी भूमि अपनी भूमि नहीं रहती। वह प्रकृति के अधम, मध्यम एवं उत्तम पाशों से आवृत हो जाती है। आत्म यात्रा में ये विघ्नस्वरूप हैं। इन्हें हटाये बिना क्षेम कहाँ, कुशल कहाँ? इनके हटने पर स्वरूप में प्रतिष्ठित होना क्षेम है तथा परमात्मा की प्राप्ति योग है। योग को संयोग, प्रकृति-पाशों से आवृत होने को वियोग और उनसे छूटने को उद्योग कहते हैं। यात्रा के यही तीन पड़ाव पारिवारिक, सामाजिक तथा राष्ट्रीय योग-क्षेम पर भी लागू होते हैं।

भारत राष्ट्र का क्षेम उसी दिन छिन गया, जिस दिन हमारी सीमायें संकुचित हुईं। क्षेम का ह्रास स्वस्थता में बाधा डालता ही है। परिणामतः न

हमारा शरीर स्वस्थ है, न मस्तिष्क। न कोई सिद्धान्त जड़ पकड़कर अंकुरित, विकसित एवं पुष्पित हो पाया है और न कोई संस्था ही सम्मानास्पद बन सकी है। आधुनिकतावाद, अभिनवीकरण हमारी आँखें विदेशों की ओर ले जाते हैं, अपनेपन को देखने भी नहीं देते। परिणामतः न हम अपने से चिपटे रह सके और न नवीनता को उसकी समग्रता में ग्रहण कर सके। न हम इधर के रहे, न उधर के।

परकीय सिद्धान्तों को जो आदर दिया जाता है, उससे देश, देश की आत्मा, देश की जनता, परम्परागत परिपाटियाँ, समय की क्रूर कसौटी पर कसी गई तथा तप्त स्वर्ण की भाँति खरी उतरनेवाली व्यवस्थायें आँखों से ओझल होती जाती है। हम खोते तो जाते हैं, पर प्राप्त कुछ नहीं कर रहे। यह दयनीय स्थिति हमें कहाँ ले जायगी? जब हमारा क्षेम ही सुरक्षित नहीं रह सका, तो योग क्या कर सकेंगे? क्षेम स्वस्थता है, तो योग बल-वृद्धि। क्षेम पूंजी है, तो योग पूंजी का प्रस्तार।

तैत्तिरीय उपनिषद् के अन्त में ऋषि कहते हैं : 'क्षेम इति वाचि'–वाणी में क्षेम है। 'योग क्षेम इति प्राणापानयोः'—योग और क्षेम दोनों प्राण तथा अपान में हैं। वाणी में क्षेम है, इसका अभिप्राय क्या है? क्या क्षेम मेरे भाषण पर आश्रित है? अनुभवी विद्वानोंका अभिमत है कि सात्विकता वाणी मानव की रक्षा करती है। मधुर एवं सूनृतवाणी का उच्चारण, वक्ता के क्षेम का सूचक है। कठोर एवं अनृत वाणी के उच्चारण से वक्ता की शारीरिक एवं मानसिक शक्तियों का तो ह्रास होता ही है, उसकी आर्थिक तथा सामाजिक शक्तियों के ह्रास की संभावना भी उत्पन्न हो जाती है। प्रथम ह्रास का सम्बन्ध मनोविज्ञान से है, दूसरे का सामाजिक विज्ञान से। अतः वाणी में क्षेम निहित है, यह स्वतः सिद्ध है। एक दृष्टि और भी है। वाणी से तात्पर्य यहां केवल वाणी ही न लेकर उपलक्षण द्वारा संपूर्ण पञ्चतन्मात्राओं का अर्थ लेना चाहिये। वाणी या ध्वनि या शब्द आकाश का गुण है। अतः पञ्चतन्मात्राओं के गुणों से उनके गुणियों का अर्थ भी लिया जा सकता है। वाणी ही नहीं, क्षेम रस, रूप,

स्पर्श तथा गंध में और परिणामतः व्यक्ति के पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश में है। शरीर में पांचों तत्व विद्यमान हैं। सबकी सुरक्षा उनसे संबंधित गुणों की सुरक्षा पर अवलम्बित है। मेरी वाणी ही नहीं, मेरा श्रवण, मेरा दर्शन, मेरा रसन, मेरा स्पर्शन, मेरा जिघ्रन सब अनुकूल दिशा में प्रयुक्त होते रहें, तो मेरा पंच तत्वों से बना शरीर बहुत दिनों तक सुरक्षित रह सकेगा। प्रतिकूल दिशा विघातिका है, ह्रास या हानि की ओर ले जानेवाली है। जो शरीर मुझे प्राप्त है, मेरी बहुमूल्य सम्पत्ति है। इसके कुशल, क्षेम या सुरक्षा पर ही मेरी भावी प्रगति संभव है।

वाणी में क्षेम है, पर प्राण और अपान में योग तथा क्षेम दोनों हैं। प्राण की क्रिया पञ्चतन्मात्राओं या पंचभूतों से पृथक है। पंचभूत निर्जीव हैं। प्राण उन्हें सजीवता देता है। प्राण अपने बाह्य समुद्र में डुबकी लगाकर शरीर के अन्दर प्रवेश करता है। शरीर में नवीन प्राणवत्ता का योग होता है। अपान की क्रिया अन्दर के मल को बाहर फेंकती है। उससे क्षेम सम्पादित होता है। अपान जहाँ दूषित-वायु-मल का अपनयन करता है, वहां आमाशय में पड़े व्यर्थ जल तथा अन्न के भाग का उत्सर्जन भी करता है। यदि यह क्रिया न हो तो अकेला प्राण बहुत दिनों तक शरीर में नहीं टिक सकेगा। योग क्षेम पर आधारित है। प्राण की क्रिया भी अपान की क्रिया का सहारा लेती है। प्राण तथा अपान के साथ समान, व्यान और उदान भी सक्रिय रहते हैं। मुख्य प्राण के ही ये विभिन्न भेद हैं। समान प्राण खाये-पीये को एकरस बनाता, व्यान उस रस को रक्तवाहिनी नाड़ियों द्वारा शरीर भर में फैलाता, अङ्ग-अङ्ग को पोषण देता और उदान शरीर को ऊपर उठाता, लम्बा बनाता है। इन तीनों का कार्य योग तथा क्षेम दोनों को सहायता देता है।

व्यक्ति, समाज तथा राष्ट्र की प्राणवत्ता उसकी योग-क्षेम-वाहिका है। अपान प्राण का ही एक भेद है। जैसे शरीर में प्राण अपने अपान-भेद से शरीर के शत्रु-मल को बाहर फेंकता है, वैसे ही राष्ट्र का प्राण अपने क्षत्रिय या सैनिक रूप में देश के शत्रु को अन्दर नहीं रहने देता, बाहर निकाल के मानता है।

जब तक शत्रु अन्दर है, तब तक सुख की सांस कहां? देश के शत्रु वे हैं जो इस देश को अपना देश ही नहीं मानते। देश का अन्न-जल खाकर पुष्ट होते हैं, पर अपनी आंखें और दिमाग उस देश की ओर रखते हैं जहां उनका मज़हबी या राजनैतिक लगाव है। ऐसे व्यक्ति देश के विध्वंस में कुल्हाड़ी का बेंट बनते हैं। राष्ट्र की प्राणशक्ति का कर्तव्य है कि वह ऐसे पंचमांगियों, देश-द्रोहियों को पहिचाने और बीन-बीन कर अलग कर दे। शरीर से अलग कर देने से भी काम चल जायगा, पर स्थायी रूप से नहीं। शरीर मन से चलता है। वस्तुतः इनका मानसिक परिवर्तन ही इनके पृथक्करण का शाश्वत समाधान है। यदि ये मन से इस देश को अपना देश समझने लगें, यहां की भाषा और सभ्यता को अपनी भाषा और सभ्यता समझें, यहां के पूर्वजों को अपना पूर्वज मानें, यहां के उत्सवों को अपना उत्सव समझकर अपनावें, तो देश की अस्मिता-आत्मवत्ता के साथ ये एकत्व का अनुभव कर सकते हैं। यदि ये यहां की उर्वरभूमि को, उदार अन्तरिक्ष को मरुभूमि या कट्टर मतान्धता में परिणत करने का प्रयत्न करेंगे अथवा यहां की अध्यात्म-प्रधानता पर घोर भौतिकता की प्रतिष्ठा करना चाहेंगे तो इनसे मस्तिष्कों के साथ शरीर का संघर्ष भी अवश्य होगा। वैचारिक विवाद से तथ्य का बोध निकल आता है। इस विवाद से हमें घबड़ाने या भयभीत होने की आवश्यकता नहीं है। ब्राह्मणत्व इस मस्तिष्क-संघर्ष में भाग लेगा। शरीर-संघर्ष के समय क्षत्रिय या प्राण तत्व आगे आवेगा। मन की सहायता प्राण करता है तो ब्राह्मण की सहायता क्षत्रिय करता है। यदि देश का प्राण जागरूक रहकर शत्रु की शत्रुता का मन से निष्कासन करा देता है तो प्राण की यह अपानता देश के योग-क्षेम के लिये सुखद सिद्ध होगी। यदि मन से परिवर्तन न हो, तो शरीर से तो अपनयन, उत्सर्जन, निष्कासन हो ही जाना चाहिये। मल के रहते शारीरिक स्वास्थ्य नहीं है। देश में शत्रु के रहते शान्ति नहीं है।

ऋषि कहते हैं :—कर्म इति हस्तयोः—कर्म हमारे दोनों हाथों में है। गति रिति पादयोः—गति दोनों पैरों में है। विमुक्ति रिति पायौ—विमुक्ति

पायु में है। स्वाधीन राष्ट्रों के हाथ स्वतंत्र होते हैं और वे ही देश-हितकारी कर्म कर सकते हैं। स्वाधीन होकर भी यदि हाथ बँधे हों, तो कर्म नहीं हो सकेगा। पैरों में बेड़ी पड़ी हों, तो गति नहीं हो सकेगी। ये बंधन शारीरिक तथा मानसिक दोनों हो सकते हैं। स्वाधीन देशों में भी ऐसे बंधन हो सकते हैं। यदि शासन ने आज्ञा दी कि देश में केवल शर्करा बनेगी, गुड़ नहीं, तो गुड़ बनाने वालों के हाथों में बंधन पड़ गये, उनकी जीविका का साधन चला गया। यदि शासन ने आज्ञा दी कि कालेज बन्द रहेंगे, तो पैरों में चलने की शक्ति रहते भी कुण्ठित हो गई। आप पढ़ने के लिये नहीं जा सकते। करफ्यू या १४४ दफा लगने पर भी समय-विशेष के लिये यही दशा हो जाती है। उतने समय में न आप घूमने जा सकते हैं, न बाजार से सौदा ला सकते हैं। यदि कहीं बिजली या पानी बन्द कर दिया जाय, तो नागरिक की क्या दशा होगी? कूप या तैल दीप का भी अभाव हो तो, भोजन-पान-पढ़ना आदि सब लुप्त। पूर्ण विमुक्ति। पानी न पहुँचने पर उदरस्थ सामग्री सरकेगी कैसे? प्रकाश न मिलने पर पानी मिलना भी बन्द हो जायगा। नगर की जल-कल बिजली की कल से ही चलती है। उद्योग-धन्धे, मिल, कारखाने, आज सब बिजली के बल पर ही काम करते हैं। पायु का काम है मल-निष्कासन द्वारा शरीर का संरक्षण, रोगों से और मृत्यु से भी मुक्ति प्रदान करना। यह विमुक्ति इसके अभाव में कहां से आवेगी? पायु का अपान सम्बन्धी कार्य न हुआ तो मरण सामने आकर खड़ा हो जायगा।

ऋषि के शब्दों में यह तो मानुषी समाज्ञा है, व्यक्ति या राष्ट्र की बाह्य शारीरिक साधना है। इसके साथ दैवी समाज्ञा भी अपेक्षित है। व्यक्ति शरीर ही तो नहीं है, उसमें दैवी अंश भी है। यह दिव्यता तृप्ति या संतुष्टि, मनोबल, यश, ज्योति तथा प्रजाति में चरितार्थ होती है। तृप्ति वृष्टि में है। बल विद्युत में है। यश पशुओं में है। ज्योति नक्षत्रों में है। प्रजाति अमृत तथा आनंद है जो उपस्थ में है। तृप्ति वृष्टि में है। वृष्टि के लिये सूर्य को तपना पड़ता है। यह तप ही पृथ्वी पर फैले जल को वाष्प बना कर ऊपर ले जाता तथा मेघ बना-

कर बरसा देता है जिससे पृथ्वी को उर्वरा शक्ति बढ़ती तथा उत्पादिका शक्ति को सहायता मिलती है। इससे जलाशय या सरिता या सागर में स्थित पानी बिना नहर निकाले और बिना मनुष्य के हाथ लगे, खेतों में पहुँच गया। कई मनुष्य मिलकर भी चाहें, तो यह काम नहीं कर सकते। वृष्टि पृथ्वी को ही नहीं, मनुष्यों को भी तृप्त करती है। ग्रीष्म में सूर्य के उत्ताप से जो बेचैनी फैलती है, वह वर्षा के आते ही अपने आप शान्त हो जाती है। मानव बादलों को देखते ही सतुष्ट हो जाता है। बल विद्युत में है—आज इसे सिद्ध करने की आवश्यकता का अनुभव ही नहीं होता। विद्युत की शक्ति लाखों मन बोझ को बात की बात में ऊपर पहुँचा दे, पहाड़ों को तोड़ दे, जल को ऊंचा चढ़ा दे। ऐसी ही एक विद्युत मन के रूप में हमारे अन्दर भी है। यह बलवान है तो आप बलवानों में शिरोमणि बन सकते हैं। मन ही वह शक्ति है जो हमारे बन्धन और मोक्ष का कारण है। यश पशुओं में है। प्राचीनकाल में तो यह सत्य था ही, आजकल भी सत्य है। वह हाथीवाला है, उसके पास एक सहस्र अश्व हैं, उसके गोष्ठ में हजारों गौवें हैं। इस प्रकार का कथन स्वामी की कीर्ति को बढ़ाता है। पशुधन है, पर यश का भी कारण है। अध्यात्म में पशु इन्द्रियां अथवा दर्शन-श्रवण की शक्ति है। जिसका दर्शन तथा श्रवण जितना ही उत्तम है, वह उतना ही अधिक यशस्वी है। नहीं है, तो यश हो जायगा। ज्योति नक्षत्रों में है। बाहर नक्षत्र चमकते हैं। वे अंधकार में मन को संतोष देते हैं। सूर्य भी नक्षत्र है। वह हमारी पृथ्वी को ही नहीं, ब्रह्माण्ड भर को प्रकाश देता है। शरीर के अन्दर भी नक्षत्र है, सूर्य है। बुद्धि सूर्य है। जिसकी बुद्धि प्रकाश से, ज्ञान से, जगमगा रही है, वह धन्य है क्योंकि वह स्वयं तो प्रकाशित है ही, दूसरों को भी प्रकाशित करता है। प्रजाति, अमृत तथा आनन्द उपस्थ में है। संतति से व्यक्ति अमर हो जाता है। जिसका कुल जब तक चल रहा है, तब तक वह अमर है। संतति का न होना घर को सुनसान बना देता है। जिस घर में बच्चे खेलते हैं वहां आनन्द [illegible] मानों मूर्तिमान होकर विचरण कर रहा है। यह उपस्थ की शक्ति है। नपुंसकों के पास यह आनन्द कहां? वीर्य-

हीन व्यक्ति या राष्ट्र मर जाते हैं। प्रजाति, संतति, जनसंख्या की वृद्धि उन्हें जो अमरत्व तथा आनन्द दे सकती थी, उससे वे वंचित हो जाते हैं।

उपनिषद की मानुषी तथा दैवी समाज्ञायें निम्नांकित मंत्र में समाविष्ट हैं :—

वयं जयेम त्वया युजा वृतमस्माकमंश मुदवा भरेभरे।
अस्मभ्यमिन्द्र वरिवः सुगं कृधि प्र शत्रूणां मघवन् वृष्ण्या रुज॥
(ऋ० १।१०२।४ अथ० ७५०।४)

मंत्र के चार चरणों में चार बातें कही गई हैं। द्वितीय चरण में क्षेम, तृतीय चरण में योग और चतुर्थ चरण में शत्रुओं का मर्दन मानुषी समाज्ञा है। प्रथम चरण में दैवी समाज्ञा है। उपनिषद के ऋषि ने कहा था :—सर्वम् इति आकाशे—आकाश में सब कुछ है। वेद कहता है, सर्व व्यापक प्रभु के अन्दर सब कुछ है। हम उसी के साथ रहते हुए विजयी बनें। उसके साथ रहते हुए जो विजय मिलती है, वही सच्ची विजय है। उसके संदर्शन में जीवन व्यतीत करना ही सार्थक है। दिव्यता देव के संसर्ग से आती है। इन्द्रियां उसके संपर्क से प्रकाशवती तथा तेजस्विनी बनती हैं। बुद्धि, मन, प्राण का विकास तथा पवित्रीकरण उसी के प्रसाद से सम्पन्न होता है।

शत्रु ने हमारे अंश को आवृत करके हमारे क्षेम पर जो कुठाराघात किया है, प्रभु की कृपा से उसका उद्धार हो। हमारा क्षेम सुरक्षित रहे। परमैश्वर्य, सम्पन्न प्रभु हमारे लिये धनैश्वर्य को सुगम करके हमारा योग-साधन करें और जो शत्रुओं का बल है, उसे नष्ट करें। शत्रु के निरसन, विमर्दन एवं निष्कासन तथा ऐश्वर्य की वृद्धि में प्राणापान की क्रियायें फलवती होती हैं। ये दोनों शक्तियां वर्धमान हों। हम स्वस्थ बनें, दृढ़ बनें, बलवान बनें। हमारा रूप हमें प्राप्त हो। आकाश के समान सर्व व्यापक प्रभु की छत्रछाया में रहते हुये हमें शारीरिक स्वास्थ्य तथा मानसिक शक्ति दोनों की उपलब्धि हो। योग तथा क्षेम के द्वारा हमारा ऐहिक जीवन समृद्ध हो तथा परलोक में कल्याण प्राप्त हो। हमारे अभ्युदय तथा निःश्रेयस दोनों ही सिद्ध हों।

मंत्र में इस प्रकार मानुषी तथा दैवी दोनों समाज्ञाओं का समावेश है। ऋषि कहते हैं :—तत्प्रतिष्ठा इति उपासीत—इन्हीं दोनों समाज्ञाओं में प्रतिष्ठा है। हमें इसी की उपासना करनी चाहिये। जो ऐसा करता है, वह प्रतिष्ठावान होता है। इसी में महत्ता है। जो इसके समीप बैठता, इसका संसर्ग करता और तदनुकूल जीवन व्यतीत करता है, वह महान हो जाता है। इसी में मन है, मान है। जो इसके अनुकूल आचरण करता है, वह मानवान बन जाता है। इसी में नमन है। जो इसमें मन को लगाता है, भक्ति करता है, कामनायें उसके सामने प्रणत हो जाती हैं। इसी में ब्रह्म है, बड़प्पन है। इसकी उपासना से व्यक्ति या राष्ट्र महान बनते हैं। इसमें यम की परिमर या मारन शक्ति निहित है। इसके उपासक के प्रति द्वेष रखने वाले शत्रु तथा अप्रिय एवं अनिष्ट चाहने वाले भ्रातृव्य भी मर जाते हैं।

ऋषि के वाक्य तथा वेद मंत्र बहुत प्राचीन हैं, परन्तु उनकी सत्यता आज भी नवीन है। यदि हम उनके अनुकूल चलें, तो जनता तथा देश का कल्याण-साधन कर सकते हैं। हमें योग तथा क्षेम दोनों की आवश्यकता है और दोनों की उपलब्धि के अमोघ साधन ऊपर ऋषि के तथा प्रभु के वचनों का सहारा लेकर लिखे गये हैं। आशा यही है कि इन वचनों को भी रूढ़िवादिता का तथा अलभिमतता का आरोप लगाकर कोई तिरस्कृत न करने लगे, पर ऋषि की वाणी सत्य है। जो इन साधनों का तिरस्कार करेगा, वह स्वयं तिरस्कृत होगा और जो इनका मान करेगा वह प्रतिष्ठावान बनेगा। हमारा सिद्धान्त होना चाहिये, प्राचीन तथा नवीन दोनों के सत्य तथा उपादेय अंशों का स्वीकार और ग्रहण। जो असत्य तथा अनुपयोगी है, वह कहीं भी हो, त्याज्य है। प्राचीन ऋषि की वाणी यदि आज हमारा कल्याण-साधन कर सकती है, तो उसे अपनाने के लिये हमें पराङ्मुख नहीं होना चाहिये। हमें योग-क्षेम का सम्पादन करना है और उसके लिये श्रेष्ठ, सर्वोत्तम उपायों का उपयोग करना है। ये उपाय हमारा कल्याण करेंगे; प्राचीनता या नवीनता नहीं।

महा-व्याहृतियां

वैदिक वाङ्मय का अध्येता व्याहृतियों से परिचित है। व्याहृतियां सात हैं—भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, तथा सत्यम्। इनमें से पहली तीन महाव्याहृतियां कहलाती हैं। इसका कारण क्या है? परवर्ती चार व्याहृतियों को यह नाम क्यों नहीं मिला?

व्याहृति का अर्थ है—उक्ति, कथन, वाक्य। महाव्याहृति महावाक्य है। जैसे प्रत्येक सम्प्रदाय के अपने कुछ विशिष्ट महावाक्य हैं, वैसे ही वैदिकों के तीन महावाक्य ये तीन महाव्याहृतियां हैं।

वैदिकों में निखिल वाङ्मय का मूल एक अक्षर ॐ माना जाता है। वि उपसर्ग लगा देने से यही व्योम बन जाता है। ॐ का अर्थ रक्षक है। व्योम का अर्थ हुआ विविध प्रकार से रक्षा करने वाला। ऋग्वेद १-१६४-३९ के अनुसार समस्त ऋचायें परम व्योम में, अक्षर में, निवास करती हैं। यह अक्षर ही ऋचाओं की रक्षा करने वाला है। माण्डूक्य उपनिषद्कार ने इस अक्षर को आत्मा भी कहा है। ओंकारः आत्मैव। अक्षर ओंकार आत्मा ही है।

यह आत्मा चतुष्पात् है। अकार इसकी प्रथमा मात्रा है जिसे भूः अर्थात् जागरित स्थान कहा जाता है। उकार द्वितीयामात्रा है जिसे भुवः अर्थात् स्वप्नस्थान कहा जाता है। मकार तृतीया मात्रा है जो स्वः अर्थात् सुषुप्तस्थान वाली है। पहली वैश्वानर, दूसरी तैजस और तीसरी प्राज्ञ कहलाती है। यह सब जो कुछ व्यवहार में आता है, जाने-अनजाने जिसके साथ हमारा संपर्क बना रहता है, वह सब इन्हीं तीन मात्राओं में आ जाता है। जागरण, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों हमारे ऐहिक अनुभव की वस्तु हैं।

इन तीनों से परे जो चतुर्थ त्रिकालातीत है,-जो अमात्र है, वह भी अक्षर -ओंकार ही है, परन्तु वह अव्यवहार्य है। उसमें व्यावहारिकता अर्थात् प्रपंच का

उपशम है। वह अद्वैत अवस्था है। ऐहिक अनुभव वहाँ नहीं पहुँच पाता। वह अदृष्ट, अग्राह्य, अचिन्त्य और अलक्षण है।

ओ३म् की तीन मात्रायें इस प्रकार तीन महाव्याहृतियों में व्याख्यात हुई हैं और यह सब जो कुछ व्यवहार्य है, इन्हीं तीनों के अन्तर्गत आ जाता है। चतुर्थ अमात्र इन तीनों से कहीं अधिक विशाल, विस्तृत और महान् है, पर वह व्यवहार से परे है और जिसने इन तीन को नहीं सम्हाल पाया, वह उस चतुर्थ तुरीयावस्था की उपलब्धि से वंचित रहेगा—यह निश्चित है। अतः ये तीन महाव्याहृतियाँ ही साधक के लिये सब कुछ हैं, प्रतिष्ठा हैं, आधारभूमि हैं। इन्हीं में वह अहर्निशि विचरण करता है। इन्हीं से उसका व्यवहारोपयोगी सम्बन्ध है। वह जागरण, स्वप्न तथा सुषुप्ति, भूःलोक, भुवःलोक तथा स्वः लोक, बहिःप्रज्ञ, अन्तःप्रज्ञ तथा प्रज्ञानघन, सत्ता, चैतन्य तथा आनन्द, प्राणात्मक शरीर, मन तथा बुद्धि की त्रयी के विकास में ही संलग्न रहता है। यही उसका परिवार है। यही उसका क्षेत्र है। यही उसकी समरांगण भूमि है। इन्हीं में उसका अस्तित्व चरितार्थ होता है। इन्हीं की चरम विकसित ऊर्ध्व, उन्नत अवस्था उसका तथा अन्यों का कल्याण-साधन करती है। इस अवस्था के उपरान्त ही वह आत्मस्वरूप की उपलब्धि करता है और इस आत्मस्वरूप द्वारा ही परमात्म तत्त्व में प्रविष्ट होता है, उसके साथ एक होता है। इन तीन को साधे बिना वह इस तुरीयावस्था को प्राप्त नहीं कर सकता। अतः आधार या प्रतिष्ठा होने के कारण प्रथम तीन व्याहृतियाँ महाव्याहृतियाँ कहलाती हैं। ये तीन हम सब के लिये महावाक्य हैं।

तो क्या शेष चार व्याहृतियां तुरीयावस्था की सूचक हैं? नहीं, ऐसा भी नहीं है। तुरीयावस्था सातों व्याहृतियों, सप्त लोकों, सप्त धामों, भौतिक तथा चेतन स्तरों के भी ऊपर है। ये सब व्योम में हैं, तो वह स्वयं परम व्योम है। वह आधारों का भी आधार, प्रतिष्ठा की भी प्रतिष्ठा, मात्राओं की भी मात्रा, पादों का भी पाद, परम प्रशान्त अद्वैतावस्था है जिसका वर्णन वाणी के सामर्थ्य से परे है।

वाणी के चार पदों में जो प्रथम पद बाहर वैखरी वाणी में अभिव्यक्त होता है, उससे कहीं अधिक शक्तिशाली उसका दूसरा मध्यमा नाम को वाणी का पद है जो मन में रहता है। इससे भी अधिक व्यापक बुद्धि में निहित, उसका पश्यन्ती नाम का तीसरा पद है। चतुर्थ पद पश्यन्ती का भी मूल है तथा परा नाम से अभिहित होता है, जिसे हम भूः, भुवः तथा स्वः तीनों लोकों के निवासी भी नहीं समझ पाते, नहीं कह पाते और जिस तक नहीं पहुँच पाते।

भूः, अर्थात् सत्ता से, भुवः अर्थात् चैतन्य में प्रविष्ट होकर स्वः अर्थात् आनन्द में मग्न हो जाना ही हम सब का ध्येय है। इसमें प्रवेश पाने पर कामनाओं का अन्त हो जाता है, आदर्शोपलब्धि की स्वप्ना शान्त हो जाती है। फिर साधक सपने नहीं देखता, प्रज्ञानघन, आनन्दमय तथा एकीभूत हो जाता है। इस स्थिति में सबका प्रभव एवं अव्यय, जन्म एवं विलय समाविष्ट है। इसे सबकी योनि अथवा उत्स कहा जा सकता है। चेतोमुख बना हुआ साधक इस आनन्दमयी स्थिति का उपभोग करता है। चतुर्थ अवस्था उपभोग की वस्तु ही नहीं है। न वहां बाह्य ज्ञान है, न अन्तः ज्ञान है, न उभयज्ञान है, न प्रज्ञानघन है, न ज्ञान है, न अज्ञान है। परम व्योम, परम शून्य तुरीया वस्था हमारे साधनों से अग्राह्य है।

महाव्याहृतियों से ऊपर जो चार व्याहृतियां हैं, वे स्वः के ही ऊर्ध्व तथा ऊर्ध्वतर स्तरों की सूचना देती हैं। अतः उनका समावेश स्वः में ही हो जाता है। तैत्तिरीय उपनिषद् की प्रथम वल्ली के पंचम अनुवाक में चतुर्था महः व्याहृति की प्रशंसा अवश्य की गई है। महः को आदित्य कह कर स्वः को वहां भी 'असौ लोकः' वह लोक कहा गया है जिससे द्यौ का स्पष्ट संकेत होता है। यही नहीं, उपनिषद्कार एक पंक्ति आगे ही लिख कर स्वः को भी आदित्य कह देता है।

स्वः में ईश्वरत्व होने के कारण हमारे यहाँ कुछ आचार्यों ने ईश्वर संज्ञा

को प्रभु के विभु, महत्, परमात्मा आदि नामों के समकक्ष नहीं माना। हिरण्यगर्भ, ज्येष्ठ आदि नाम स्वयं अथर्ववेद में स्कम्भ नाम से निम्नस्तर पर हैं। वैष्णव संप्रदाय के पांचरात्र तथा वैखानस आगमों में भी यह अन्तर स्वीकार किया गया है। इन आगमों में अवतार की कल्पना उपर्युक्त स्वः के ईश्वरत्व को आधार मान कर की गई है। भगवान भग अर्थात् ऐश्वर्य वाला है। यह ऐश्वर्य षड्गुणोपेत है। ये छः गुण प्रकृति की ही कलायें हैं। अवतारों में इन कलाओं के न्यूनाधिक्य पर सोलह अवतार स्वीकृत हुए हैं। सांख्य के पुरुष-प्रकृतिवाद को यदि आधार बनावें तो श्रीकृष्ण पुरुष हैं। राधा आह्लादिनी मूल प्रकृति है। संकर्षण या बलराम जीव या चित् शक्ति है। प्रद्युम्न धी या महत्तत्व और अनिरुद्ध अहंकार है। सर्वप्रथम श्रीकृष्ण और उनके परिवार वालों को लेकर ही यह कल्पना की गई। परवर्ती राम-परक साहित्य में यही कल्पना राम के परिवार वालों पर भी आरोपित कर दी गई।

इस विवेचन से यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि हमारे चिन्तक तीन महाव्याहृतियों के महत्व को किस सीमा तक महत्व देते रहे हैं। भूर्भुवः स्वः से सत, चित एवं आनन्द का अर्थ लेना और उनमें संधिनी, संवित तथा ह्लादिनी शक्तियों की स्थिति मानना परा नहीं अपरा अवस्था को ही महत्व देना है। हमारा सम्बन्ध इसी अपरा अवस्था से है। परा तो परे है। उससे सम्बन्ध की बात कहना भी पानी को घेरे में डालना है। मुण्डक उपनिषद् के प्रारम्भ में वेदों को भी इसीलिए अपरा विद्या के अन्तर्गत स्थान मिला है। परा विद्या कथन-श्रवण में आती ही नहीं। वह माण्डूक्य के शब्दों में अव्यप-देश्य तथा एकात्म-प्रत्ययसार है।

दैनिक व्यवहार में हमारे जो प्रयत्न चलते हैं, उनमें भी इन्हीं तीन महाव्याहृतियों का अनुभव होता रहता है। भूः भाजात्मक शरीर है, भुवः मन है और स्वः बुद्धि है। हम सभी यात्री हैं। वर्तमान शरीर को लेकर जब

हम किसी यात्रा पर निकल पड़ते हैं, तो पैर आगे बढ़ते हैं। थकने पर प्राण शक्ति ही काम देती है। यदि आगे कोई बाधा आ गई तो उसे दूर करने में भी प्राण ही सर्वप्रथम सहायता देता है। प्राणवत्ता वह बल अथवा शक्ति है जिसका संचार प्राण के कारण शरीर में होता है। प्राण ही घी, दुग्ध, फल, अन्न आदि को पचा कर शरीर का अंग बनाता है। अतः प्राण-प्रवृत्त शक्ति का ही उपयोग हम मार्ग में आई बाधाओं को हटाने में सर्वप्रथम करते हैं, जब प्राण-शक्ति से काम नहीं निकलता, तब हम मन की चिन्तन शक्ति का आश्रय लेते हैं, सोचने लगते हैं कि इस बाधा को कैसे दूर करें। चिन्तन और मनन में भी कई बातें सूझती हैं, पर उनमें से कौन सी बात बाधा का निराकरण कर सकेगी, किस साधन का अवलम्बन अचूक लक्ष्यवेध कर सकेगा, इसका निर्णय बुद्धि करती है। मन सोच कर प्रयोग तो कई साधनों का *करता है, पर सदैव सफल नहीं होता। बुद्धि इसी हेतु निर्णय के लिये मन की* सहायतार्थ आ जाती है। यह सामान्य क्रियाकलाप की बात हुई। विशेष प्रयत्नों में भी, साधना के पथ पर भी, इन्हीं सब का प्रयोग वांछनीय है। पर जैसे सामान्य व्यवहार में अपने संबल की अक्षमता समझ कर हम अपने को किसी अज्ञात शक्ति के हाथों में सौंप देते हैं, वैसे ही साधना में भी अपने सामर्थ्य के साथ हम पग-पग पर उस परम शक्ति के अवलम्बन की आकांक्षा करते रहते हैं। साधना के अन्त में तो पूर्ण समर्पण ही कार्य देता है। पर इससे महाव्याहृतियों का महत्त्व कम नहीं होता। शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम् जैसी उक्तियों में स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण तीनों शरीर धर्म के साधक हैं।

अतः व्याहृतियों में प्रथम तीन—भूः, भुवः और स्वः—महाव्याहृतियाँ कहलाती हैं। ये व्याहृतियां जिन तीन स्थितियों का व्यञ्जन करती हैं, वे सामान्य जन के अनुभव में आती रहती हैं। साधक इन्हीं तीन स्थितियों का संस्कार करता हुआ साधना-पथ पर अग्रसर होता है। इन्हीं तीन की पवित्रता पर उसका आत्मसाक्षात्कार स्थित है। जिनके अवलम्बन पर हमारा निखिल

कार्य-कलाप संचालित होता है और बाह्य व्यवहार सिद्ध होता है और अन्त में जो हमें आत्मस्वरूप की उपलब्धि कराने में सहायता देती हैं, उन्हें हम अपने लिये महाव्याहृति, महावाक्य, न कहें तो क्या कहें ? शेष व्याहृतियां तीसरी स्वः व्याहृति के ही विकसित एवं ऊर्ध्वस्तरों की सूचना देती हैं। अतः उनका समावेश स्वः में हो जाने से तीन ही व्याहृतियां प्रमुखता प्राप्त करती हैं और महाव्याहृतियां कहलाती हैं।

इस दृष्टि के अतिरिक्त स्व० आचार्य मधुसूदन ओझा ने एक अन्य दृष्टि हमारे समक्ष प्रस्तुत की है। यह दृष्टि त्रिलोकी से सम्बद्ध है। भूः से लेकर सत्यम् तक तीन त्रिलोकियां हैं और एक एक त्रिलोकी में भूः, भुवः, स्वः नाम के तीन तीन लोक हैं। इन त्रिलोकियों को तीन मंडलों की संज्ञा भी दी गई है : सौरमण्डल, परमेष्ठी मण्डल तथा स्वयम्भू मण्डल। भूः, भुवः तथा स्वः की एक त्रिलोकी या सौरमण्डल है। स्वः, महः तथा जनः की द्वितीय त्रिलोकी या परमेष्ठी मंडल है और जनः, तपः तथा सत्यम्, की तृतीय त्रिलोकी या स्वयम्भू मण्डल है। प्रथम त्रिलोकी का जो स्वः अर्थात् सूर्य है, वह दूसरी का भूः है। इसी प्रकार दूसरी त्रिलोकी का जनः जो उसका स्वः है, तीसरी त्रिलोकी का भूः है। इस दृष्टि से तीन महाव्याहृतियां ही सात व्याहृतियों में ओतप्रोत हैं और इसी कारण ये महाव्याहृतियां कहलाती हैं।

सात व्याहृतियों के ही समानान्तर सात वैदिक छन्द हैं :—गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप तथा जगती जिनमें क्रमशः २४, २८, ३२, ३६, ४०, ४४ तथा ४८ अक्षर होते हैं। इनमें भी त्रैत चलता है। २४, ३६ तथा ४८ अक्षरों को वर्षों का भी माप मानकर हमारे यहां ब्रह्मचर्य के भी अधम, मध्यम तथा उत्तम अथवा वसु, रुद्र और आदित्य तीन भेद किये गये हैं। कहीं कहीं ३६ के स्थान पर ४४ अंक भी आता है। वैदिक निबन्धावली के वेदमर्यादा शीर्षक लेख में हम इस दिशा की ओर प्रथम ही संकेत कर चुके हैं। छन्दों के ४८ अक्षरों की भांति सात लोकों की भी ४८ कक्षायें मानी

जाती हैं। महाव्याहृतियों के त्रैत के आधार पर ही वेदत्रयी है। देववाद, ऋषिवाद, पितृवाद सब एक सुदृढ़ भित्तिपर अवलम्बित हैं। पुरुष, छन्द, लोक, प्राण, ऋषि आदि सबके लिये एक ब्रह्म ही तो चर्य है। आर्य दृष्टि कितनी व्यापक रही है और उसमें कितनी गंभीरता से चतुर्दिक प्रसृत नियमों का साक्षात् दर्शन किया है इसका हम लोग सहज ही अनुमान लगा सकते हैं। महाव्याहृतियों का नामकरण भी इसी व्यापक दृष्टि का परिणाम है।



वेद और आर्य

वेदों के अनुसार मानव जाति दो भागों में विभाजित है। यह विभाजन प्रवृत्ति के आधार पर है। कुछ मनुष्यों की प्रवृत्ति ऐसी होती है कि वे अपने को सम्हाल नहीं पाते। बुद्धि अथवा सदाचार की दृष्टि से वे इतने हीन होते हैं कि न सत्पथ का अनुसरण कर पाते हैं और न उसे पहचान ही पाते हैं। इसे प्रवृत्तिगत असमर्थता भी कह सकते हैं। वेद में इन्हें दास कहा गया है। कुछ दास ऐसे भी होते हैं जो जानबूझ कर सत्पथ का अतिक्रमण करते हैं। ये अपराधी हैं और समाज के लिये घातक हैं। दासों के विपरीत आर्य होते हैं। आर्य अर्य का पुत्र है। अर्य का अर्थ है स्वामी। संसार का स्वामी परमेश्वर है। परमेश्वर में सत या भद्र की सीमा है। परमेश्वर का पुत्र कहलाने वाला आर्य सत्पथ का अनुगामी होता है। उसमें इतनी बुद्धि और इतना सामर्थ्य होता है कि वह सत को जान सके और उस पर चल सके। आर्य भले पुरुष को कहते हैं। दास उत्तेजनाओं के वशीभूत होता है। आर्य उत्तेजनाओं पर शासन करता है।

नीचे लिखे मंत्र में आर्य और दास का भेद स्पष्ट किया गया है :—

विजानीह्यार्यान् ये च दस्यवो बर्हिष्मते रन्धया शासदव्रतान्।
शाकी भव यजमानस्य चोदिता विश्वेत्ताते सधमादेषु चाकन।

(ऋ० १–५१–८)

आर्यों और दस्युओं को विशेषरूप से जानो। आर्य यज्ञ करने वाला है। उसके लिये अव्रती दस्यु पर नियंत्रण रखो और उसके दस्युभाव का विनाश करो। शक्तिशाली बनो। यजमान को यज्ञ करने की प्रेरणा दो। हर्षपूर्ण यज्ञों में हम तुम्हारे इन गुणों की कामना करते हैं।

आर्य व्रती है, यज्ञशील है, त्यागी है, दानी है। दस्यु अव्रती है और

त्याग के विपरीत संग्रह करने वाला है। इस संग्रह में वह समाज द्वारा गृहीत व्रतों या नियमों का पालन नहीं करता। नियमों को तोड़ कर वह धन इकट्ठा करता है। स्वभावतः इससे समाज के अन्य प्राणियों को कष्ट होता है। शासक का कर्त्तव्य है कि वह आर्यों की, नियम-पालन करने वालों की रक्षा करे तथा दस्युओं को नियम भंग करने से रोके[1]। दास और दस्यु दोनों ही हिंसक हैं। ये नियमभंग करके समाज की हिंसा करते हैं। यदि इन्हें अपने काम में खुली छुट्टी मिल जाय, तो समाज अल्प समय में ही अपना अस्तित्व खो बैठेगा। उच्छृङ्खलता का अर्थ ही है, शृङ्खला में न रहना। समाज कुछ व्रतों या नियमों की शृङ्खला में आबद्ध है और इसी में उसकी सुरक्षा निहित है। शृङ्खला के टूटते ही समाज भी टूट जाता है। इसलिये ऐसे व्यक्तियों को जो नियमों को तोड़ते हैं, शासन द्वारा रोका जाता है। यदि उनका मन-परिवर्तन हो गया, तो अच्छा है, अन्यथा उन्हें कुछ समय के लिये जेल में रख कर, समाज से हटाकर, सुधार का अवसर दिया जाता है और तब भी सुधार नहीं हुआ तो या तो आजन्म कैद की सजा दी जाती है या फिर फांसी पर लटका कर इस शरीर से ही अलग कर दिया जाता है, जिससे वे इसका उपयोग ही न कर सकें। मुख्य लक्ष्य बुरे को भला बनाना है, दास की प्रवृत्ति में परिवर्तन करना है। उसे उन साधनों से भी वंचित करना है जो उसे कुपथ पर चलने में सहायता देते हैं।

दास को वश में रखने के लिये[2] नियन्ता की शक्ति की आवश्यकता है। जो शासक निर्बल होगा, वह दास को नियंत्रण में नहीं रख सकेगा। दूसरी बात है, दास को दासभाव से हटा कर आर्यभाव के अपनाने की प्रेरणा देना। यह प्रेरणा क्रियात्मकरूप में उन व्यक्तियों से भी मिल सकती है जो आर्यभाव रखते हैं, यज्ञ करने वाले हैं, त्यागी और दानशील हैं। यदि शासक की ओर से ऐसे व्यक्तियों को बढ़ावा मिलता है, तो उसका अप्रत्यक्ष प्रभाव

[1] असुन्वतो विषुणः सुन्वतो वृधः (५–३४–६)

[2] यथा वशं नयति दासमार्यः। ,,

दास की मनोवृत्ति पर भी पड़ेगा। जनता के अन्दर आर्यत्व के सद्भाव को ग्रहण करने की कामना होनी चाहिये। नीचे लिखे मंत्र में भी इसी भाव की व्याख्या है :—

आसंयतमिन्द्रणः स्वस्ति शत्रुतूर्याय बृहतीममृध्राम्।
यया दासान्यार्याणि वृत्रा करो वज्रिन्त्सुतुका नाहुषाणि॥
(ऋ० ६-२२-१०)

हे इन्द्र! शत्रु के विनाश के लिये हमें ऐसी अहिंसनीय तथा महती स्वस्थावस्था प्रदान करो जिससे दासों का वृत्रभाव समाप्त हो, उनके अन्दर जो आर्यत्व को निवारण करने, रोकने, दूर करने या नष्ट करने की प्रवृत्ति है, वह न रहे। वे आर्य बनें। अन्य मनुष्यों के अन्दर भी जो शुभ के प्रति शत्रुभाव है, वह नष्ट हो। वे सुन्दर सन्तति वाले बनें।

दासों को आर्य बनाना और मनुष्यों को सुशील सन्तान वाला बनाना तभी संभव है जब हम स्वयं स्वस्ति से सम्पन्न हों। हमारी स्वस्थावस्था भी अहिंसनीय हो और महान् हो। यदि हमारा स्वस्थ भाव ही आक्रान्त हो गया या उसमें क्षुद्रता अथवा संकीर्णता आ गई, तो आर्यभाव से हम स्वयं च्युत हो जावेंगे। जब हमीं दासभाव से दब गये तो दासों को आर्यभाव वाला कैसे बना सकेंगे। अतः आर्यों को आर्यभाव पर दृढ़ रहने की आवश्यकता है। जागरूक, कर्मपरायण आर्य ही विश्व में आर्यत्व का प्रसार कर सकते हैं। आर्यत्व का प्रसार मानों सत का प्रसार है। सत का प्रसार आस्तिकभाव को बढ़ाता है। उससे प्रभु-विश्वास जागृत होता है। प्रभु में अटल विश्वास धर्मपरायण जीवन का प्रमुख आधार है। यह विश्वास अपने अन्दर छिपी स्वार्थ की निकृष्ट प्रवृत्ति को नष्ट करता है तथा त्याग आदि शुभ प्रवृत्तियों को जन्म देता है जिससे मानव संतति फलती-फूलती है। वेद आदेश देता है :—

"इन्द्रं वर्धन्तो अप्तुरः कृण्वन्तो विश्वमार्यम्
अपघ्नन्तो अराव्णः।" (ऋ० ९-६३-५)

शुभ कर्म करने वाले व्यक्ति ईश्वर की (महिमा) को बढ़ाते हैं। वे विश्व में आर्यभाव का विस्तार करते हैं और दूसरों को रुलाने वाले अदानी, स्वार्थियों का विनाश करते हैं।

स्वार्थियों का विनाश उनको त्यागभाव से सम्पन्न कर देना है। स्वार्थी जिस समय परोपकारी बनता है, उसी समय वह नया जन्म ले लेता है। उसका पुराना रूप नष्ट हो जाता है।

विश्व में हमें सत एवं ऋत दो नियम काम करते दिखाई देते हैं। सत प्राकृतिक व्यवस्था को कायम रखने वाले नियम हैं और ऋत सदाचार के नियम हैं। सत एवं असत्, ऋत एवं अनृत में प्रायः द्वन्द्व चला करता है, पर अन्त में सत एवं ऋत की ही विजय होती है। पारसी विश्वास के अनुसार यह द्वन्द्व तब तक चलेगा जब तक सत की विजय नहीं हो जाती। सत की विजय होते ही संसार की भी प्रलय हो जायगी। क्रोसे के अनुसार हम सब परिपूर्ण स्वाधीनता को प्राप्त करने के लिये प्रयत्न कर रहे हैं। वेद आर्य को स्वाधीन कहता है जो दूसरों की गुलामी नहीं करता। वह किसी दूसरे का आश्रित नहीं है। वह स्वतंत्र है। वह अदीन है। यह अदीनता या स्वाधीनता सत की विजय है। जिसकी सत्ता या अस्तित्व दूसरे का मुहताज नहीं, वही इस संसार में सुखी है, आनन्दी है। परमात्मा स्ववान् है, उसका वीर्य किसी अन्य से प्रेरित नहीं है, वह स्वतन्त्र है। परमात्मा का पुत्र आर्य भी स्वतंत्र होता है।

प्रभु के नियम जहां सृष्टि को व्यवस्था में रखते हैं, वहां चेतन प्राणियों में भी सदाचार की प्रतिष्ठा करते हैं[1]। सत एवं ऋत दोनों निरन्तर अपना कार्य करते रहते हैं। आर्य अर्थात् सदाचारी व्यक्तियों का कर्तव्य इन नियमों के साथ सहयोग करना है। ऋत तो अपनी गति में सदाचारी की सहायता कर ही रहा है। दस्युओं को, दुष्टों को, अनार्यों को जो दण्ड मिलता है—लौकिक

[1] आर्या व्रता विसृजन्तो अधिक्षमि। (१०-६५-११)

एवं पारलौकिक दोनों ही व्यवस्थाओं में—उससे सदाचार की ही संवर्धना होती है। दस्यु इस व्यवस्था में बंधे हुए अपनी मनमानी नहीं कर पाते। दण्ड उन्हें शासित करता रहता है। लौकिक शासन को वे धोखा भी दे सकते हैं और कुछ समय के लिये दण्ड पाने से बच भी सकते हैं, पर परमात्मा की व्यवस्था में उनके लिए कहीं भी त्राण नहीं है। सर्वव्यापक प्रभु की दृष्टि से कुछ भी ओझल नहीं है। अपराधी अपने अपराध को प्रभु से छिपा ही नहीं सकता। उसे कर्मानुसार फल भोगने के लिये विविध प्रकार के शरीर धारण करने पड़ते हैं, नाना प्रकार की यंत्रणायें सहनी पड़ती हैं, जिस इन्द्रिय से पाप किया है, उससे वंचित होना पड़ता है, विकलांग भी बनना पड़ता है। ये नाना लोक-लोकान्तर जो प्रमुखतः सात भागों में विभाजित हैं, जीव के भोग-स्थान हैं। प्रभु की ओर से मिला हुआ दण्ड भी प्रतिशोध नहीं, जीव के शुद्ध होने का साधन है। लौकिक शासन का उद्देश्य भी अपराधी को दण्ड देने में यही होना चाहिये। दस्यु की दस्युता का संहार करके उसे आर्य बना देना है। दस्यु कोई जाति नहीं, स्वार्थ-कलुषित मानव का नाम है। जो आर्यभाव से विहीन है, वही दस्यु है। उस दस्यु का शोधन उसे आर्यत्व से मंडित कर देने में है। आर्य का अपना हित भी दस्यु को आर्य बनाने में है जिसमें दस्यु का हित तो साथ लगा ही है।

आर्य ज्ञानी है। वह प्रभु के ज्ञान के पीछे चलता है[1]। उसके कर्म ज्ञान के अनुकूल होते हैं। दस्यु इसके प्रतिकूल है। वह विचारशून्य, मानवता रहित, मानव के विपरीत, भिन्न व्रतवाला तथा कर्महीन भी है[2]। वह पुरुषार्थ की कमाई पर बसर नहीं करता, नहीं करना चाहता। परमात्मा ऐसे दस्यु को घर से बाहर कर देता है अर्थात सहायकों से वंचित कर देता है और

---

[1] मम देवासो अनु केत मायन्। (४—२६—२)

[2] अकर्मादस्युः अभिनोअमन्तुःअन्य व्रतो अमानुषः। (१०—२२—८)

अंधकार से परिपूर्ण लोकों में ले जाता है। आर्य को वह विस्तृत प्रकाशमय लोक देता है जहां सुख, ज्योति, निर्भयता तथा कल्याण प्राप्त होते हैं[१]।

परमात्मा की रक्षक शक्तियों को प्राप्त करते हुए हम आर्यभाव द्वारा ही सब शत्रुओं, दस्युओं को *पार कर सकते हैं, उन्हें पराजित कर सकते हैं*[२]। परमात्मा सम्पत्ति है, सज्जनों का, आर्यों का रक्षक है[३]। उनका संवर्धनकारी है[४]। वह दास=हिंसक का वध है[५]। दूसरों का शोषण करने वाले, रक्त चूसने वाले दस्यु का विनाशक है। ऐसे दस्यु को परमात्मा ने आर्य नाम नहीं दिया[६]। वह भलेमानसों में रहने योग्य नहीं है। आर्य से पृथक् है। प्रभु के बल से आर्यों का मुख प्रदीप्त होता है। उन्हें सुख तथा श्रेष्ठ ज्योति प्राप्त होती है[७] और उनका बल तथा तेज बढ़ता है[८]। ऋत की धारा के साथ, सदाचार के परिणामस्वरूप, उनकी इन्द्रियां तथा वाज (वीर्य, ओज आदि) चमक उठते हैं। (९-६३-१४)

---

[१] उरुं नो लोकं अनुनेषि विद्वान् स्ववंत् ज्योति रभयं स्वस्ति (६-४७-८)

[२] आर्येण दस्यून (२-११-१९)

तरन्तो विश्वाः स्पृधः। दासा वृत्राणि आर्या जिगेय। (१०-६९-६)

अपावृणोः ज्योतिःआर्याय (२-११-१८)

ज्योतिरिव्र आर्याय (१-५९-२)

ज्योतिश्चक्रथुः आर्याय (१-११७-२१)
उरु ज्योतिर्जनयन् आर्याय। (७-५-६)

[३] आर्यं प्रावत्। १-१३०-८

[४] आर्यस्य वर्धनम् (८-१०३-१)

[५] वधर्दासस्य (८-२४-२७)

हत्वी दस्यून प्रार्यं वर्णमावत् (३-३४-९)

[६] शुष्णस्य श्नथिता···न यो रर आर्यनाम दस्यवे। (१०-४९-३)

[७] प्रैपामनीकं शवसादविद्युतत्। (१०-४३-४)

[८] (१-१०३-३)

संसार एक चक्र है। इसका अधिपति ईश्वर है। चक्र के ऊपर तथा अधम भाग की भांति इसमें आर्य तथा दस्यु दो प्रकार के मानव हैं। जैसे चक्र के ऊपर का भाग नीचे और नीचे का भाग ऊपर आता रहता है, वैसे ही यहां आर्य दुष्कर्म करके दस्यु हो सकता है और दस्यु सत्कर्म करके आर्य बन सकता है। आर्यभाव दस्युभाव का प्रतिमान है। दस्यु असुर है, मायावी है तथा अपने को भरने वाला है। आर्य इसके प्रतिकूल है। परमात्मा दस्यु के दृढ़ से दृढ़ बल को नष्ट कर देता है। आसुरी शक्तियों के इस पराभव से संसार का चक्र सुरक्षापूर्वक चलता रहता है[1]।

पीछे दासों के हमने दो वर्ग किये हैं :—एक वर्ग ऐसे दस्युओं का है, जिन्हें सुधारा जा सकता है। दूसरे वर्ग में वे दस्यु आते हैं जो दिव्यता, मानवता या आर्यभाव के शत्रु हैं। संसार में जो अशान्ति फैलती है, युद्ध होते हैं और रक्तपात होता है, वह इसी दूसरे वर्ग के कारण। आर्यों का युद्ध ऐसे ही दस्युओं से होता है। वे सत्यस्वरूप प्रभु को अपने हृदय में धारण कर सत की रक्षा के लिये दस्युओं के विरुद्ध युद्ध में प्रवृत्त होते हैं। सत कभी हारता नहीं। अन्त में विजय उसी की होती है[2]।



[1] विदद्दासाय प्रतिमानमार्यः। दृढानि पिप्रोरसुरस्य मायिनःइन्द्रो व्यास्यत् चकृवाँ ऋजिश्वना। (१०–१३८–३)

[2] *यो नो दास आर्यो वा पुरुष्टुत अदेव इन्द्र युधयेचिकेतति।*
अस्माभिष्टे सुषहा सन्तु शत्रवः त्वया वयंतान् वनुयाम संगमे।
(१०–३८–३)

पुनर्जन्म

अपाङ् प्राङ् एति स्वधया गृभीतो अमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः ।
ता शश्वन्ता विषूचीना वियन्तान्यन्यंचिक्युर्न निचिक्युरन्यम् ॥
(ऋ० १–१६४–३८ अथर्व ९–१०–१६)

अमर जीवात्मा मरणधर्मा शरीर के साथ संयुक्त होता है। इसका कारण है स्वधा अर्थात् अपने को धारण करने की भावना। स्वधा से गृहीत हुआ जीव सु = अच्छी, किन्तु अधा = नीची प्रकृति के प्रपञ्च में पड़ता है। प्राकृतिक वैभव देखने में आकर्षक है, पर उसका उपभोग निर्बलता का भी जनक है। जीव इस वैभव के उपभोग में रुचि लेने लगता है, इसीलिये वह शक्तिहीनता का आखेट बनता है। मनु ने (१२–३८) लिखा है कि प्रकृति के तमोगुण से चिपट कर मानव कामी बनता है, रजोगुण से लिपटकर अर्थवान बनता है और सतो-गुण का आश्रय लेकर धार्मिक बनता है। काम और अर्थ की लोलुपता उसे नीचे गिराती है और पशु-पक्षी आदि की योनियों में ले जाती है। काम और अर्थ पर संयम उसे मानव योनि में ले आता है। धर्म का आचरण उसे पितर तथा देवयोनियों की ओर ले जाता है। काम और अर्थ में अनासक्त व्यक्ति ही धर्मज्ञान प्राप्त करते हैं। धर्म की जिज्ञासा वेद से शान्त होती है। धर्म के जिज्ञासुओं के लिये श्रुति से बढ़कर अन्य कोई प्रमाण नहीं है। (२।१३) वेद ही परम प्रमाण है। वेद ही अखिल धर्म का मूल है। अतः द्विजों को, संस्कृत व्यक्तियों को, विशेषतः ब्राह्मीवृत्तिवालों को वेद का ही आश्रय ग्रहण करना चाहिये। यदि वे वेद को छोड़कर अन्यत्र श्रम करेंगे, तो पुनः शूद्रत्व को प्राप्त कर जायँगे। (२–१६८)

धर्म क्या है ? आचार ही प्रथम धर्म है। वेद और उसके अनुकूल स्मृति जिन विधि-निषेधों का वर्णन करते हैं उनमें विधि का स्वीकार तथा निषेधों

का परित्याग ही धर्म का पालन करना है। यह स्वीकार तथा परित्याग आचार में प्रकट होने चाहिये। कथनी को करनी में परिणत करना चाहिये। ज्ञान के अनुकूल आचरण करना ही धर्म है। यदि ज्ञान तथा आचरण में वैपरीत्य रहा तो दम्भ का रूप खड़ा हो जायगा। मनुष्य धार्मिक नहीं बन सकेगा। सदाचार या सच्चरित्र से ही मानव धार्मिक बनता है। वाणी मात्र से नहीं, रोम-रोम द्वारा सच्चरित्र की ध्वनि निकलनी चाहिये, हमारे एक-एक आचरण द्वारा धर्म का जय-घोष होना चाहिये। धर्म व्याख्यान-व्यापार नहीं, आचार-अनुष्ठान है जो वाणी ही नहीं, अंग-अंग को प्रभावित करता है। हमारी समस्त चेष्टाओं में धर्म प्रतिध्वनित होता है।

आचरण कर्म है। कर्म तीन प्रकार का हो सकता है : तामस, राजस तथा सात्त्विक। तामस कर्म हेय है क्योंकि वह अधोगति का कारण है। राजस पर नियंत्रण की आवश्यकता है। सात्त्विक कर्म ही उन्नयन करता है—ऊपर उठाता है[1]। वेद कहता है: उद्यानं ते पुरुष नावयानं—जीव तुझे ऊपर उठना है, नीचे नहीं गिरना है। अधोगति की मार खाते-खाते तू अपने स्वत्व से ही हाथ धो बैठा है। मानव योनि में आकर अब तो अपने स्वत्व को पहिचान, अपने घर की ओर चल। इस पृथिवी की पीठ पर सवार हो जा और द्यौ लोक का आधान करता हुआ अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जा।

कर्म साधना है, तप है, ऐसा सभी साधक स्वीकार करते हैं। पर सत्कर्म क्या है, अपकर्म क्या है तथा कर्म, अकर्म और विकर्ममें परिस्थितियों के प्रभाव से क्या और कैसा अन्तर पड़ता है, इस विषय में कभी-कभी बड़े-बड़े कवि, ज्ञानी भी मोहित हो जाते हैं और निर्णय नहीं कर पाते। एक ही कर्म एक समय में करणीय, परन्तु दूसरे समय में अकरणीय बन जाता है। साधारण मानव की बुद्धि भ्रम में पड़ जाती है। वह कर्तव्य और अकर्तव्य में भेद नहीं

[1] ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्वस्था, मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधोगच्छन्ति तामसाः। गीता १४-१८

कर पाता। कर्म की गति वस्तुतः गहन है, पर इतनी गहन नहीं कि हम उसका भेदन ही न कर सकें। मनु ने विचिकित्सा के समय श्रुति, स्मृति, सज्जनों का आचार तथा आत्मप्रियता को कसौटी बनाया है। इस कसौटी की विस्तृत व्याख्या हमारे 'जीवनदर्शन' ग्रन्थ में करणीय शीर्षक निबन्ध के अन्तर्गत मिलेगी। इस पर कसकर हम कर्म के खरे-खोटे होने की परीक्षा कर सकते हैं। यह कार्य भी यद्यपि आपाततः सरल नहीं है, फिर भी दिशा-संकेत तो है ही और प्रयत्नसाध्य भी है। तैत्तिरीय उपनिषद् भी कहती है :—

> अथ यदि ते कर्म विचिकित्सा वा वृत्त विचिकित्सा वा स्यात्।
> ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः, युक्ताः, अयुक्ताः, अलूक्षाः धर्मकामा स्युः। यथा ते तत्र वर्तेरन्, तथा तत्र वर्तेथाः।
>
> (शिक्षावल्ली अनुवाक ११-४)

यदि तुम्हें कर्म अथवा वृत्त (आचार) के सम्बन्ध में सन्देह हो कि यह करणीय है या नहीं अथवा वरणीय है या नहीं, तो इस विषय में ज्ञानी सदाचारी ब्राह्मणों के पास जाओ जो विचारशील हैं, उस कर्म तथा वृत्त से परिचित हैं, सहृदय हैं और धर्म-परायण हैं, कर्म अथवा वृत्त के सम्बन्ध में जैसा इनका वर्ताव दिखलाई दे, वैसा ही तुम भी करो। जो व्यक्ति कुख्यात हैं उनसे व्यवहार करने में भी इसी प्रकार के ब्राह्मणों के आदर्श को प्रमाण समझो। व्यवहार साध्यता के लिये यह कसौटी समाज के पास सुलभ है।

कर्म, अकर्म अथवा विकर्म का ज्ञान हो जाने पर भी आचरण का प्रश्न बना रहता है। अनेक बार जानते हुए भी मनुष्य, संस्कारवश, यथार्थ आचरण नहीं कर पाता। एक कर्म के करते-करते जो संस्कार बन गया है, वह आगामी जीवन-क्रम को प्रभावित करता रहता है। अभ्यास पर अभ्यास चढ़ता रहता है। इस अभ्यास-जन्य संस्कार को जो बस गया है, वासना बन चुका है, दूर

करने में सामान्यतः बड़ा समय लगता है और भगीरथ प्रयत्न करना पड़ता है। पर यदि कहीं प्राक्तन पुण्य अवशिष्ट हों, तो भगवत् कृपा के संकेतमात्र से, किसी गुरुजन की प्रसाद-दृष्टि पड़ते ही अथवा भयंकर ठोकर लगते ही संस्कार का प्रभाव नष्ट हो जाता है और मानव पलभर में ही सदाचारी बन जाता है। कर्म का यह चक्र अजीब जटिल है। इसे श्रीकृष्ण सदृश कोई योगीराज ही समझ सकता है और कह सकता है :—बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन। तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप॥ इस कर्मजाल में फँसा हुआ जीव कभी ऊँचा उठ जाता है, कभी नीचे गिर जाता है, कभी सुख भोगता है, कभी दुख का भाजन बनता है, कभी राजा बनता है, कभी रंक की स्थिति में पहुँचता है, कभी देवयोनि तो कभी पशुयोनि, कभी ब्राह्मण तो कभी शूद्र, कभी नागरिक तो कभी वन्य, कभी संस्कृत तो कभी असभ्य, कभी बलवान तो कभी निर्बल, कभी सुरूप तो कभी कुरूप—न जाने कितनी विविध उच्चावच स्थितियों को प्राप्त करता रहता है। इन स्थितियों के अनुभव ने ही पुनर्जन्म सिद्धान्त को जन्म दिया है।

लेख के प्रारम्भ में हमने जो मंत्र उद्धृत किया है, वह पुनर्जन्म के सिद्धांत का समर्थक है। इस मंत्र के अनुसार अमर्त्य आत्मा मर्त्य शरीर में आकर नाना प्रकार के भोग भोगता है, विविध प्रकार के काम करता है, अनेक लोकों के दृश्य देखता है और एक नहीं, अनेक प्रकार के शरीर धारण करता है। विविध योनियों में विविध प्रकार के शरीर हैं जिनसे विविध प्रकार के स्वभाव, गुण, वृत्तियां तथा चेष्टायें प्रकट हो रही हैं। ये सब जीवात्मा की अपनी कमाई है। शरीर दिखाई देते हैं, गुणों तथा वृत्तियों का ज्ञान होता है, परन्तु जिसकी यह अर्जित सम्पत्ति है, वह जीवात्मा नहीं दिखाई देता, जानने में भी नहीं आता।

जीवात्मा इस झमेले में क्यों पड़ता है? इसका प्रमुख कारण नीचे लिखे मंत्र में वर्णित है :—

द्वासुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥
(ऋ० १-१६४-२० अथर्व ९-९-२०)

जीवात्मा तथा परमात्मा दो साथ रहने वाले सखा एक ही संसाररूपी वृक्ष पर बैठे हुए हैं। जीवात्मा इस वृक्ष के फल को खाता है। परमात्मा खाता नहीं, द्रष्टामात्र है। वृक्ष के फल में स्वाद लेना भोगेच्छा का द्योतक है। जीवात्मा की यही निर्बलता है। परमात्मा भोग से पृथक केवल द्रष्टा है। यह उसकी शक्ति है। कोई वस्तु मेरे पास हो, फिर भी मैं उसके प्रति अपनी आसक्ति प्रकट न करूँ, इसमें मेरा स्वत्व सुरक्षित है। यदि आसक्ति हो गई, तो मेरा स्वत्व जाता रहा। मेरे साथ एक और वस्तु आकर चिपट गई और मेरा स्वत्व उसके हाथ बट गया। विभाजन शक्ति को कम करता है। शक्ति का एकत्रीकरण तो केन्द्रस्थ, स्वस्थ रहने में है। शक्ति की हीनता पराधीनता की ओर ले जाती है। जीव भी भोग के अधीन होकर परतन्त्र होता ही जाता है। ज्ञान और प्रयत्न उसके दो गुण हैं। इन्हें लेकर यह स्वाधीन होना चाहता है, पर नहीं हो पाता। भोग भोगेच्छा को और प्रबल करता है। जब यह भोग से विरत होकर तपस्या करता है, तब कहीं स्वाधीनता की झलक सामने आती है। यदि उस झलक को पकड़कर यह तप में निरत रहा, त्यागभाव को अपनाता रहा, तो एक दिन अपने स्वरूप में अवस्थित हो जायगा। तप से अहंकार को अवश्य पृथक रखना होता है और परम प्रभु के समक्ष समर्पण करना होता है, तब कहीं पूर्ण स्वाधीनता के दर्शन हो पाते हैं।

'जो कर्ता सो भोक्ता' की कहावत प्रख्यात है। कर्म का भोग से और भोग का कर्म से नित्य सम्बन्ध है। सुख और दुख भोगरूप हैं और किसी न किसी कर्म का परिणाम हैं। सुख के साथ दुख लगा रहता है, परन्तु मोक्ष में दुख का एकान्त अभाव हो जाता है। जैसे दिन और रात्रि का चक्र है, सृष्टि और प्रलय का चक्र है, जन्म और मरण का चक्र है, वैसे बन्ध और मोक्ष का भी चक्र है। मोक्ष को इसीलिये सावधि कहा गया है। उसके भोग

का समय परान्त काल है। परान्तकाल ३६ सहस्रवार सृष्टि और प्रलय के होने का समय है। ऋग्वेद १०-१९०-३ में अघमर्षण सूक्त या भाववृत्त सूक्त के अन्तर्गत सृष्टि और प्रलय के चक्र का 'यथापूर्वमकल्पयत्' शब्दों द्वारा वर्णन किया गया है। वर्तमान सृष्टि वैसी ही है जैसी पूर्वकल्प में थी। सृष्टि या रचना प्रकृति का बन्ध है। प्रलय प्रकृति का मोक्ष है। इसी प्रकार जीव का कर्म-फल के अनुसार विविध प्रकार की योनियों में आवागमन बन्ध है और इस आवागमन से छुटकारे का नाम मोक्ष है। मोक्ष का अर्थ ही है छूट जाना। छूटने का अर्थ है बंधन से पृथक होना। मोक्ष जैसी महान उपलब्धि के लिये महती साधना की अपेक्षा है। यह साधना मानव योनि में ही संभव है, पशु-पक्षियों की योनि में नहीं। मानव योनि में भी एक नहीं, अनेक बार जन्म लेना पड़ता है। उसमें भी श्रेणी-विभाग है, परम-अवम के स्तर हैं। मानवता की उच्चतम कक्षा में जबतक जीव का प्रवेश नहीं होगा, तब तक वह स्वर्ग का अधिकारी नहीं बन सकेगा।

श्मशान में जिस मृत्यु के दर्शन होते हैं, वह शरीर की मृत्यु है, जीव की नहीं। जीव जब शरीर को छोड़ देता है, तब शरीर समाप्त हो जाता है। जीव प्राण-मन-बुद्धि के साथ दूसरे शरीर में प्रविष्ट हो जाता है। यह दूसरा शरीर पहले शरीर की अपेक्षा उत्कृष्ट होगा या निकृष्ट, इसकी पहिचान कुछ-कुछ पहले शरीर को छोड़ने के समय ही की जा सकती है। सबकी मृत्यु एक समान नहीं होती। क्षत्रिय रण में मृत्यु का वरण स्वेच्छा से करता है। शूद्र तथा वैश्य वृत्तिवाले घर में रहते हुए मरण में अनिच्छा प्रकट करते हैं, पर उन्हें भी शरीर छोड़ना पड़ता है। ब्राह्मीवृत्तिवालों के लिये शरीर का परित्याग वस्त्र या परिधान के परित्याग के समान है। अतः मरण के समय प्राणी की भावनायें अपने-अपने कृत कर्मों तथा निर्मित वृत्तियों के अनुसार होती हैं। और जिस-जिस भावना को लेकर जीव शरीर छोड़ता है, उसी भावना के अनुकूल आगामी शरीर मिलता है[1]।

---

[1] यं यं भावं स्मरन् वापि त्यजति अन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भाव-भावितः॥ गीता ८–६

हम जैसे कर्म करते हैं, वैसे ही संस्कार बनते हैं और उन्हीं संस्कारों के अनुसार हमें आगामी शरीर मिलते हैं। वेद कहता है :—

ये अर्वाञ्चस्तां उ पराच आहुः ये पराञ्चस्तां उ अर्वाच आहुः।
इन्द्रश्च या चक्रथुः सोम तानि धुरा न युक्ता रजसो वहन्ति ॥
(ऋ० १·१६४·१९)

जो नीचे थे, वे ऊपर पहुंच जाते हैं और जो ऊपर थे वे नीचे आ जाते हैं। इन्द्र अर्थात् इन्द्रियों का स्वामी जीवात्मा जिन कर्मों को करता है, वे धुरे की भांति युक्त होकर हमें लोक-लोकान्तरों में एक योनि से दूसरी योनि में ले जाते हैं।

अनच्छये तुरगातु जीवमेजद् ध्रुवं मध्य आ पस्त्यानाम्।
जीवो मृतस्य चरति स्वधाभिः अमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः ॥ ३० ॥

मृत शरीर का जीवात्मा उस शरीर से निकल कर अपनी स्वधाओं के अनुसार, धारण करने वाली कृतियों तथा स्वधनियों के अनुसार, वृत्तियां और स्वभावों के अनुकूल अमर होता हुआ भी मर्त्य शरीर को अपना सयोनि बना कर विचरण करता है अर्थात् एक शरीर छोड़कर दूसरे शरीर को धारण करता हुआ चला जाता है। पस्त्यों[1], गृहों, योनियों तथा लोकों के मध्य में ध्रुव जीव को भी जो एजत् = हिला देने वाली क्रिया है, वह यही स्वधायें हैं, भोगेच्छा, कर्म, वृत्ति और उनसे बने हुए स्वभाव हैं। यही इस प्राण धारण करने वाले, वेगशाली जीव को सुला देते हैं, परमात्मा से विमुख कर देते हैं, प्रमाद में डाल देते हैं। आत्मा की पवित्रता पर स्वधा ही आवरण डालती है, उसे मलिनता की ओर ले जाती है और नीची-ऊँची योनियों के दुःख-सुख दिखाती अनुभव कराती है।

---

[1] पस्त्य = अपस्त्यायन्ति संघीभूयतिष्ठन्ति जीवायत्र, गृहम् इति शब्दकल्पद्रुमे।

अपश्यं गोपामनिपद्यमानमा च परा च पथिभिश्चरन्तम् ।
स सध्रीचीः स विषूचीर्वसान आ वरीवर्ति भुवनेष्वन्तः ॥ ३१ ॥

इस अनिपद्यमान, ऊर्ध्व स्थान पर विराजमान, गोपा, इन्द्रियों के पालक जीव को मैंने अध एवं ऊर्ध्व, अवर एवं परले पथों मे विचरण करते हुए देखा है। यह कभी अनुकूल, कभी प्रतिकूल, कभी सम, कभी विषम दशाओं को अपनाता हुआ, ऊंची-नीची योनियों में बसता हुआ भुवनों के अन्दर बार-बार आया-जाया करता है। सध्रीची धारण करने वाली अवस्था है तो विषूची निम्न प्रवाही विचलन, विरेचन एवं निष्कासन की अवस्था है।

य ईं चकार न सो अस्य वेद य ईं ददर्श हिरुगिन्नु तस्मात् ।
स मातुर्योना परिवीतो अन्तः बहुप्रजा निर्ऋतिमाविवेश ॥ ३२ ॥

जननी के गर्भ में झिल्ली और अज्ञान से ढका हुआ जीवात्मा अनेक जन्म धारण करता है। यह बहुप्रजा = अनेक जन्मों तथा संततियों वाला बनता है और घोर से घोर दुर्गति में पड़ता है। इस दुर्दशा में यह जो कुछ करता है, उसे स्वयं भी नहीं जानता और जो कुछ देखता है वह भी इससे छिपा हुआ ही रहता है। उदात्त आत्मा का यह कैसा अधःपतन है।

अधोगति में पड़ा हुआ, क्लेशाक्रान्त जीव व्याकुल होता हुआ इसीलिये प्रभु से प्रार्थना करता है :—

न वि जानामि यदि वेदमस्मि निण्यः संनद्धो मनसा चरामि ।
यदा मागन् प्रथमजा ऋतस्यादिद् वाचो अश्नुवे भागमस्याः ॥३७॥

मैं नहीं जानता, मैं क्या हूँ। क्या मैं यह शरीर हूँ? शरीर के साथ सयोनि, समानधाम बनकर मुझे शरीर के अतिरिक्त अपना अस्तित्व सूझ नहीं पड़ता। मैं अपने इन विचारों से बिल्कुल दब गया हूँ, अच्छी तरह बंध गया हूँ। अब तो प्रभु ही कृपा करें, ऋत की प्रथमजा को प्राप्त करावें। तभी इस वाणी का भाग भोग्य बन सकेगा—समक्ष में आ सकेगा।

जीव जलचर तथा वानस्पत्य योनियों में भी जाता है, इसका समर्थन निम्नांकित मंत्रों से होता है :—

अप्स्वग्ने सधिष्टव सौषधीरनुरुध्यसे । गर्भेसन् जायसे पुनः ॥
(यजु १२-३६)

मंत्र के दो अर्थ हैं :—एक अग्नि परक है जो विज्ञान के अन्तर्गत आता है और दूसरा आत्मपरक है जो पुनर्जन्म से सम्बन्ध रखता है। विज्ञान के अनुसार अग्नि जहां बाहर है, वहां जलों तथा ओषधियों के अन्दर भी है। जल से विद्युत रूप अग्नि आजकल बाहुल्य से पैदा की जाती है और उससे घरों में रोशनी ही नहीं होती, रोटी आदि भी पकाई जाती है, पंखा चलाया जाता है, बड़ी-बड़ी फैक्टरियां बिजली से चलती हैं, रेलें चलती हैं, आदि, आदि। ओषधियाँ आग्नेय हैं, यह रसायन में ही नहीं, अन्नादि में भी सत्य है। काष्ठ और विशेषतः शमी तथा पीपल की लकड़ी में अग्नि छिपी रहती है। वह इनके गर्भ में रहती हुई प्रकट भी हो जाती है। बांसों की पारस्परिक रगड़ से भी वन की दावाग्नि भड़क उठती है।

पुनर्जन्म के सम्बन्ध में आत्मा जलचरों की योनियों में भी जाती हुई मानी गई है। वृक्षों, वनस्पतियों तथा ओषधियों में जीवात्माओं की स्थिति अन्तःसंज्ञ है। ऐसा मनु द्वारा स्वीकृत है। इनके गर्भ में रहकर जीव पुनः मानव योनि में आता है। भोगयोनियों के उपरान्त उसे मानव योनि की कर्मभूमि प्राप्त होती है।

प्रसद्यभस्मना योनिमपश्च पृथिवीमग्ने।
संसृज्यमातृभिष्ट्वं ज्योतिष्मान् पुनरासदः। (यजु० १२-३८)

इस मंत्र के भी पूर्व जैसे दो अर्थ हैं : एक अग्निपरक, दूसरा आत्मपरक। अग्नि भस्म होकर जलों तथा पृथ्वीरूपी योनि को प्राप्त होकर पुनः माताओं के साथ मिलती है और ज्योतिष्मान् अर्थात् प्रज्वलित रूप में उपस्थित हो जाती है। अग्नि की मातायें अर्थात् अग्नि को मान देने वाली सूर्य की किरणें हैं, जल है, काष्ठ है, जैसा पहले लिख चुके हैं। आत्मा जब शरीर को छोड़ता

है, तब शरीर तो भस्म हो जाता है, परन्तु आत्मा प्राणादि को लिये हुए जलीय अथवा पार्थिव योनि को प्राप्त होकर पुनः माताओं का संसर्ग कर उनके गर्भ में आता है। आत्मा स्वयं ज्योतिष्मान है। उसका यह ज्योति रूप बुद्धिमान मानव के रूप में पुनः प्रकट होता है।

विभिन्न योनियों में जाने के कारणों पर प्रकाश डालते हुए मनु कहते हैं :—

शरीरजैः कर्म दोषैर्याति स्थावरतां नरः।
वाचिकैः पक्षिमृगतां मानसैरन्त्य जातिताम्॥ (१२-९)

कर्म के जो दोष शारीरिक हैं, जैसे हत्या, चोरी, व्यभिचार, उनके कारण मनुष्य वृक्षादि स्थावर योनि को प्राप्त करता है, वाणी से किये पापों के द्वारा पक्षी और मृगादि का शरीर धारण करता है तथा मन से किये पापों द्वारा चाण्डाल आदि का शरीर मिलता है। यह अंगजन्य पाप का परिणाम है।

देवत्वं सात्विका यान्ति मनुष्यत्वञ्चराजसाः।
तिर्यक्त्वं तामसा नित्यमित्येषा त्रिविधागतिः। (१२ ४०)

गुणों की दृष्टि से विचार करें तो सात्विक गुणसम्पन्न व्यक्ति देवयोनि को प्राप्त करते हैं, रजोगुणी मानव योनि में आते हैं तथा तमोगुणी तिर्यक् योनि में जाते हैं। तामसी तथा राजसी गति जघन्य, मध्यम तथा उत्तम तीन-तीन भागों में विभाजित है, परन्तु सात्विकी गति के प्रथमा, द्वितीया तथा उत्तमा तीन भेद हैं। इन भेदों के अनुसार योनियां भी भिन्न भिन्न हो जाती हैं जिनका विस्तृत विवरण मनुस्मृति के १२ वें अध्याय में दिया गया है। मनु लिखते हैं :—इन्द्रियाणां प्रसंगेन धर्मस्यासेवनेन च। पापान् संयन्ति संसारान् अविद्वांसो नराधमाः। १२ ५२। इन्द्रियों के वशीभूत, धर्म-सेवन से रहित, अज्ञानी अधम नर पापमयी योनियों को पाते हैं। किन्तु जो धर्म-परायण हैं, इन्द्रियों को संयम में रखने वाले हैं, वे ज्ञाननिधि, प्रभुप्रेमी नर उर्ध्व लोकों में जाते हैं। सांख्य १-१ सूत्र के अनुसार मनुष्य का परम पुरुषार्थ त्रिविध दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति करने में निहित है।

ऊर्ध्व लोकों की गतियां भी अनेक हैं, परन्तु उनमें दो प्रमुख हैं : पितृयान तथा देवयान। पितृयान पथ के पथिक परोपकारी, आदर्श चरित्र, भद्र पुरुष होते हैं। देवयान पथ पर वैज्ञानिक एवं दार्शनिक चलते हैं। इन दोनों में सत्कर्म और ज्ञान-प्रकाश का अन्तर है। पितरों की दिशा दक्षिण तथा देवों की दिशा उत्तर है। इस आधार पर इन्हें दक्षिणायन तथा उत्तरायण मार्ग भी कहा जाता है। एक को चान्द्रमस तथा दूसरे को सौर्यायण ज्योति भी कहते हैं। गीता ने इन्हें कृष्ण तथा शुक्ल गति का नाम दिया है। ये दोनों ही गतियां ब्रह्मलोक से ऊपर नहीं जातीं, ऐसा गीता का मत है।

गीता के आठवें अध्याय में जो देवयान तथा पितृयान का वर्णन है, उसका स्रोत छान्दोग्य उपनिषद् में और छान्दोग्य का स्रोत वेद में है। वेद कहता है :—

द्वे सृती अशृणवं पितृणा महं देवानामुत मर्त्यानाम्।
ताभ्यामिदं विश्वमेजत् समेति यदन्तरा पितरं मातरं च ॥

(ऋ० १०-८८-१५ यजु० १९-४७)

मार्य मनुष्य अपने शुभ कर्मों के अनुसार पुण्य का फल भोगने के लिये दो मार्गों से जाते हैं—एक पितृयान से और द्वितीय देवयान से। पिता द्यौ और माता पृथ्वी के बीच में यह सब जो गतिशील है, इन्हीं दोनों मार्गों में समा जाता है। इसके पूर्व मंत्र १२ में वैश्वानर अग्नि का वर्णन है जो अह्नाम् = दिवसों अर्थात् प्रकाश का केतु या प्रतीक है। यही अग्नि प्रकाशमयी ऊषाओं का विस्तार करता है जिनकी अर्चि या ज्वाला से व्यापक अन्धकार दूर होता है। यह वैश्वानर अग्नि सूर्य की संवत्सराग्नि है जिसका वर्णन छान्दोग्य उपनिषद् में भी है।

छान्दोग्य उपनिषद् ने शिष्ट मानवों के दो भाग किये हैं। एक ग्राम में वास करके लोकोपकार के कार्यों में संलग्न रहते हैं, दूसरे अरण्य में रहते हुए श्रद्धा-सहित तप का जीवन व्यतीत करते हैं। इन्हें वैखानस भी कहा जाता है। एक लोक-संग्रही हैं, लोक-मंगल-विधायक हैं, दूसरे तपस्वी या आत्म-

साधक हैं। एक चन्द्र या पितृलोक को तो दूसरे ब्रह्मलोक को जाते हैं। एक का पन्थ पितृयाण है तो दूसरे का देवयान है।

तत् ये इत्थं विदुः ये च इमे अरण्ये श्रद्धातप इति उपासते ते अर्चिषम् अभि संभवन्ति। अर्चिषो अहः। अह्नः आपूर्यमाण पक्षम्। आपूर्यमाणपक्षात् यान् षडुदङ्ङेति मासान्स्तान् ॥ १॥ मासेभ्यः संवत्सरं। संवत्सरात् आदित्यम्। आदित्यात् चन्द्रमसं। चन्द्रमसो विद्युतं। तत् पुरुषो मानवः स एनान् ब्रह्म गमयति। एष देवयानः पन्था इति। (५-१०-१,२)।

जो अरण्य में श्रद्धा और तप का अनुष्ठान करते हैं, वे अर्चि के सम्मुख हो जाते हैं। अर्चि से दिन, दिन से शुक्लपक्ष, शुक्लपक्ष से छः उत्तरायण मासों को, मासों से संवत्सर को, संवत्सर से आदित्य को, आदित्य से ऊर्ध्वस्थानीय महः नाम के चन्द्रमा को, चन्द्रमा से तपः नाम की विद्युत को प्राप्त करते हैं। तब वह विद्युत मानव पुरुष इन्हें ब्रह्मलोक में ले जाता है। यह देवयान पन्थ है। विद्युत पुरुष का वर्णन—विद्युतः पुरुषादधि यजु० ३२-२ में भी है।

अथ ये इमे ग्रामे इष्टापूर्ते दत्तम् इति उपासते ते धूममभिसंभवन्ति। धूमात्रात्रिं। रात्रेः अपरपक्षम्। अपरपक्षात् यान् षड्दक्षिणैति मासान्स्तान्। न एते संवत्सरं अभि प्राप्नुवन्ति ॥ ३॥ मासेभ्यः पितृलोकं। पितृलोकात् आकाशम्। आकाशात् चन्द्रमसं।

एष सोमोराजा। तद्देवानामन्नं। तं देवा भक्षयन्ति।

(५-१०-३,४)

तस्मिन् यावत्संपातम् उषित्वा अथ एतमेव अध्वानं पुनः निवर्तन्ते

(५-१०-५)

जो ग्राम में इष्टापूर्त[1] तथा दान का अनुष्ठान करते हैं, वे धूम को सामने पाते हैं। धूम से रात्रि, रात्रि से कृष्णपक्ष, कृष्णपक्ष से छः दक्षिणायन मासों

[1] दर्श पौर्णमास आदि यज्ञ तथा वृक्षारोपण, फलाराम = फलों के बाग लगाकर सबके उपयोग के लिये छोड़ देना, कूप-बावली आदि का निर्माण।

को प्राप्त करते हैं। मासों से ये संवत्सर को प्राप्त नहीं करते, किन्तु पितृलोक को जाते हैं। पितृलोक से आकाश और आकाश से चन्द्रमा को जाते हैं। यह सोम राजा है। यह देवों का अन्न है। देव उसे खाते हैं। वेद ने भी कहा है : सोमेन आदित्याः बलिनः। सोम से ही आदित्यों को बल प्राप्त होता है। जब तक उनके संपात का समय नहीं आता, तब तक ये इस चन्द्रमा में वास करके पुनः उसी मार्ग से पृथ्वी पर लौट आते हैं।

तत् ये इह रमणीयचरणाः अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिम् आपद्येरन्। ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिय योनिं वा वैश्ययोनिं वा। अथ ये इह कपूयचरणाः अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिम् आपद्येरन् श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चाण्डाल योनिं वा॥ (५-१०-७)

इनमें जो रमणीय आचरण के अभ्यासी होते हैं, वे रमणीय योनि को प्राप्त करते हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य की योनि को। जिनके चरित्र कुत्सित होते हैं, वे कुत्सित योनि को प्राप्त करते हैं। श्वान या सूकर या चाण्डाल योनि को।

अथ एतयोः पथोः न कतरेण चन। तानि इमानि क्षुद्राणि असकृत् आवर्तीनि भूतानि भवन्ति। जायस्व म्रियस्व इति एतत् तृतीयं स्थानं। तेन असौ लोको न संपूर्यते। तस्मात् जुगुप्सेत। (५-१०-८)

तदेष श्लोकः। स्तेनोहिरण्यस्य सुरां पिबंश्च गुरोस्तल्पमावसन्। ब्रह्महा चैते पतन्ति चत्वारः पञ्चमश्चाचरन् स्तैरिति॥ ९

जो पितृयान तथा देवयान दोनों पथों में से किसी के भी योग्य नहीं होते, वे वे क्षुद्र भूत हैं जो बार-बार आवर्तन अर्थात् जन्ममरण के चक्र में पड़ते हैं। पैदा हुए और मरे—ऐसा इनका तीसरा स्थान है। ऐसे प्राणियों से उस लोक की संपूर्ति नहीं होती। सब इनसे घृणा करते हैं। इस पर यह श्लोक है :—स्वर्ण की चोरी करने वाले, शराब पीने वाले, गुरु की शैया पर सोने वाले (गुरु पत्नी से व्यभिचार करने वाले) और ब्रह्म-हत्यारे ये चार तो पतित होते ही हैं, पांचवें वे भी पतित होते हैं जो इनका साथ देते हैं।

श्रीमद्भागवत, तृतीय स्कन्ध, दशवें अध्याय के श्लोक ८ तथा ९ में सकाम तथा निष्काम कर्म करने वालों की गतियों का वर्णन है। सकाम कर्म करने वालों को भूः, भुवः तथा स्वः तीन लोक प्राप्त होते हैं। ये तीन लोक ब्रह्मा के एक दिन अर्थात् १४ मन्वन्तरों की अवधि तक स्थित रहते हैं। इस अवधि को एक कल्प का समय भी कहा जाता है। एक कल्प के पश्चात् इन तीन लोकों की प्रलय हो जाती है। जो निष्काम कर्म करने वाले हैं, उन्हें महः, जनः, तपः तथा सत्य लोकरूप ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है। ब्रह्मलोक के इन विभागों की स्थिति दो परार्ध अर्थात् ब्रह्मा की पूर्णायु पर्यन्त मानी गई है। निष्काम कर्मयोगी मोक्ष के इस अमृत भोग को भोगने के पश्चात् नवीन ब्रह्मसर्ग में पुनः उत्पन्न होते हैं, ऐसा कथन भागवत ३-३२ के श्लोक १३, १४, १५ में आता है।

पुनर्जन्म का सिद्धान्त आर्य जाति में वैदिक काल से ही चला आता है। बौद्ध तथा जैन वेदों को मान्यता नहीं देते, पर पुनर्जन्म का सिद्धान्त उनको भी स्वीकार है। चार्वाक मत वाले अवश्य भौतिकवादी हैं। इस जन्म और इस लोक के अतिरिक्त वे न पुनर्जन्म मानते हैं, न किसी परलोक की सत्ता स्वीकार करते हैं। ईसाई तथा मुसलमान भी पुनर्जन्म में विश्वास नहीं रखते। जर्मनी का प्रसिद्ध दार्शनिक एमैन्युल काण्ट ईसाई होते हुए भी आचारशास्त्र के आधार पर पुनर्जन्म को अप्रत्यक्ष रूप से मान्यता अवश्य दे गया। अब तो यूरोपीय देशों में कर्मवाद, पुनर्जन्मवाद आदि के अध्ययन में विशेष रुचि उत्पन्न हो रही है। कर्मसिद्धान्त का समाधान जैसा पुनर्जन्म करता है, वैसा अन्य किसी वाद द्वारा हो भी नहीं सकता। ऋषियों ने तो इसका साक्षात् दर्शन कर लिया था। इसीलिये इतनी गहनता, पर स्पष्टता के साथ वे इसका प्रतिपादन कर सके।

मोक्ष

मोक्ष का अर्थ है छूटना। किससे छूटना? बन्धन से। बन्धन क्या है? आत्मा का प्रकृति के उत्तम, मध्यम तथा अधम पाशों में बद्ध होना। ये तीनों पाश क्रमशः सत्व, रज तथा तमोगुण के हैं। जब आत्मा इन पाशों को चीरकर प्रकृति के संपर्क से पृथक हो जाता है, तभी मुक्त कहलाता है। प्रकृति के संपर्क को छोड़कर प्रभु के संपर्क में पहुँचना और उसे अनुभव करना ही मोक्ष है।

प्राकृतिक संपर्क के, गुणों के आधार पर, तीन स्तर हैं। तमोगुण का आधिक्य प्राणी को प्रमाद के अधीन कर देता है, उसे निष्क्रिय, मूढ़, दंभी तथा क्रोधी बना देता है। रजोगुण बाचाल तथा उद्योगी बनाता है। सत्व के संपर्क से शान्ति तथा प्रसन्नता का उदय होता है। सत्व के आधान से दैवी सम्पत् प्राप्त होती है। रजोगुण तथा तमोगुण आसुरी सम्पदा को प्राप्त कराने वाले हैं। आसुर सम्पत् बंधन का कारण है, दैवी सम्पत् मोक्ष का। सत्व को इसीलिये संधिनी शक्ति कहा गया है क्योंकि यह मोक्ष के साथ सन्धि कराने वाला है। मानवयोनि से ऊपर जो देवयोनि है उसमें सत्वगुण का ही प्राधान्य रहता है।

मोक्ष एक सापेक्ष शब्द है। एक स्थिति से छूटकर जब हम दूसरी स्थिति में पहुँचते हैं, तो पहली स्थिति से तो मोक्ष हो गई, परन्तु यह अन्तिम स्थिति तो नहीं है। अतः के निखिल तन्तुजाल को चीरकर जबतक पार न हो जांय, तबतक वास्तविक मुक्ति नहीं। आत्मा अपने शुद्ध, बुद्ध, नित्य स्वरूप में जब तक प्रतिष्ठित न हो जाये, प्रकृति का परदा दूर न हो जावे, तब तक सापेक्षता बनी रहती है। मोक्ष की निरपेक्ष स्थिति तो 'तद्पश्यद् तद्भवत् तदासीत्' में है—स्वरूप-अवस्थान में है।

मोक्ष के तारतम्य का अनुभव सुषुप्ति, समाधि, बृहत अमृत तथा ब्रह्मरूपता

में किया जा सकता है। जो मनुष्य स्वस्थ तथा परिश्रमी है, उसे गहरी नींद आती है। स्वप्नों से भरी हुआ निद्रा व्यग्रता उत्पन्न करती है। प्रगाढ़ निद्रा में ही सुषुप्ति शब्द सार्थक होता है। सुषुप्ति का अर्थ अच्छी सुखमयी निद्रा है। ऐसी निद्रा में इन्द्रियां तो सो ही जाती हैं, वह मन भी सो जाता है जो स्वप्नों में अपनी महिमा अनुभव करता, अनेक नाटक खेलता और देखता रहा है। सुषुप्ति में हम चेतोमुख तथा आनन्दभुक रहते हैं—चैतन्य के द्वारा आनन्द का भोग करते हैं। यह अवस्था स्वस्थ, परिश्रमी एवं निश्चिन्त व्यक्ति के लिये सहज होती है। समाधि की अवस्था प्रयत्नप्रसूत है। योगी विविध प्रकार के अभ्यासों द्वारा जब इन्द्रियों को प्रत्याहार द्वारा तथा मन को ध्यान द्वारा निर्विषय कर देता है, तब उसकी चेतना एक देश में एकाग्र हो जाती है। आज्ञा चक्र की ज्योति में यदि स्थिति हो गई, तो व्युत्थान की अनुपस्थिति में आनन्द का अनुभव होने लगता है और एकाग्रता की दीर्घ अवधि में सहस्रार चक्र के नान्दन स्वर्ग में प्रवेश भी हो जाता है। सुषुप्ति बहुतों को सुलभ है, पर यह समाधिजन्य आनन्द बहुत कम, विरल योगियों के ही भाग्य की वस्तु है। बृहद् अमृत की अवस्था निर्धूतकल्मष, ज्योतिसम्पन्न देवों को प्राप्त होती है। छान्दोग्य उपनिषद के आधार पर पुरुषसूक्त की व्याख्या में हम इसका वर्णन कर चुके हैं। बृहत अमृत का अर्थ है मोक्ष की अवधि तक ब्रह्मलोक में अमृत का आस्वादन करना, स्वतन्त्र होकर लोक लोकान्तरों में भ्रमण करना, सत्यसंकल्पादि स्वाभाविक गुण-सामर्थ्य से अव्याहत आनन्द का उपभोग करना। सप्त व्याहृतियों में जिस अन्तिम सत्यधाम का नाम है, वही स्वयम्भू अर्थात् ब्रह्मलोक है। ब्रह्मलोक से नीचे परमेष्ठी तथा परमेष्ठी से नीचे सूर्य लोक है। सूर्य से ब्रह्मलोक पर्यन्त स्वर्ग है। स्वर्ग के ही सुख विशेष को बृहत अमृत कहते हैं। छान्दोग्य उपनिषद् कहती है :—

स वा एष एतेन दैवेन चक्षुषा मनसा एतान् कामान् पश्यन् रमते। ये एते ब्रह्मलोके तं वा एतं देवा आत्मानमुपासते तस्मात् तेषां सर्वे च लोकाः आत्ताः सर्वे च कामाः। स सर्वान् च लोकान्

आप्नोति । सर्वान् च कामान् । यः तमात्मानमनुविद्य विजानातीति । (८-१२-५-६)

मुक्तात्मा ब्रह्मलोक में परमात्मा के उप = समीप, आसते = विराजमान होते हैं। इसी हेतु उन्हें समस्त लोक तथा काम प्राप्त रहते हैं। मुक्तात्माओं के चक्षु, मन आदि भौतिक नहीं, दैवी होते हैं जिनके द्वारा वे इन कामों को देखते हुए रमण करते हैं।

भौतिक शरीरधारी जीवों को सुख-दुख ग्रसित करते रहते हैं। वे सदैव मृत्यु के मुख के बीच में रहते हैं। दैवी वर्ष्म में निवास करने वाले देव मृत्यु की चपेट में नहीं आते। वे ज्योति के रथ पर चढ़कर, अहीन प्रज्ञा से सम्पन्न होकर, अनागस बने हुए स्वतन्त्र विचरण करते हैं।

मोक्ष की अवधि परान्तकाल की है। महर्षि दयानन्द के शब्दों में (सत्यार्थ-प्रकाश, नवमसमुल्लास) तेंतालीस लाख बीस सहस्र वर्षों की एक चतुर्युगी, दो सहस्र चतुर्युगियों का एक अहोरात्र, ऐसे तीस अहोरात्रों का एक महीना, ऐसे बारह महीनों का एक वर्ष और ऐसे शत वर्षों का एक परान्तकाल होता है। इतना समय मुक्ति में आनन्द के उपभोग का है। श्रीमद्भागवत तृतीय स्कन्ध अध्याय ११, श्लोक १८-२२ में काल का वर्णन करते हुए लिखा है कि ब्रह्मा के एक दिन के पश्चात् जो रात्रि या प्रलय आती है उसमें केवल तीन लोक (भूः, भुवः तथा स्वः) नष्ट होते हैं। ऊपर के महः जनः, तपः, सत्य चार लोक (जो ब्रह्मलोक हैं तथा जिनमें देव मुक्ति के आनन्द को भोगते हैं) नष्ट नहीं होते। वे ब्रह्मा की आयु पर्यन्त (परान्त काल तक) बने रहते हैं। तीन लोकों की प्रलयाग्नि को न सह कर देवमहः लोक से जनः लोक को चले जाते हैं। मुण्डक उपनिषद् कहती है :—*ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृतात् परिमुच्यन्ति सर्वे*। ३-२-६ वे सब ब्रह्मलोक में परान्तकाल की समाप्ति पर पराकोटि के अमृत का उपभोग करके छूटते हैं। ये मुक्त जीव कभी कभी सृष्टि के प्रारम्भ में ही अमैथुनी रचना में उत्पन्न होते हैं और यज्ञ द्वारा ही यज्ञ करके अपने से पूर्व विद्यमान नाकलोकवासी देव एवं साध्यों में जा मिलते हैं।

ब्रह्म रूपता क्या है ? गीता कहती है :—

'आ ब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन। मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते'। (८-१६)

ब्रह्मलोक पर्यन्त जितने लोक हैं, वे सब पुनरावर्ती हैं, बार-बार उत्पन्न होते तथा नष्ट होते रहते हैं। पर जो मुझे प्राप्त कर लेते हैं, उनका पुनर्जन्म नहीं होता। त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापाः यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते। ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक मश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान्॥ ९-२० ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति। ९-२१ जो त्रैविद्य अर्थात् ज्ञान, कर्म एवं उपासना में लीन हैं, सोमपा तथा धूतपाप हैं, वे यज्ञों के द्वारा स्वर्ग की कामना करते हैं और पुण्य इन्द्रलोक को प्राप्त करके द्यौ में दिव्य देवभोगों का उपभोग करते हैं। तदनन्तर ये विशाल स्वर्ग लोक के सुखों को भोगकर तथा पुण्य के क्षीण होने पर मर्त्यलोक में प्रवेश करते हैं।

यहां स्वर्ग से मर्त्य लोक में लौटना वैसा ही है जैसा छान्दोग्यकार ने पितृयानियों के विषय में लिखा है। देवयानी ब्रह्म को प्राप्त करते हैं। पर वेद ने देवों को ही बृहत अमृत का आस्वादन करने वाला कहा है। बृहद्देवासो अमृतत्वमानशुः'—यह बृहत् अमृतत्व बृहत तो है, पर नित्य नहीं। पुरुष-सूक्त ने भी 'त्रिपादस्यामृतं दिवि' तथा 'उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनाति रोहति' कहकर नित्य अमृत तथा बृहत् अमृत में भेद किया है। प्रभु जैसे मर्त्य का ईशान है, वैसे ही बृहतभोग वाले अमृत का भी[1]। जीव की परागति ब्रह्म लोक तक ही है। उसके आगे तो गति है ही नहीं। गीता परम गति तथा संसिद्धि के सम्बन्ध में कहती है :—

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्मव्याहरन् मामनुस्मरन्। यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमांगतिम्॥ (८-१३)

---

[1] ऐतरेय उपनिषद इसे स्वर्ग और अमृत नाम देती है :— स य एवं विद्वान् अस्मात् शरीरभेदात् ऊर्ध्व उत्क्रम्य अमुष्मिन् स्वर्गलोके सर्वान् कामान् आप्त्वा अमृतः समभवत् समभवत्। २-६

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् । नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धि परमां गताः ॥ (८-१५)

ओउम् इस अक्षर ब्रह्म का उच्चारण करते हुए और मेरा स्मरण करते हुए जो शरीर छोड़ता है, वह परमगति को प्राप्त करता है । महान आत्मा परम संसिद्धि को प्राप्त होकर और मुझे प्राप्त करके अनित्य, दुःखों के आगार पुनर्जन्म को प्राप्त नहीं होते ।

कठोपनिषद् के अनुसार—

यदा पंचावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह । बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमांगतिम् ॥ (६-७)

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामायेऽस्यहृदि श्रिताः । अथ मर्त्यो अमृतो भवति अत्र ब्रह्म समश्नुते ॥ (१४)

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः । अथ मर्त्यो अमृतो भवति एतावद्नुशासनम् ॥ (१५)

जब पांचों ज्ञानेन्द्रियां मन के साथ स्थिर हो जाती हैं और बुद्धि भी विविध एवं विपरीत चेष्टायें नहीं करती, तब उसे परम गति कहते हैं । हृदय में आश्रित सब कामनायें जब छूट जाती हैं और हृदय की ग्रन्थियां छिन्नभिन्न हो जाती हैं, तभी मर्त्य अमृत बनता है, और ब्रह्म को प्राप्त करता है । ब्रह्म का अर्थ है—महान, बड़ा, व्यापक । ऋग्वेद १-२२-२० में इसी को व्यापक विष्णु का परम पद कहा गया है ।

इन शब्दों में ब्रह्मरूपता की महत्ता तो विद्यमान है, पर वह नित्य है, यह तो सिद्ध नहीं होता । ब्रह्मरूपता के पूर्व यदि अब्रह्मता है, अल्पता है, तो उसके पश्चात् भी वह होनी चाहिये । कम से कम वह पहले तो नहीं थी, फिर नित्यता कैसी ? नित्य वह है जो त्रिकाल में अबाधित रूप से रहे । जब ब्रह्मरूपता से पूर्व पुनर्जन्म की श्रृङ्खला है, तो ब्रह्मरूपता की प्राप्ति नित्य कहां रही ? फिर ब्रह्मरूपता निष्कलुष बनने के प्रयत्न के पश्चात् प्राप्त हुई है—

अतः उसका आरम्भ है। और प्रभु की कृपा से ही प्राप्त हुई हो, तब भी जिसका आरम्भ है, उसका अन्त भी होना चाहिए। इस प्रकार ब्रह्मरूपता चाहे जितनी ब्रह्म हो, महान हो, एक दिन उसका भी अन्त होगा। छान्दोग्य ने देवयानी को भी ब्रह्म प्राप्ति कराई है, पर पितृयानी की गति से उसको श्रेष्ठतर माना है, नित्य नहीं। छान्दोग्य ने स्वर्ग के भी विभाग किये हैं। पितर चान्द्रमस ज्योति तक हो जाते हैं, पर देव ब्रह्मलोक तक जाते हैं। देवों में भी वसुओं को प्रथम, रुद्रों को द्वितीय, आदित्यों को तृतीय, मरुतों को चतुर्थ तथा साध्यों को पंचम कोटि का अमृत भोगने को मिलता है। (छान्दोग्य ३-६,७,८,९) ये कोटियां एक से एक ऊपर हैं। देव अपने-अपने उपभोग में प्रवेश करके फिर उस रूप से भी ऊपर जाते हैं। इन कोटियों में आदित्य के उदय तथा अस्त की दिशाओं का भी वर्णन है। साध्यों की स्थिति से ऊपर आकर उदय-अस्त नहीं, मध्याह्न की अवस्था रहती है। 'सकृद्दिवा हैव अस्मै भवति'—सदैव दिन ही दिन रहता है। वेद ने इस स्थिति का वर्णन करते हुए कहा है:—'*परयेमनुसूर्यमुच्चरन्तम्*' हम सदैव ऊपर विराजमान सूर्य के दर्शन करते रहें।

अतः ब्रह्मरूपता भी जो उपलब्ध हुई है, अनन्त नहीं है। तारतम्य की दृष्टि से उसका स्थान सर्वश्रेष्ठ अवश्य है। अनावृत्ति का कथन भी अर्थवाद रूप है। जो दुःख क्षण-क्षण में जीव को व्याकुल करता है, उससे मुक्ति पा जाना ही एक महती उपलब्धि है, फिर उस उपलब्धि का एक नहीं, दो नहीं, ३६ सहस्रवार सृष्टि-प्रलय के चक्र-काल-पर्यन्त अविनाशाव स्थिर रहे, तब तो निस्सन्देह वह महती महीयान ही है।

मोक्ष का वर्णन करते हुए वेद कहता है:—

परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशोदिशश्च।
उपास्थाय प्रथमजा मृतस्यात्मनाऽऽत्मानमभि संविवेश॥

(यजु० ३२-११)

जीवात्मा विविध योनियों, लोकों तथा सब दिशाओं एवं प्रदिशाओं में घूम कर जब थक जाता है, तब ऋत की प्रथमजा, प्रज्ञा का आश्रय लेकर आत्मा के द्वारा आत्मा में प्रविष्ट हो जाता है।

परिद्यावा पृथिवी सद्य इत्वा परिलोकान् परि दिशः परि स्वः।
ऋतस्य तन्तुं विततं विचृत्य तदपश्यत् तदभवत् तदासीत्॥
(यजु० ३२-१२)

सिद्ध जीव साधना-सम्पन्न होकर मुक्तावस्था में द्यावा से पृथ्वी तक सद्य, शीघ्र ही, क्षण भर में घूम आता है, स्वर्गलोक के दर्शन कर आता है, चतुर्दिक भ्रमण करता हुआ लोकों तथा दिशाओं को सब ओर से देखता है। ऋत के फैले हुए तन्तु को चीरकर वह आनन्द को अनुभव करता है, आनन्दरूप हो जाता है। आनन्द रूप ही वह था।

वाणी का धारण करने वाला जो विद्वान् इस अमृत अवस्था का वर्णन करता है, वह पिता का भी पिता है, रक्षकों का भी रक्षक है। यजु० ३२-९ अथर्व वेद द्वितीय काण्ड प्रथम सूक्त के मंत्र संख्या ४ तथा ५ में भी यजुर्वेद के ऊपर उद्धृत मंत्रों के समान ही वर्णन पाया जाता है।

देवयान का मार्ग ही स्वर्ग की ओर ले जाता है, इसका संकेत नीचे लिखे मंत्रों में है :—

ईजानश्चितमारुक्षदग्निं नाकस्य पृष्ठात् दिवमुत्पतिष्यन्।
तस्मै प्रभाति नभसो ज्योतिषीमान् स्वर्गः पन्थाः सुकृते देवयानः॥
(अथर्व १८-४-१४)

यज्ञ करते हुए जो याजक चैतन्याग्नि पर आरोहण कर जाते हैं, वे नाक की पीठ से द्यौ की ओर जाते हैं। उन्हीं सुकृती याजकों को नभ में स्वर्ग को ले जाने वाला ज्योतिष्मान देवयान पन्थ दिखाई देता है।

देवा यज्ञमृतवः कल्पयन्ति हविः पुरोडाशं स्रुचो यज्ञायुधानि।
तेभिर्याहि पथिभिर्देवयानैर्यैरीजाना स्वर्गं यन्ति लोकम्॥
(अथर्व १८-४-२)

ऋतु रूप देव यज्ञ तथा यज्ञ के साधन हवि, पुरोडाश, स्रुक, यज्ञायुध आदि की रचना करते हैं। तू उन्हीं देवयान मार्गों से चल, जिनके द्वारा यज्ञ-कर्ता स्वर्गलोक को जाते हैं।

> ऋतस्यपन्थामनुपश्यसाध्वंगिरसः सुकृतो येन यन्ति।
> तेभिर्याहि पथिभिः स्वर्गं यत्रादित्या मधु भक्षयन्ति तृतीये नाके अधि वि श्रयस्व॥ (अथर्व १८-४-३)

ऋत के इस पन्थ को देख, जिस पर साधु, सुकृती अंगिरस चलते हैं। इन्हीं मार्गों से तू स्वर्ग को चल, जहां आदित्य देव मधु का भक्षण करते हैं। तू तृतीय नाक के ऊपर विशेष रूप से आश्रय ग्रहण कर।

स्वर्गालोक। अमृतेन विष्ठाः (अथर्व १८-४-४)
स्वर्ग लोक अमृत से व्याप्त हैं। वे सुकृती पुण्यवान व्यक्तियों को ही प्राप्त होते हैं। जैसे सुकृत में श्रेणी-विभाग है, वैसे ही स्वर्गलोक एक नहीं, अनेक हैं और उनमें भी पुण्यफलों के अनुसार विभाग है। पितृयान तथा देवयान इसीलिये पृथक-पृथक मार्ग हैं। छान्दोग्य ने इष्टापूर्तदान आदि पुण्यकर्म करने वालों को पितृयान द्वारा चान्द्रमस ज्योति में भेजा है और तपस्वियों, आत्मसाधकों को देवयान द्वारा ब्रह्म लोक की प्राप्ति कराई है।

अथर्व वेद का १८ वां काण्ड, सूक्त ४ पितृमेध कहलाता है। उसमें विशेष रूप से पितरों का ही वर्णन है, पर स्वर्ग का वर्णन करते हुए उसमें पितृयान तथा देवयान दोनों का ही प्रतिपादन आ गया है। दोनों ही ऋत के पन्थ हैं। दुष्कृती इन मार्गों में पैर भी नहीं रख सकते। पुण्यवान सुकृती ही इन मार्गों पर चलकर ऊर्ध्वगति प्राप्त करते हैं।

इस सूक्त में पितृयाण का वर्णन प्रथम मंत्र में ही इस प्रकार है :—

> आरोहत जनित्रीं जातवेदसः पितृयाणैः सं व आरोहयामि।
> अव्याड्ढ्व्येषितो हव्यवाह ईजानं युक्ताः सुकृतां धत्त लोके॥
> (१८-४-१)

हे जातवेदस अग्नियो ! यज्ञ द्वारा तुम्हारे अन्दर वह शक्ति उत्पन्न हो गई है, कि तुम अपनी जननी की गोद में आरोहण करो, वहां पहुंचो। ये पितृयाण पथ हैं, इनके द्वारा मैं तुम्हें वहां सम्यकरूप से पहुँचाता हूँ। प्रिय तथा प्रेरित हव्यवाह हव्यों को वहां ले गया है। तुम भी वहां मिलकर इस यज्ञकर्ता को, पुण्यकर्मा यजत्र को, सुकृतियों के लोक में, स्वर्ग में पहुँचा दो, स्थापित कर दो।

अथर्ववेद ने इस सूक्त में पितरों को देवताओं के हुत में भागीदार बनाया है। गीता की भांति यहां आवृत्ति तथा अनावृत्ति का भेद नहीं दिखाई देता। यथा—

यूयमग्नेशंतमाभिस्तनूभिरीजानमभिलोकं स्वर्गम्।
अश्वा भूत्वा पृष्ठिवाहो वहाथ यत्र देवैः सधमादं मदन्ति॥
(१८-४-१०)

हे अग्ने ! तुम पृष्ठवाह अश्व बनकर इस पवित्र यज्ञकर्ता को शन्तम शरीरों के साथ स्वर्गलोक में पहुँचा दो जहां सुकात्मा देवों के साथ आनन्द का उपभोग करते हैं।

यज्ञः एति विततः कल्पमानः ईजानमभिलोकं स्वर्गम्।
तमग्नयः सर्वहुतं जुषन्तां प्राजापत्यं मेध्यं जातवेदसः॥
शृतं कृण्वन्त इह माव चिक्षिपन्॥ (१८-४-१३)

यज्ञ फैलकर समर्थ बना हुआ यज्ञकर्ता को स्वर्ग लोक में पहुँचा देता है। इस पवित्र, प्रजापति के योग्य सुकृती को जातवेदस अग्नियां प्यार करें, सेवित करें। इस पके हुए को वहां स्थापित करें, नीचे न फेंकें।

ये यजत्र लोककृतः, पथिकृतः लोक का, सत्पथ का निर्माण करनेवाले हैं। *देवानां* = देवों के, *हुतभागाः* = हुत में भाग लेने वाले ये, *इहस्थ* = यहां ठहरें।

सांगाः स्वर्गे पितरो मादयध्वम्। १८-४-६४ पितर अङ्गों सहित स्वर्ग में आनन्द करें। पितरों के आने का वर्णन नीचे लिखे मंत्रों में है :—

आयात पितरः सोम्यासो गम्भीरैः पथिभिः पितृयाणैः।
आयुरस्मभ्यं दधतः प्रजां च रायश्च पोषै रभि नः सचध्वम्॥
(१८-४-६२)

हे सोम्य पितरो! गम्भीर पितृयाण पथों से आओ, जिन मार्गों से गये थे उन्हीं मार्गों से आओ। हमें प्रजा, सम्पत्ति आयु तथा पोषण सामर्थ्य से सम्पन्न करो।

परायात पितरः सोम्यासोगम्भीरैः पथिभिः पूर्याणैः॥ (१८-४-६३)
पितृयाण शब्द के स्थान पर इस मन्त्र में पूर्याण शब्द का प्रयोग हुआ है। पूर्याण का अर्थ है पहले का मार्ग। यहाँ पितरों के परायात = फिर लौट जाने का उल्लेख है। इसी प्रकार आने और लौट जाने के वर्णन देवों के सम्बन्ध में भी मिलते हैं। पितरों के पास पूर्याण या पितृयाण हैं तो देवों के पास देवयान तथा ज्योति के रथ हैं। सम्राजो ये सुवृधो यज्ञमाययुः=जो देव द्यौ के निवासी हैं, सम्‌ अच्छी तरह से राजते=चमकते, दीप्त या शोभित होते हैं, सुवृधः= स्वयं उन्नत तथा दूसरों को सुन्दर, शोभन वृद्धि देने वाले हैं, वे हम यज्ञ में आवें। स्वस्तये वायुमुपब्रवामहे सोमं···बृहस्पतिं सर्वगणं=कल्याण के लिये हम वायु, सोम तथा सर्वगणों वाले बृहस्पति को बुलाते हैं।

पूताः पवित्रैः पवन्ते अभ्राद्दिवं च यन्ति पृथिवीं च लोकान्।
(अथर्व १२-३-२५)

आयन्ति दिवः पृथिवीं सचन्ते। (१२-३-२६)

पूत पवित्र देव अपनी पावन शक्तियों के साथ अभ्र से द्यौ लोक में पहुँचते हैं तथा पृथ्वी और अन्य लोकों में भी जाते हैं। देव द्यौ में निवास करते हैं, पर वहाँ से पृथ्वी पर भी आते हैं। देवेभ्यो न ऋते पवते धाम किञ्चन=देवों के बिना कोई भी धाम पवित्र नहीं होता। इस प्रकार वेद देवयानों तथा पितृयानों दोनों के अवतरण का उल्लेख करता है। जिन अवतारी पुरुषों का आविर्भाव पृथ्वीमंडल पर धर्म की स्थापना के लिये हुआ करता है, वे इन्हीं देवों या

पितरों में से होते हैं और अपने उपयुक्त शरीर को प्रभु की प्रेरणा से प्राप्त कर लेते हैं। इनमें तथा सामान्य मनुष्यों में इतना ही भेद होता है कि दिव्यात्माओं के जन्म तथा कर्म दिव्य होते हैं, सामान्य मनुष्यों के पार्थिव।

स्वर्गलोक की दिव्यता का वर्णन नीचे लिखे मंत्रों में है :—

यत्रज्योतिरजस्रं यस्मिन् लोके स्वर्हितम्।
तस्मिन् मां धेहि पवमान अमृते लोके अक्षिते। ७
यत्रानुकामं चरणं त्रिनाके त्रिदिवे दिवः।
लोकायत्र ज्योतिष्मन्तः तत्र माममृतं कृधि ॥ ९
यत्र कामानिकामाश्च यत्र ब्रघ्नस्य विष्टपम्।
स्वधाच यत्र तृप्तिश्च तत्र माममृतं कृधि ॥ १०
यत्रानन्दाश्चमोदाश्च मुदः प्रमुद आसते।

कामस्य यत्राप्ताः कामाः तत्र माममृतं कृधि ॥ (ऋ ९।११३)

इन्द्राय इन्दो परिस्रव-यह अन्त में प्रत्येक मंत्र की टेक है।

हे इन्दु, हे मेरे सोम! अपने इस इन्द्र पर दया करो, मेरे लिये द्रवित हो जाओ। तुम आर्जव में निवास करते हो, अपने ऊंचे ऋजुधाम से बरसो। तुम सिंचक हो, मरुभूमि को भी सींचकर हरा भरा करने वाले हो। विरह-तप्त-मेरी इस हृदय-भूमि को अपनी कृपा की वर्षा से सरस एवं शीतल कर दो। तुम ऋतवाणी, सत्यव्यवहार, श्रद्धा एवं तप से प्रकट होते हो। आज मुझ इन्द्र के लिये भी प्रकट हो जाओ[1]। हे मेरे इन्दु! मुझे उस अमृत, अक्षित लोक में ले चलो, जहां अजस्र ज्योति है, निरन्तर प्रकाश ही प्रकाश है, जहां स्वः निहित है, सब कुछ अपना ही अपना है, आनन्द ही आनन्द है, जहां इच्छानुसार स्वच्छन्द विचरण है, द्यौ के उस प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय नाक

---

[1] आपवस्वदिशाम्पतेआर्जीकात् सोम मीढ्वः।
ऋत वाकेन सत्येन श्रद्धयातपसा सुतः।
इन्द्राय इन्दो परिस्रव। ऋ० ९-११३-२।

धाम में, प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय दिव्य धाम में सब लोक ज्योतिष्मन्त हैं, जहां काम हैं, निकाम हैं, स्वधा है, तृप्ति है, जो सूर्य की केन्द्रस्थली है, जहां आनन्द है, मोद है, मुद है, प्रमुद है, काम की कामनायें जहां परिपूर्ण हैं, काम-साफल्य की जो चरम भूमि है, अन्न का, भोग का जहां अतिरोह है, जहां मधु या अमृत के उपभोग की चरम सीमा है, जहां दैवीभोगों, दिव्य ऐश्वर्यों की पराकाष्ठा है, जहां भोग इन्द्रियों से नहीं-केवल चेतना-मुख से भोगे जाते हैं, जहां दुःख का लवलेश भी नहीं है, वहीं, वहीं हे मेरे इन्दु ! वहीं, हे सुधास्रावी । वहीं मुझ इन्द्र को ले चलो । यह इन्द्र अब इन्द्र है, इन्द्रियों का स्वामी है, दास नहीं । यह स्वर्ग के योग्य है, अस्वर्ग्य नहीं । इसे अब स्वर्गलोक में पहुँचा दो, स्थापित कर दो ।



संशोधिका

कृपया नीचे लिखी सारणी के अनुसार शब्दों को शुद्ध करके पढ़ें।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
९	३	तवेतत्	तवेत्तत्
१०	१२	दुर्गाण	दुर्गाणि
२२	३	अस्वस्तित	अस्वस्ति
२६	२४	२१	११
३९	१३	प्रतिपाद्य	प्रतिपाद्य
४१	१५	अमृत्व	अमृतत्व
६५	१६	स्नेहित	स्नेहिल
७४	६	राक्षक्ष	राक्षस
७५	३	अग्नि से	अग्नि (मा, वाणी, अग्नि) से
७८	१०	विवरण	विचरण
१०२	१४	पच्छति	गच्छति
१४८	८	के	से
१६३	१९	न थी	नयी है
१९३	९	स्वस्तित	स्वस्ति
२५७	२०	चतुर्था	चतुर्थी
२६७	५	सम्मति	सत्पति
२७४	२५	अनुछूल	अनुकूल
२७५	१६	पास्त्यों	पस्त्यों
२८८	२४	उपास्थाय	उपस्थाय

